जैनागम नवनीत
आगम निबंधमाला

[भाग- ३]

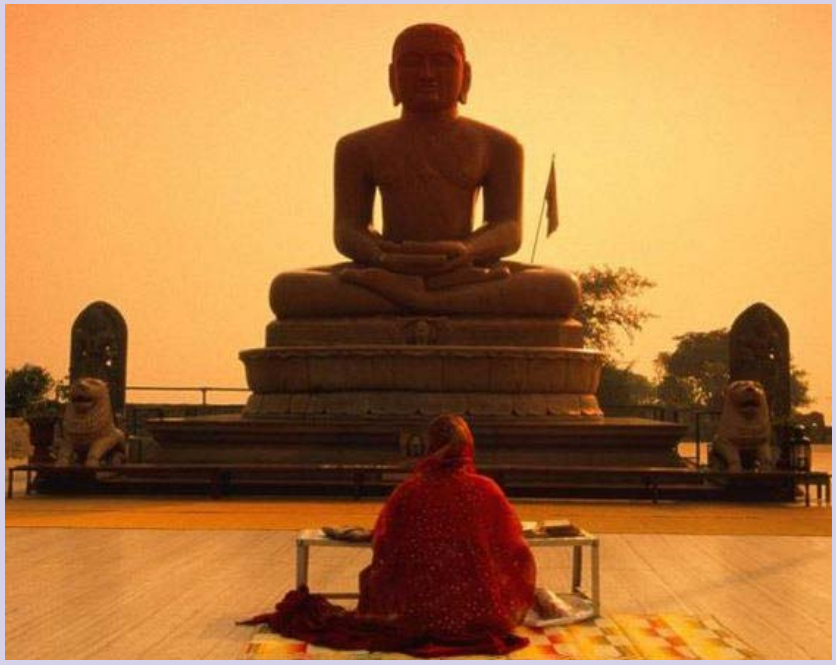

साहित्य सूचि

[इन्टरनेट पर उपलब्ध-जैन ई लाइब्रेरी तथा आगम मनीषी]

हिन्दी साहित्य :-

१ से ३२	आगम सारांश हिंदी
३३ से ४०	(१) गुणस्थान स्वरूप (२) ध्यान स्वरूप (३) संवत्सरी विचारणा (४) जैनागम विरूद्ध मूर्तिपूजा (५) चौद नियम (६) १२ व्रत (७) सामायिक सूत्र सामान्य प्रश्नोत्तर युक्त (८) सामायिक प्रतिक्रमण के विशिष्ट प्रश्नोत्तर (९) हिन्दी में श्रमण प्रतिक्रमण (१०) श्रावक सविधि प्रतिक्रमण
५१ से ६०	जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर भाग-१ से १०
६१-६२	जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर विविध दो भागों में
६३-६४	आचारांग प्रश्नोत्तर दो भागों में
६५	ज्ञानगच्छ में.....प्रकाशगुरु का शासन.....
६६	स्था. मान्य ३२ जैनागम परिचय एवं साहित्य समीक्षा
६७(१०१)	जैनागम नवनीत निबंधमाला भाग-१
६८(१०२)	जैनागम नवनीत निबंधमाला भाग-२
६९(१०३)	जैनागम नवनीत निबंधमाला भाग-३

गुजराती साहित्य :-

१ से ९	जैनागम सुत्तागमे गुजराती लिपि में- ९ भागों में
१०	जैन श्रमणों की गोचरी, श्रावक के घर का विवेक
११	जैनागम ज्योतिष गणित एवं विज्ञान
१२ से १९	जैनागम नवनीत-मीठी मीठी लागे छे महावीरनी देशना(८)
२०-२९	जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर भाग-१ से १०
३०-३१	(१) १४ नियम, (२) १२ व्रत
३२	जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर विविध भाग-१
३३-३४	आचारांग प्रश्नोत्तर दो भागों में
३५(१०४)	स्था. मान्य ३२ आगम परिचय एवं साहित्य समीक्षा (प्रेस में)

(योग-६९ + ३५ = १०४)

जय महावीर

जय गुरु समरथ

जय गुरु चम्पक

जैनागम नवनीत

आगम निबंध माला

[भाग-३]

आगम मनीषी

श्री त्रिलोकचन्द जी जैन

राजकोट

प्रकाशक : श्री जैनागम नवनीत प्रकाशन समिति, राजकोट

[पुष्पांक-१०३]

सम्पादक : आगम मनीषी श्री त्रिलोकचन्दजी जैन

प्रकाशन समय : ०९।९।२०१४

प्रथम आवृत्ति : प्रत : १०००

मूल्य : 50-00 पाँच पुस्तकों का सेट : 250-00

ऐच्छिक उदारता-पुस्तक मिलने पर आप पुस्तक की कीमत ५०/- अथवा एक साथ पाँच भागों की रकम २५०/- अथवा कोई भी सहयोग राशि भेजना चाहें तो सूचित खाते में भेज सकेंगे । मनीओर्डर भी स्वीकार्य होगा परंतु मनीओर्डर में प्राप्तकर्ता का नाम-गोविंदभाइ पटेल लिखेंगे । एड्रेस और A/c No निम्नोक्त रहेगा ।

A/c No. : 18800100011422 Tilokchand Golchha
Bank Of Baroda, Rajkot (Raiya Road)

प्राप्तिस्थान : श्री त्रिलोकचन्द जैन
ओम सिद्धि मकान
६, वैशालीनगर, रैया रोड,
राजकोट-360 007 (गुजरात)
Mo. 98982 39961 / 98980 37996

EMAIL : agammanishi@org
www.agammnishi.org / jainlibrary.e.org

कोम्प्युटराईज-	डी. एल. रामानुज,	मो.९८९८० ३७९९६
फोरकलर डिजाइन-	हरीशभाई टीलवा,	मो.९८२५० ८८३६१
प्रिन्टिंग प्रेस-	किताबघर प्रिन्टरी	मो.९८२४२ १४०५५
बाईन्डर-	हबीबभाई, राजकोट	मो.९८२४२ १८७४७

सौजन्य दाता

श्री वीर संघ.....विरल !

संप्रदाय दीपक है, तो धर्म ज्योति है,.....दीपक तले अंधेरा है, तो ज्योति के सभी ओर उजाला है, यह एक सच्चाई है ।

ज्योति का आधार दीपक है.....दीपक का मूल्य ज्योति से है, यह दूसरी सच्चाई है ।

इस सत्य का साक्षात्कार किया था, श्रीमद् जवाहराचार्य ने, जवाहराचार्य का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति किसी भी गुरु के या किसी भी सम्प्रदाय के निमित्त से व्यसनमुक्त व धर्मयुक्त बना रहना चाहिये ।

जवाहराचार्य की उदार भावना के अनुसार एक ऐसा संगठन निर्मित हुआ है, जिसमें सभी पंथ और सभी संत का समादर है । इस असांप्रदायिक संगठन का नाम **श्री वीर संघ** है.....

प्रख्यात चिंतक **'सोलम'** ने पूछा- इस सडे एपल का क्या करना चाहिये? जनसमूह ने कहा-इसे फेंक देना चाहिये ।

सोलम ने एपल के चार टुकडे किये, अंदर रहे बीज बताकर पूछा, बताओ ये बीज कैसे हैं ? ये बीज तो अच्छे हैं, सभी ने एक स्वर से स्वीकार किया ।

'सडे हुए एपल में भी बीज अच्छा ही होता है ।' सभी ने नूतन सत्य का साक्षात्कार किया ।

वर्तमान में बिजनेस प्रणाली, शिक्षा प्रणाली, जीवन प्रणाली सब कुछ बिगड गया है ऐसे निराशाजनक वातावरण में जो आशा की किरण मौजूद है वह है— **बिना बिगडे बीज** ।अर्थात् ये नन्हे मासुम बच्चे, खुशमिजाज किशोर आदि । ये वे बीज हैं जिनका सुंदर रीति से रक्षण, प्रीति से पोषण व नीति के धन से सिंचन करके सुसंस्कारी समाज की फसल उगाई जा सकती है।इसी आशा और विश्वास के साथ विगत १३ वर्ष से **श्री वीर संघ** संस्कारशिविर, संस्कारसाहित्य, स्वधर्मी-वात्सल्य व जीवदया के कार्यों में सेवा-समर्पणा के साथ सक्रिय है ।

अब तक १७ बृहद् संस्कार शिविरों का आयोजन, विविध संस्कार साहित्य का प्रकाशन व शताधिक विद्यार्थीयों को छात्रवृत्ति द्वारा प्रोत्साहन का कार्य श्री वीरसंघ ने संपादित किया है ।

वीरसंघ को सशक्त बनाने में **श्री राकेशजी चक्रेशजी जैन(प्रेम परिवार), श्री उम्मेदमलजी गांधी व श्री अरविंदजी बाफणा** का विशेष योगदान है ।जो सहर्ष बधाई के पात्र हैं ।

भवदीय

विजय पटवा

॥ इस पुस्तक के प्रकाशन सहयोग हेतु श्री वीर संघ का हार्दिक आभार तथा परोक्ष प्रेरक अनुमोदक सभी का अभिनंदन ॥

प्रकाशकीय-संपादकीय

मानव जीवन अनेक उतार-चढावों का पिटारा है । जो इसमें संभल संभलकर चले वही श्रेष्ठ लक्ष्य को पा सकता है अन्यथा कभी भी भटक सकता है । वैसी स्थिति में आगमज्ञान प्रकाश ही जीवन का सही मार्गदर्शक बन सकता है ।

इस ज्ञान श्रृंखला में पाठकों को ३२ आगम सारांश एवं ३२ आगम प्रश्नोत्तर के बाद अब नया अवसर आगमिक निबंधों का संग्रह-निबंध निचय अनेक भागों के रूप में हस्तगत कराया जायेगा । जिसमें आगम सारांश और आगम प्रश्नोत्तर की पुस्तकों में से ही विषयों को उट्टंकित कर निबंध की शैली में प्रस्तुत किया जायेगा ।

ये निबंध पाठकों, लेखकों, मासिकपत्र प्रकाशकों एवं जीवन सुधारक जिज्ञासुओं को उपयोगी, अति उपयोगी हो सकेंगे । इसी शुभ भावना से आगम ज्ञान सागर को इस तीसरी निबंध श्रेणी में तैयार किया गया है ।

(१) स्वाध्याय संघों के सुझाव से----- आगम सारांश

(२) आचार्यश्री देवेन्द्रमुनिजी की प्रेरणा से---- आगम प्रश्नोत्तर

(३) नूतनपत्रिका संपादक से प्रेरणा पाकर--- आगम निबंध

आशा है, आगम जिज्ञासु इस तीसरे आगम उपक्रम से जरूर लाभान्वित होंगे ।इस निबंध माला के प्रथम और द्वितीय भाग प्रकाशित हो चुके है । अब यह तीसरा भाग पाठकों के करकमलों में पहुँचाया जा रहा है । इसमें आचारांग, सूयगडांग, ठाणाग, समवायांग और भगवती शतक-१२ तक में से कुछ विषयों का संकलन कियागया है ।

इसमें पाठकों को सूत्रस्थल जानना हो तो अनुक्रमणिका में हमने सूत्र स्थल दे रखे हैं, वहाँ देखे।

आगम मनीषी तिलोकचंद जैन

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्टांक
१	आगमोक्त दिशाओं का ज्ञान (आचा.)	१५
२	२७ क्रियाएँ आचारांग से	१५
३	ज्ञानी, अज्ञानी, वास्तविक ज्ञानी (आचा.)	१६
४	जीवों के पाप करने के मुख्य कारण (आचा.)	१७
५	एकेन्द्रिय जीवों की वेदना (आचा.)	१८
६	साधु को कैसा होना, रहना, बन जाना (आचा.)	२०
७	संयम और संयमी के पर्यायवाची शब्द (आचा.)	२२
८	गुस्सा-घमंड कम करने के उपाय (आचा.)	२३
९	एक व्रत में दोष तो सभी व्रत में कैसे (आचा.)	२४
१०	ममत्व त्यागने का उपदेश किसको (आचा.)	२५
११	प्रवचन में विवेक एवं विषय (आचा.)	२६
१२	सम्यग्दृष्टि को पाप नहीं लगता या साधु को (आचा.)	२८
१३	जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ का मतलब (आचा.)	२८
१४	शरीर के प्रति उपेक्षा एवं अपेक्षा दोनो (आचा.)	३१
१५	संयम के संशय और बाधक स्थान एवं विवेक(आचा.)	३३
१६	मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो (आचा.)	३७
१७	शास्त्रों में १६ रोग और वर्तमान के रोग (आचा.)	३८
१८	अचेलत्व का महात्म्य आगम में (आचा.)	३९
१९	शास्त्र के बीच के अध्ययन का विच्छेद कैसे(आचा.)	४०
२०	विशिष्ट साधना और व्यवहार(आचा.)	४२
२१	जामा तिण्णि उदाहिया का अर्थ अनेकांतिक(आचा.)	४५
२२	वस्त्र धोना, रंगना क्या(आचा.)	४५
२३	बाह्य साधना और आभ्यंतर साधना एक चिंतन(आचा.)	४७
२४	सचित्त और सचित्त संयुक्त खाद्य विवेक(आचा.२)	४९
२५	दान पिंड और दान कुल(आचा.२)	५१

२६	जीमणवार-बडे भोजन में गोचरी(आचा.२)	५२
२७	गोचरी के कुल(आचा.२)	५४
२८	वायुकाय की विराधना : एक चिंतन(आचा.२)	५५
२९	२१ प्रकार के धोवण पानी क्यों ?(आचा.२)	५९
३०	कंदमूल त्याग विचारणा महत्त्व(आचा.२)	६०
३१	कुंभी पक्व फल(आचा.२)	६२
३२	आहारपानी परठने की विधि(आचा.२)	६२
३३	मद्यमांस आहार के पाठों की विचारणा(आचा.२)	६४
३४	सात पिंडेषणाओं का खुलाशा(आचा.२)	६७
३५	साधु को चर्म, छत्र रखना क्यों कब ?(आचा.२)	६८
३६	अन्य संप्रदाय के साधु के साथ एक पाट पर(आचा.२)	६९
३७	वन-उपवन में ठहरना और ल्हसुन(आचा.२, अ.७)	७०
३८	मल-मूत्र विसर्जन विधि आगम से (आचा.२, अ.८)	७२
३९	भगवान का गर्भ संहरण ब्राह्मण कुल विचारणा(आचा.२)	७३
४०	विविध मतमतांतर सिद्धांत स्वरूप(सूय.)	७५
४१	साधुओं के ३६ अनाचार सूयगडांग सूत्र से(सूय.)	८५
४२	दानशाला प्याऊ दाणापीठ की चर्चा(सूय.)	८६
४३	चार समवसरण-चार वाद-३६३ पाखंड स्वरूप(सूय.)	८८
४४	उच्च गुणों पर पानी फेर देने वाले अवगुण(सूय.)	९२
४५	मुनि को उपदेश का विवेक(सूय.)	९३
४६	बारह प्रकार के जीव और उनका आहार(सूय.२)	९५
४७	प्रत्याख्यान का महत्त्व एवं श्रद्धा(सूय.२)	९८
४८	भाषा संबंधी अनाचार एवं विवेक ज्ञान(सूय.२)	१०१
४९	अपात्र और अयोग्य को ज्ञान क्यों देना(सूय.२)	१०३
५०	धर्म की प्राप्ति तथा धर्म के प्रकार(ठाणांग.)	१०४
५१	६४ इन्द्र संबंधी ज्ञान(ठाणांग.)	१०६
५२	तारे टूटने का अर्थ(ठाणांग.)	१०७
५३	लोक में उद्योत अंधकार का तात्पर्य(ठाणांग.)	१०८
५४	माता-पिता का आदि का ऋण(ठाणांग.)	१११

५५	तीर्थों का विश्लेषण आगमाधार से(ठाणांग.)	११२
५६	चौथा सन्यासाश्रम है तो जैन दीक्षा कब(ठाणांग.)	११३
५७	आत्मसुरक्षा के तीन साधन(ठाणांग.)	११५
५८	देवों का मनुष्य लोक में आना या नहीं आना(ठाणांग.)	११६
५९	साधु को तपस्या में धोवणपानी कल्पता है(ठाणांग-३)	११७
६०	अल्पवृष्टि-महावृष्टि कैसे होती ?(ठाणांग.)	११८
६१	भूकंप क्यों और कैसे ?(ठाणांग.)	११८
६२	साधु तथा श्रावक के तीन मनोरथ(ठाणांग.)	१२०
६३	वक्ता कब बने, परोपदेशे पांडित्यं(ठाणांग.)	१२३
६४	मोक्षप्राप्ति में तप एवं क्रिया का मापदंड(ठाणांग.)	१२४
६५	चार कषाय एवं १६ कषायों का स्वरूप(ठाणांग.)	१२५
६६	चार विकथाओं तथा धर्मकथाओं का विश्लेषण(ठाणांग.)	१३०
६७	व्रत पच्चक्खाण से गृहस्थ भारी या हल्के(ठाणांग.)	१३४
६८	गृहस्थ साधु पर मातापिता होने का अधिकार जमावे(ठाणांग.)	१३६
६९	चिकित्सा-चिकित्सक-व्याधि का प्रज्ञान आगम से (ठाणांग.)	१३९
७०	शुभ कर्म दुखदायी : अशुभ कर्म सुखदायी(ठाणांग.)	१४२
७१	अवधिज्ञान की उत्पत्ति एवं विनाश कैसे ?(ठाणांग.)	१४३
७२	गच्छ में विघटन-संगठन के कारण(ठाणांग.)	१४४
७३	साधु-साध्वी एक मकान में ठहरे ?(ठाणांग.)	१४५
७४	संयम में उपकारी दस(गुरु शिष्य सिवाय)(ठाणांग.)	१४७
७५	श्रुत अध्ययन के उद्देश्य एवं लाभ(ठाणांग.)	१४८
७६	महीनों में ६ तिथि का घट-वध होना(ठाणांग.)	१४९
७७	आयुष्य कर्म में घट-वध संभव(ठाणांग.)	१५१
७८	सात निह्नवों के सिद्धांत और समाधान(ठाणांग.)	१५२
७९	आयुर्वेद के आठ शास्त्र(ठाणांग.)	१५७
८०	देवों के चैत्यवृक्ष और कल्पवृक्ष (ठाणांग.)	१५८
८१	रोग उत्पन्न होने के ९ कारण(ठाणांग.)	१६०
८२	पुण्य संबंधी विविध विचारणा(ठाणांग.)	१६३
८३	भ.महावीर शासन के ९ जीव तीर्थंकर(ठाणांग.)	१६६

८४	आगम शास्त्रों के दस-दस अध्ययन(ठाणांग.)	१६७
८५	१० अच्छेरों का स्पष्टीकरण(ठाणांग.)	१६९
८६	नक्षत्र संयोग में ज्ञान वृद्धि(ठाणांग.)	१७४
८७	१० मिथ्यात्व और समकित के आगार(ठाणांग.)	१७५
८८	सात भय का विश्लेषण(सम.)	१७६
८९	दस यतिधर्म का विश्लेषण(सम.)	१७७
९०	१७ प्रकार का संयम-असंयम(सम.)	१८०
९१	२७ अणगार गुण(सम.)	१८१
९२	३२ योग संग्रह(सम.)	१८२
९३	२८ आचार कल्प(सम.)	१८३
९४	१७ प्रकार के मरण(सम.)	१८४
९५	सिद्धों के ३१ गुण(सम.)	१८५
९६	संवत्सरी के ५० एवं ७० दिन का विश्लेषण(सम.)	१८६
९७	विनय वैयावच्च के ९१ प्रकार(सम.)	१८८
९८	शास्त्रों के प्रारंभिक-अंतिम मंगलपाठों की विचारणा(भग.)	१८९
९९	द्वादशांगी शास्वत-अशास्वत(भग.)	१९२
१००	श्रमणों के कांक्षा मोहनीय (मिथ्यात्व) वेदन कैसे?(भग.)	१९३
१०१	सूक्ष्म स्नेहकाय और मस्तक ढांकना अनुप्रेक्षा(भग.श.१)	१९४
१०२	गर्भस्थ जीव संबंधी आगमिक परिज्ञा(भग.श.१.उ.७,श.२.प्र.१२)	१९५
१०३	कवलाहार का परिणमन कितना(शतक.१.प्रश्न.३०)	१९७
१०४	व्यवहारनय निश्चयनय : कालाश्यवेशी अणगार(श.१.प्र.३६)	१९८
१०५	अप्रत्याख्यानी क्रिया किसको ?(शतक-१)	१९९
१०६	आधाकर्मी आहार और उसका फल(श.१.)(श.५,प्र.१५)	२००
१०७	एकेन्द्रिय और श्वासोश्वास(शतक-२)	२०१
१०८	केवली भगवान का आहार : आगम प्रमाण(शतक-२)	२०२
१०९	तुंगिया नगरी के श्रावकों के गुण (शतक-२, प्र-१३)	२०२
११०	ईशानेन्द्र का पूर्वभव (शतक-३, प्र-४)	२०४
१११	चमरेन्द्र का जन्म और अहंभाव(शतक-३, प्र-९-१०)	२०७
११२	अचित पदार्थ किसका मुक्केलक(शतक-५, प्र-४)	२११

११३	हरिणेगमेषी देव की सही जानकारी(शतक-५, प्र-७)	२११
११४	देवों को मन:पर्यवज्ञान जैसी क्षमता(शतक-५, प्र-९)	२१२
११५	आचार्य उपाध्याय के कर्तव्य पालन का फल(शतक-५)	२१४
११६	श्रावक अनारंभी नहीं, सूक्ष्म अनुमोदन चालू(शतक-५,प्र-१७)	२१५
११७	महावीर द्वारा पार्श्व प्रभू के नाम से निरूपण(शतक-५,प्र-२४)	२१६
११८	अबाधाकाल और आयुष्यकर्म विचारणा(शतक-६,प्र-४)	२१७
११९	तमस्काय एक पानी परिणाम(शतक-६,प्र-७)	२२०
१२०	मारणांतिक समुद्घात एक अनुप्रेक्षण(शतक-६,प्र-१०)	२२२
१२१	धान्यादि के सचित्त और ऊगने का स्वभाव(शतक-६,प्र-४)	२२३
१२२	देवों का नरक में जाना एवं परमाधामी(शतक-६,प्र-१७)	२२४
१२३	प्राप्त शुद्धाहार शुद्धाशुद्ध हो जाता (शतक-७,प्र-६)	२२६
१२४	परमावधिज्ञानी चरमशरीरी होते (शतक-७,प्र-१३)	२२७
१२५	कोणिक चेडा युद्ध में मरने वालों की संख्या समीक्षा(श.७)	२२९
१२६	सदोष या निर्दोष आहार देने का फल(शतक-८,प्र-१४)	२३०
१२७	सूर्य का प्रकाश तेज मंद क्यों ?(शतक-८,प्र-२१)	२३१
१२८	आठ कर्मबंध के कारणों का विस्तार(शतक-८,प्र-२५)	२३२
१२९	ऊर्ध्व अधो तिर्यक लोक स्वरूप(शतक-११,प्र-९,१०)	२३५
१३०	दसवाँ ग्यारहवाँ पौषध शंख पुष्कली(शतक-१२)	२४०
१३१	पुद्गल परावर्तन स्वरूप(शतक-१२,उद्दे-४)	२४५
१३२	१८ पाप स्वरूप तथा भेद	२४६
१३३	प्रत्येक जीव के साथ संबंध :अनंतबार(शतक-१२,उद्दे-७)	२४७
१३४	पांच प्रकार के देव व अल्पबहुत्व(शतक-१२,उद्दे-९)	२४७
१३५	लोकमध्य तथा तीनों लोक मध्य कहाँ(शतक-१३,उद्दे-४)	२४७
१३६	श्रावक के प्रत्याख्यान में करण योग	२४८
१३७	संथारा-दीक्षा तारीख का रहस्य	२४९
१३८	अपनी बात-स्वास्थ्य सुधार एवं प्रायश्चित्तीकरण	२५५

जैनागम नवनीत सारांश पुस्तकों के प्रति अभिमत

–कविरत्न श्री चंदनमुनि पंजाबी

गीदडवाहा मंडी से प्राप्त गुणषष्टक

खंड एक से लेकर के, आठों ही हमने पाया है ।
जैनागम नवनीत देख कर, मन न मोद समाया है ॥१॥

पंडित रत्न तिलोक मुनिवर, इसके लेखक भारे हैं ।
जैन जगत के तेज सितारे, जिनको कहते सारे हैं ॥२॥

उनकी कलम कला की, जितनी करो प्रशंसा थोडी है ।
इनको श्रेष्ठ बनाने में कुछ, कसर न इनने छोडी है ॥३॥

जिन्हें देख कर जिन्हें श्रवण कर, कमल हृदय के खिलते हैं।
जैनागम विद्वान गहनतर, उनसे कम ही मिलते हैं ॥४॥

हमें हर्ष है स्थानकवासी, जैन जगत में इनको देख ।
कहने में संकोच नहीं कुछ, अपनी उपमा है वे एक ॥५॥

गीदडवाहा मंडी में जो, पंजाबी मुनि चन्दन है ।
उनका इनके इन ग्रंथों का, शत शत अभिनन्दन है ॥६॥

ooooo

परम आदरणीय आसु कवि श्री चंदनमुनिजी म.सा. अनेक वर्षों से गीदडवाहा मंडी पंजाब में ठाणापति विराजमान थे । चार्तुमास सूचि के आधार से अनेक संतों को स्वाध्यायार्थ पुस्तकें भेजी गई फलतः अनेक पत्र स्वतः आये । धर्म जगत के लोग बहुत खुश हुए । उनके पत्रों का संलकन आगे पांचवें भाग में देखें ।

ooooo

जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर पुस्तकों का अभिमताष्टक

आसु–कवि श्री चंदनमुनि पंजाबी

पुस्तक क्या है ? ज्ञान–खजाना !
आगम–विज्ञों ने यह माना !

जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर, पुस्तक प्यारी–प्यारी है ।
एक तरह से अगर कहें हम, केसर की ही क्यारी है ॥१॥

प्रश्नोत्तर शैली का प्यारा, सुगम मार्ग अपनाया है ।
आगम के गम्भीर विषय को, बडा सरस समझाया है ॥२॥

चिन्तन और पठन–पाठन से, पूरा जिनका है सम्बन्ध ।
विषय अनेकों आये इसमें, देने वाले परमानन्द ॥३॥

आगम का अभ्यासी इसको, अगर पढेगा ध्यान लगा ।
सहज–सहज ही बहुत–बहुत कुछ, हाथ सकेगा उसके आ ॥४॥

भला जगत का करने को जिन, सुलझी कलम चलाई है ।
लेखक विज्ञ 'तिलोक मुनीश्वर' जी' को लाख बधाई है ॥५॥

जैनागम–मर्मज्ञ आपकी, महिमा का न कोई अन्त ।
कलम कलाधर आज आप–से, विरले ही हैं दिखते सन्त ॥६॥

जहाँ शिष्य को गुरु वर ज्ञानी, गहरा–गहरा देते ज्ञान ।
तेज तिरंगे पृष्ट आवरण, की भी अद्‌भुत ही है शान ॥७॥

विषय जटिल है फिर भी हर इक, बात बहुत समझाई है ।
'चन्दन मुनि' पंजाबी को ये, पुस्तकें भारी भाई है ॥८॥

ooooo

आगम मनीषी मुनिराजश्री का भूत–भावि जीवन विवरण अर्थात् आत्मकथा (उम्र १२ से ७० वर्ष तक का) मुद्रणाधीन है । वह निबंधमाला के ५ भागों के साथ ही पाठकों के कर कमलों मे पहुँचने की उम्मीद है ।

निबंध–१

आगमोक्त दिशाओं का ज्ञान

दिशा शब्द से दिशाएँ और विदिशाएँ दोनों विवक्षित की जाने पर आगम में उत्कृष्ट १० दिशाएँ कही गई है । अन्य अपेक्षा से कहीं ४, कहीं ६ और कहीं ८ दिशाएँ भी कही जाती है । वहीं व्याख्याकार १८ दिशाएँ भी अपेक्षा से गिना देते हक्त और १८ द्रव्य दिशा और १८ भाव दिशा यों मिलान भी कर देते हक्त ।

१८ द्रव्य दिशा– चार दिशा+चार विदिशा=८, इन आठ के कल्पित आ तरे(बीच के क्षेत्र) यों ८+८=१६+ऊँची दिशा+नीची दिशा=१८ द्रव्य दिशा ।

१८ भाव दिशा– ४स्थावर+४वनस्पति(अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज, स्क धबीज)+४ शेष तिर्यंच त्रस(बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरेन्द्रिय, प चेन्द्रिय)+चार मनुष्य(कर्मभूमि, अकर्मभूमि, अन्तर्द्वीप, स मूर्च्छिम)+१देव +१नरक, इस प्रकार ४+४+४+४+१+१=१८ । वास्तव में यह एक प्रकार की कल्पना व्याख्या और स ख्या मिलान की तुकब दी मात्र है । जिसे अपेक्षा मात्र से स्वीकार किया जा सकता है, एका तिक ध्रुव सिद्धा त रूप में नहीं । सिद्धा त से तो उत्कृष्ट १० दिशाएँ है और जीव के भेद ४ गति, १४ भेद, २४ द डक आदि स ख्याएँ सैद्धा तिक है ।

निबंध–२

२७ क्रियाएँ आचारांग से

आत्मा कर्मों के कारण से भव भ्रमण, स सार भ्रमण करती है और उन कर्मों की उत्पादक अर्थात् कर्मों को उत्पन्न कराने वाली जीव की क्रियाएँ है । वे क्रियाएँ यहाँ सूत्र में तीन शब्दों में स क्षिप्त करके २७ कही गई है । जिसमें आधार तीन करण, तीन योग और तीनों काल को बनाया गया है । तीनों कालों के मिलने से ही जीव का समस्त स सार भ्रमण चक्र चलता, बनता है । सूत्र में इन करण, योग और काल तीनों के स योग से २७ भ ग विवक्षित करके पहला, चौदहवाँ और सत्तावीसवाँ ये तीन भ ग मूल पाठ में कहे गये हक्त–

(१) अकरिस्स चाह (२) कारवेसु चाह (३) करओ यावि समणुण्णे भविस्सामि । यहाँ शब्दों में स्पष्ट रूप से करण तीन और काल तीन प्रतिफलित होते हक्त कि तु तीन करण और तीन योग ये अन्य शास्त्र में क्रिया के प्रकार रूप से प्रसिद्ध है । साधु और श्रावक के पापक्रिया के प्रत्याख्यान में भी तीन करण के साथ तीन योग होते ही हक्त । अत: यहाँ योगों को भी अ तर्भावित समझना उपयुक्त ही है । इस प्रकार तीन शब्दों से २७ क्रियाएँ समस्त कर्मस ग्रह में कारण कही गई है और कर्म से ही स सार भ्रमण चक्र चलता है ।

निबंध–३

ज्ञानी, अज्ञानी, वास्तविक ज्ञानी

उपरोक्त वर्णन से जिसने (१) आत्मा के अस्तित्व को समझ लिया है, स्वीकार लिया है, (२) आत्मा के स सार भ्रमण को जान लिया है, मान लिया है और (३) आत्मा कर्मों के अनुसार स सार भ्रमण करती है, (४) क्रियाओं से कर्मों की उत्पत्ति होती है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि १. आत्मा २. लोक ३. कर्म और ४. क्रियाएँ इन चारों को जिसने जान लिया है, मान लिया है अर्थात् इनका जो स्वरूप सर्वज्ञों ने जाना स्वीकारा है उसे जो समझता, स्वीकारता है, वह यहाँ ज्ञानी, प्रबुद्ध आत्मा कहा गया है ।

अपेक्षा से अर्थात् ज्ञान और समझ की अपेक्षा से वे ज्ञानी है कि तु यदि ऐसा ज्ञान समझ हो जाने के बाद भी अर्थात् उक्त आत्म स्वरूप भान हो जाने पर भी, जो उदय भाव में बहते जाते हक्त, जन्म-मरण और कर्म दुख पर परा भोगते रहते हक्त, बढाते रहते हक्त, तो अप्रत्याख्यान की अपेक्षा, अविरति के कारण उनका जानना भी अपेक्षा से अनजाने के समान हो जाता है । अत: ऐसी आत्माएँ भी दूसरी अपेक्षा से– अविरति की अपेक्षा से सही ज्ञानी की गिनती में नहीं गिनी गई है । अत: अपेक्षा से उन्हें भी अपरिज्ञातकर्मा कहा गया है । ऐसे जीव स सार भ्रमण बढाते ही रहते हक्त, क्रियाओं और कर्मों को जानकर उससे अलग नहीं होते हक्त । यह दूसरे प्रकार की अपेक्षित अज्ञानता स्वीकार की गई है अर्थात् ऐसे प्राणी अपेक्षा से सच्चे ज्ञानी नहीं है । यथा– जिन्होंने

सर्प, कुत्ते आदि के स्वभाव को जान लिया है, फिर भी कुतूहल आदि के कारण जो उनसे दूर नहीं होकर उनकी छेड-छाड करते हक्त और फिर उन्हीं से दु:खी होते हक्त, तो वे उस विषय में अपेक्षा से अज्ञानी ही कहे जाते हक्त अर्थात् उनका जानना अनजाने के बराबर हो जाता है । इस प्रकार अपेक्षा से ये ज्ञानी और अपेक्षा से अज्ञानी आत्माएँ समझनी चाहिये ।

प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में यह बताया गया है कि लोक में, स सार में ये समस्त कर्म की जनक क्रियाएँ और क्रियाओं के करने के हेतु-कारण जो बताये गये हक्त उन्हें जानकर, समझकर, स्वीकार कर जो उन क्रियाओं का त्याग कर देता है, क्रिया के हेतुओं से भी ऊपर उठ जाता है अर्थात् शक्य समस्त क्रियाओं, आश्रवों का त्याग करने वाला ही सच्चा और श्रेष्ठ या वास्तविक ज्ञानी है । यह शुद्ध और उच्च अपेक्षा से अ तिम कथन किया गया है । वह अ तिम उद्देशक वाक्य इस प्रकार है- **जस्सेते लोग सि कम्म समार भा परिण्णाया भव ति, से हु मुणी परिण्णाय कम्मे त्ति बेमि ।**

इस प्रकार मुनिजीवन स्वीकार कर पाप क्रियाओं और कारणों का शक्य त्याग करनेवाला स सार त्यागी मुनि और जिनाज्ञा में विचरण करने वाला श्रमण ही सच्चा ज्ञानी कहा गया है ।

निबंध-४

जीवों के पाप करने के मुख्य कारण और प्रकार

इन उक्त एक प्रकार की ज्ञानी आत्माओं को और स सार की अन्य स पूर्ण अज्ञानी आत्माओं को पाप कार्यों के करने में मुख्य कारण इस प्रकार है- (१) ये आत्माएँ अपने प्राप्त जीवन और शरीर के निर्वाह के लिये विविध पाप क्रियाओं को स्वीकार करती है । (२) कई आत्माएँ मान स ज्ञा में प्रवाहित होकर अपनी यश-कीर्ति, मान-सम्मान, पूजा प्रतिष्ठा के लिये पाप क्रियाओं का स्वीकार करती है । (३) कई आत्माएँ मतिभ्रम से, कुस गति से अर्थात् कुधर्म प्रचारकों की स गति से या देखा देखी धर्म के नाम से, भगवान के नाम से और अ त में मोक्ष प्राप्ति का झूठा मार्ग अपनाकर धर्म के लिये, स सार मुक्ति

के लिये, विविध पाप क्रियाओं का स्वीकार करती है । यथा- धर्म के नाम से जीवों की बलि चढाना; होम, हवन, द्रव्यपूजा, फूल, पानी, अग्नि आदि की प्रवृत्ति; नाचना, कूदना, ढोल, ताल आदि वाजि त्र बजाना वगैरह पाप क्रियाएँ लोग धर्म की दृष्टि से भी करते रहते हक्त । (४) अपने ऊपर आई हुई आपत्ति, रोग, आत क, उपद्रव आदि को दूर करने के लिये या किसी भी प्रकार से अपने बचाव, सुरक्षा, स्वार्थ के लिये पाप क्रियाओं का ज्ञानी और अज्ञानी प्राणी स्वीकार करते रहते हक्त। पाप क्रियाओं के कारण बताने में शास्त्रकार ने इन चार मुख्य कारणों को चार निम्न शब्दों में कहा है- **(१) इमस्स चेव जीवियस्स (२) परिव दण-माणण-पूयणाए (३) जाईमरण मोयणाए (४) दुक्खपडिग्घाय हेउ ।**

एक प्रमाद मूलक और दूसरी विषयार्थ मूलक । स सार में प्राणी अपने इन्द्रिय विषयों की पूर्ति के लिये और लापरवाही से जीव हिंसा करते हक्त अथवा तो इन दोनों को अर्थ द ड और अनर्थ द ड भी कहा जा सकता है । चौथे उद्देशक का वह वाक्य इस प्रकार है- **जे पमत्ते, गुणट्ठिए से हु द ड त्ति पवुच्चइ ।** अर्थात् जो प्रमादी और विषयार्थी है वह हिंसा की प्रवृत्ति करता है ।

निबंध-५

एकेन्द्रिय जीवों की वेदना का स्पष्टीकरण

स्थावर जीवों की वेदना अव्यक्त होती है अर्थात् अपनी वेदना को वे जीव व्यक्त नहीं कर सकते और अन्य अल्पज्ञानी व्यक्त रूप से उनके दुख को जान नहीं सकते । कि तु विशिष्ट ज्ञानी अपने ज्ञान से जान सकते हक्त और हमें दृष्टा त द्वारा समझा सकते हक्त, बता सकते हक्त । एकेन्द्रियों की इस अव्यक्त वेदना को शास्त्र में दृष्टा त द्वारा इस प्रकार समझाया है- (१) किसी अ धे, बहरे, गूँगे, अप ग अर्थात् हाथ-पाँव रहित अशक्त व्यक्ति को कोई जोर जोर से प्रहार करे और वह हीना ग अ ध व्यक्ति अपने दु:ख को किसी प्रकार प्रकट न कर सके, फिर भी उस व्यक्ति को असह्य वेदना होना हमारा अन्तर्मन स्वीकार करता है । ठीक उसी प्रकार सभी अ गोपा गों के अभाव में मात्र शरीर वाले एकेन्द्रिय प्राणियों को भी वेदना होती है । (२) जिस तरह शुद्ध चेतना, व्यक्त चेतना

वाले प्राणी या मानव के पाँव की अ गुली से लेकर मस्तक तक के किसी भी शरीर विभाग का कोई छेदन भेदन करे तो उसकी वेदना स्पष्ट दिखती है । वैसे ही पृथ्वी, वृक्ष आदि के छेदन भेदन से उन जीवों को भी वेदना होती है । (३) जैसे कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को तलवार से भले एक ही वार में प्राण रहित कर देता है, इतना शीघ्र मरते हुए भी उस मानव को शरीर की अपार वेदना में मरना पडता है, वह हमें समझ में आ सकता है । वैसे ही शीघ्र मर जाने वाले इन स्थावर प्राणियों को भी मरने की अपार वेदना होती है, क्यों कि वेदना का अनुभव करने वाले चेतन का अस्तित्व उसमें भी है । (४) कोई व्यक्ति किसी को इतना मारे कि वह व्यक्ति बेहोश, मूर्च्छित होकर गिर पडे अथवा कोई बालक बहुत उँचे स्थल से गिरते ही मूर्च्छित हो जाय, रोने की आवाज भी नहीं करे तो उसे अपार वेदना में होना हम स्वीकार करते हक्त । वैसे ही स्थावर प्राणियों को कष्ट वेदना होती है, उसे ज्ञानियों के वचन से और इन दृष्टा तों से समझकर स्वीकार करनी चाहिए ।

इस प्रकार के दृष्टा त सूचक शब्द दूसरे उद्देशक में दिये गये ह्क। भगवती सूत्र शतक-१९ उद्देशक-३, में स्पर्श मात्र से इन एकेन्द्रिय जीवों को घोर वेदना होती है, यह बताया गया है ।

समुच्चय बोल से- पृथ्वी से पानी **सूक्ष्म है** । पानी से अग्नि, अग्नि से वायु और वायु से वनस्पति **सूक्ष्म है** । समुच्चय बोल से- वायु से अग्नि **बादर (बडी) है** । अग्नि से पानी बादर है पानी से पृथ्वी बादर है और पृथ्वी से वनस्पति **बादर(बडी)है** । चार स्थावर की जघन्य उत्कृष्ट सभी अवगाहनाएँ अ गुल के अस ख्यातवें भाग की है अर्थात् उक्त ४३ बोलों में अवगाहना अ गुल के अस ख्यातवें भाग की ही है, केवल ४४वें बोल में उत्कृष्ट एक हजार योजन साधिक है ।

पृथ्वीकाय की सूक्ष्मता और कठोरता :- यहाँ शतक-१९,उद्देशक-३ में यह समझाया गया है कि उपरोक्त ४४ बोलों की अल्पाबहुत्व में बादर पृथ्वीकाय का न बर नौवाँ है अर्थात् आठ बार अस ख्य गुणा

करे इतनी अवगाहना है । फिर भी चक्रवर्ती की जवान स्वस्थ दासी वज्रमय शिला और शिलापुत्रक(लोढे) से लाख के गोले जितनी पृथ्वीकाय को २१ बार पीसे तो कई जीव मरते हक्त, कई नहीं मरते, कई स घर्ष को प्राप्त होते हक्त, कई को स घर्ष नहीं होता, कई को स्पर्श होता है, कई को स्पर्श मात्र भी नहीं होता है । इस प्रकार कुछ पीसे जाते हक्त, कुछ नहीं पीसे जाते हक्त । ऐसी छोटी पृथ्वीकाय की अवगाहना होती है ।

पृथ्वी आदि पाँच स्थावर की वेदना :- यहाँ तीसरे उद्देशक में यह समझाया गया है कि- कोई जवान, स्वस्थ पुरुष किसी वृद्ध अशक्त पुरुष को मस्तक पर जोर-जोर से प्रहार करे, तब उसे जैसी वेदना होती है इससे भी अनिष्टतर वेदना पृथ्वीकाय आदि पाँचों एकेन्द्रिय जीवों को स्पर्श मात्र से होती है ।

निबंध-६

साधु को कैसा होना, रहना, बन जाना

जिसने घर छोड दिया है; सब कुछ स सार का त्याग कर दिया है; उसे सरल, साफ हृदयवाला, सरलता से परिपूर्ण बनकर, सदा मोक्ष के लक्ष्य से स सार मुक्त बनने के उद्देश्य में प्रयत्नशील रहना चाहिये। अन्य कोई भी किसी प्रकार की माया, कपट, प्रप च, चालबाजी, स्वार्थ-वश या द्वेष-ईर्ष्यावश कुछ भी छल प्रप च नहीं करना चाहिये । पवित्र, परम पवित्र हृदयी बनकर मोक्ष साधना में लगे रहना चाहिये । किसी प्राणी, मानव या साधक आत्माओं के प्रति कि चित् भी कलुष भाव, ड ख भाव न रखते हुए, सहज सरल भावों में लीन रहना चाहिये । ऐसी सहजता, सरलता, निष्कपटता, पवित्रता से साधनालक्षी आत्मा को अणगार कहा गया है, कहा जाता है ।

घर छोडकर अणगार बने साधक ने जिस भावना, श्रद्धा, उत्साह और लक्ष्य से घर का त्याग किया है, उसी को कायम रखते हुए, स्थिर रखते हुए, उसे जीवन पर्यंत स यम का पालन करना चाहिये । श्रद्धा, उत्साह एव लक्ष्य में किसी भी प्रकार का विघटनकारी विचार, पहलू, स कट, आपत्ति या बाधा उपस्थित हो जाय तो उसका समाधान

स्वय ज्ञान और विवेक युक्त सही चि तन से कर लेना चाहिये या गुरु आदि के सहवास, स गति, स स्कार से उन वैचारिक या परिस्थितिजन्य बाधाओं को समाप्त कर देना चाहिये । उन्हें विचारों से निकाल देना चाहिये और लक्ष्य उत्साह श्रद्धा में पूर्ववत् स्थिर रहना चाहिये । यहाँ शास्त्र में श्रद्धा का शाब्दिक अर्थ, तत्त्व श्रद्धान या आस्था के लक्ष्य को प्रमुख करके बताया गया है कि एकेन्द्रिय जीवों के अस्तित्व की जो श्रद्धा-आस्था स यम ग्रहण के समय में हो उसमें स यम ग्रहण के पश्चात् कभी भी तर्कों में पड कर या मिथ्यात्व मोह के उदय से अभिभूत होकर इन जीवों के अस्तित्व का, दुःखों का, इनकी विराधनाओं का और इनसे स ब धित स यम विधियों का अपलाप नहीं करना चाहिये तथा उनका वचन या मन से कभी भी अस्वीकार नहीं करना चाहिये । अत्य त विवेक और सावधानी से इन जीवों के प्रति मिली या बनी आस्था को स्थिर रखते हुए, इनसे स ब धित होने वाली विराधनाओं से पूर्णतया दूर रहना चाहिये तथा उससे स ब धित स यम विधियों में दत्तचित्त रहना चाहिये । यहाँ श्रद्धा और अपलाप शब्दों का तात्पर्य यह है कि कभी भी ऐसे वाक्यों से जीवों के या जीव विराधना के या स यम नियमों के निषेध या अवहेलना में नहीं उतर जाना चाहिये । **यथा**–"खान से निकल गया, अब उस पत्थर में या मिट्टी में क्या कैसा जीव है ? नल के पानी में क्या जीव है । अग्नि में तो कोई जीव रह ही नहीं सकता तो वह कैसे जीव है, हवा तो चलती रहती है, बल्ब में, टयूब में कहाँ से जीव घुसता है, बिजली का साधन तो भगवान के समय था ही नहीं, पानी तो पीने के लिये ही होता है, आकाश से गिरता तभी अचित हो जाता है फिर मुर्दे भी कभी जि दे होते नहीं, तो पानी सचित क्यों होता, कैसे हो जाता ?" इत्यादि ऊपरोक्त ये सारे अश्रद्धा युक्त तार्किक वचन भगवद् कथित जीवों के अस्तित्व का तथा स्वरूप का अपलाप करने वाले हक्त । ऐसे विचार और कथन नहीं करके श्रद्धा को यथावत् स्थिर रखना चाहिये ।

तर्कों से जीवों के अस्तित्व का निषेध करनेवाला व्यक्ति कभी अपने अस्तित्व का भी निषेध करके नास्तिक बन सकता है । उक्त भावों वाले आचा॰अध्य-१ के तीसरे उद्देशक के आगम शब्द ये हक्त-

से जहावि अणगारे उज्जुकडे णियाग पडिवण्णे अमाय कुव्वमाणे, वियाहिए । जाए सद्धाए णिक्ख तो तमेव अणुपालिया, विजहित्तु विसोत्तिय ।

यहाँ प्रथम वाक्य में **'अणगारे'** के साथ **वियाहिए** क्रिया को स ब धित करके अर्थ करने से अर्थात् ठीक से शब्दों का अन्वय करके अर्थ करने से सही भावार्थ निकल आता है कि- जो सरलता से भावित होकर अर्थात् सरलता से ओतप्रोत होकर, छल कपट प्रप चों के सेवन से पूर्ण मुक्त होकर, मोक्ष साधना में लगा रहता है, वह सच्चा अणगार कहा गया है ।

दूसरे वाक्य में 'विसोत्तिय ' शब्द है जिसका अर्थ है- श्रद्धा उत्साह और लक्ष्य में बाधक विचार, रूकावट करने वाले तत्त्व, लक्ष्य में विघटन करने वाले पहलू या परिस्थितियाँ । इसके साथ **'विजहित्तु'** क्रिया पद से इन बाधक तत्त्वों को छोडने का, निकालने का, दूर करने का उपदेश, निर्देश किया गया है ।

निबंध-७

संयम और संयमी के पर्यायवाची शब्द

आचा॰अध्ययन पहला– मुणी, अणगार, मेहावी, स यत, आय कद सी, दविया, वसुम , ये स यमी अर्थ में प्रयुक्त शब्द हक्त । स यमवाची शब्द इस प्रकार हक्त- अभय , अकुतोभय , आयाणीय , असत्थ , विणय , ये प्रथम अध्ययन में प्रयुक्त शब्द हक्त । आगे के अध्ययनों में भी ऐसे कई शब्दों का प्रयोग हुआ है ।

अध्ययन दूसरा– धीरो, प डिए, कुसले, समिए, धुवचारिणो, पासगस्स, भिक्खू, आरिएहिं, मइम , वीरे, ये स यमी के शब्द हक्त । अहो विहाराए खम , स कमणे, मोण , अणुघायणस्स, ये स यम के शब्द है ।

अध्ययन तीसरा– णिग्ग थ , अ जू, अतिविज्जो, णिक्कम्मद सी, परम-द सी, अणोमद सी, अणण्णपरम णाणी, महेसी, दूरालइय , उवरयसत्थ, पलिय तकर, विधूतकप्पे, ये स यमी के शब्द हक्त । सव्व , परम , अणण्ण , महाजाण , ये स यम के शब्द हक्त । **अध्ययन चौथा**– उवसम , ब भचेर सि, सच्च सि, ये स यम के शब्द हक्त । **अध्ययन पाँचवाँ**– विरयस्स, परम चक्खू, वण्णाएसी, माणवा, णरे, वेयवी, णिट्ठियट्ठी, मह , ये स यमी

के शब्द हक्त । परियाए, मह , आराम , ये स यम के शब्द हक्त । **शेष अध्ययनों में–** वसु, महामुणी, णगिणा, विद्यूतकप्पे, महावीराण , आगय पण्णाण , भगवओ, उदासीण , णममाणेहिं, णिट्ठियट्ठी, ये स यमी के शब्द हक्त । लूहाओ, यह स यम का शब्द है ।

निबंध–८

गुस्सा–घमंड कम करने के उपाय

क्रोध और मान एक तरह से नहीं, अनेकों तरह से आत्मा में उत्पन्न होते हक्त तो उनके कम करने के उपाय भी विविध प्रकारों से हो सकते हक्त तथापि यहाँ एक तरीका बताया जा रहा है–

क्रोध की उत्पति के मूल में अधिकतर मान रहता है और मान के मूल में विशेष कर उच्च गोत्र से उपलब्ध सुस योग निमित्त बनते हक्त । वहाँ यह चि तन उपस्थित करना चाहिये कि जीव अनेकों बार जाति, कुल, बल, तप, श्रुत, ऐश्वर्य, रूप और लाभ आदि हीन अथवा उच्च प्राप्त करता ही रहता है । उच्चता हीनता का यह चक्र सभी प्राणियों में चलता रहता है । मेरी आत्मा कभी अल्पज्ञानी, अविवेकी, हीन अवस्था या नासमझी, मूर्खता, होशियारी अथवा गरीब, अमीर, सुरूप, कुरूप आदि बनी ही है और बनती ही रहेगी । अपना मद या दूसरे का तिरस्कार करना, अन्य की किसी भी गलती या हीन दशा पर गुस्सा करना, अपनी किसी भी गुणस पन्नता में फूलना, अभिमान करना समझदार के लिये उपयुक्त नहीं है । अपनी आत्मा भी कई बार अ धत्व, बधिरत्व, गूँगापन, काणत्व, कूबडापन, अप ग, वामन, श्यामत्व, चित्तकाबरापन आदि अनेकानेक शरीर की हीन अवस्थाओं, हीन योनियों, हीन गतियों अर्थात् नरक निगोद आदि ८४ लाख योनियों में अपार दुःख भोगती भटकती आ रही है । इस प्रकार अपनी और अन्य की सभी अवस्थाओं का विचार उपस्थित रखकर अपने अ दर रहे मान-अभिमान को निर्मूल, निर्बल बनाते रहना चाहिये । वर्तमान में स्वय के अनेक अवगुण, गुणहीनता, अपुण्य आदि को भी सम्मुख रखते हुए गुणों, पुण्यों आदि के मान को पुष्ट नहीं होने देना चाहिये । इस प्रकार मान निग्रह करने से उससे स ब धित उत्पन्न होने वाले क्रोध को स्वतः शा त

रहने की प्रेरणा, आत्मा की लघुता के चि तन से या अह कार रहित भावनाओं से मिलती रहेगी ।

इसी भाँति दूसरों की सभी अशुभ अवस्थाओं के साथ उनकी शुभ अवस्थाओं का, अवगुणों के साथ गुणों का, चि तन उपस्थित करते रहने का अभ्यास करते रहने से, वहाँ भी मान कषाय कमजोर होकर गुस्से को उत्पन्न नहीं होने देगा ।

आगे दूसरे चि तन के पहलू को दिखाया गया है कि अपने घम ड गुस्से के प्रतिफल से यदि किसी को वाचिक या कायिक कुछ भी कष्ट दिया जाय तो वहाँ यह चि तन भी करना चाहिये कि सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है, मरना अप्रिय है, सभी सुखेच्छु हक्त, जीना सब को प्रिय है, कटु शब्द या तिरस्कार के वचनों को कोई भी सुनना नहीं चाहता है कि तु इन सभी व्यवहारों से प्राणियों को दुःखानुभव होता है । अतः किसी के सुख को नष्ट करना, दुःख में पटकना, कैसे उचित होगा ? उसका परिणाम स्वय के लिये भी हितकारी नहीं होगा । इस प्रकार के चि तन से भी अपने गुस्से को निष्फल करना चाहिये ।

निबंध–९

एक व्रत में दोष तो सभी व्रत में दोष कैसे ?

सुख की लालसाओं के बढने से अथवा दुःख से घबरा जाने से, व्याकुल हो जाने से, साधु का साध्वाचार से पतन होता है । स्वय के अप्रमत्तभावों से अर्थात् वैराग्य और ज्ञान की जागृति होने से पुनः उत्थान हो सकता है । पतन के अभिमुख बना साधक पहले एक महाव्रत को दूषित करता है फिर रात्रि भोजन युक्त ६ व्रतों में से किसी भी व्रत के विपरीत आचरण करने में तत्पर हो जाता है अर्थात् एक दोष का प्रार भ होने पर धीरे-धीरे अनेक दोष प्रवेश होने लगते हक्त । मोह कर्मोदय के बलवान होने पर, उसे निष्फल नहीं करने से साधक की ऐसी दशा होती है ।

कि तु जब मोह कर्म उपशा त होता है या उसका उदय जोर कम हो जाता है अथवा अन्य किसी पुरुषार्थ से मोह का क्षय-क्षयोपशम बढता है तो साधक पुनः अप्रमत्त भावों के चि तन में उपस्थित होता

है । तब वह विचार करता है कि यह सब मक्तने अपने अस यम भावों से किया है, उसके कर्म ब ध से मक्तमुक्त नहीं हो सकता । इस प्रकार वह ज्ञान दशा में पहुँचता है ।

यहाँ ६ व्रत के स्थान पर ६ काया को परिलक्षित करके भी अर्थघटन किया गया है । तदनुसार साधक प्रार भ में किसी एक काया की विराधना करने लगता है । फिर ६ काया में से किसी की भी विराधना करने में तत्पर होता रहता है ।

यहाँ सूत्र का अर्थ खींचतान करके एका त रुप से किया जाता है जो कि योग्य नहीं है । यथा– एक व्रत दूषित करने वाला नियमत: सभी व्रत दूषित करता है । एक काया की विराधना करने वाला नियमत: सभी काया की विराधना करता है, यह अर्थ समझ भ्रम के कारण चल पडा है । नय युक्त विवेकमय अर्थ-भाव ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है । एका तिक अर्थ नहीं करना चाहिये ।

निबंध–१०

ममत्व त्यागने का उपदेश किसको

साधु को ममत्व रखने का और ममत्व की बुद्धि प्रकृति रखने का भी सूत्र में निषेध किया गया है और यह भी कहा गया है कि वही मुनि स यम मार्ग को समझा है जिसका किसी में भी, कहीं पर भी ममत्व भाव नहीं है । यह जान-समझकर बुद्धिमान साधक लोकवृत्ति और लोकस ज्ञा अर्थात् स सार प्रवाहरूप ममता मूर्छाभाव का त्याग करता हुआ स यम में पुरुषार्थ करे । वह पाठ यह है– **जे ममाइय मइ जहाइ, से जहइ ममाइय । से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स णत्थि ममाइय । त परिण्णाय मेहावी, विदित्ता लोग , व ता लोग सण्ण , से मइम परक्कमेज्जासि ।** अत: साधु को शिष्य शिष्या का, श्रावक समाज का त्याग नहीं करना है कि तु इनके प्रति ममत्व बुद्धि का सदा त्याग रखना आवश्यक है । क्यों कि ममता मूर्छा ही परिग्रह है ।

इसके अतिरिक्त साधु को रति अरति रूप मन की च चलता का त्याग करना होता है । वह साधक जीवन में रति भाव और अरति भाव दोनों को नहीं आने दे, नहीं रहने दे, कि चित् भी रति अरति को

सहन नहीं करे अर्थात् मन को पूर्ण स्थिर तटस्थ समभाव में रखे । मनोज्ञ अमनोज्ञ शब्दादि पाँचों विषयों के स योग में सहनशील बने । इहलौकिक पुद्गल स योगों में आन द और खेद दोनों से दूर रहे । इस प्रकार मुनि ममता मूर्च्छा भी न करे, ममत्व बुद्धि भी न रखे, मन की च चलता को भी कम करे तथा पौद्गलिक आन द और दु:ख दोनों में तटस्थ रहे, आसक्त न बने कि तु सभी प्रकार से, सभी स योगों में अवस्थाओं में कर्म क्षय करने में लगा रहे ।

अ त में यह भी कह दिया गया है कि वह आहार में भी ममत्व भाव न रख कर त्याग भाव रखे । अच्छे एव मनोज्ञ खाद्य पदार्थों का त्याग कर प्रा त, रूक्ष भोजन में स तुष्ट रहे । अ त में उपस हार करते हुए कहा गया है कि उक्त ममत्व, ममत्व बुद्धि, रति-अरति भाव, पुद्गल आन द, इस लौकिक आन द और आहार का आन द ये सभी वृत्तियाँ छोडने वाला मुनि स सार प्रवाह को पार कर सकता है अथवा पार किया है, मुक्त हुआ है, वही वास्तव में विरति भाव में उपस्थित है । इस प्रकार मुनि जीवन में तो ममत्व और ममत्व बुद्धि तथा सूक्ष्मतम ममत्व रूप रति अरति, मन की च चलता, व्यग्रता, आसक्ति सभी के त्यागने का ध्रुव उपदेश है । जो आचा॰अ॰२ के छट्ठे उद्देशे के प्रार भ के सूत्र में है ।

निबंध–११

प्रवचन में विवेक एवं विषय

उपदेश देने में स्वार्थ और स कीर्ण भाव न होना चाहिये । उपदेश का इच्छुक व्यक्ति गरीब अमीर कोई भी हो, उपदेश सुनाने में भेद भाव नहीं रखे, रुचि पूर्वक हार्दिक लगन से सुनावे । एक को हर्ष से, एक को दुर्मन से सुनावे, ऐसा न करे ।

उपदेश के विषय का निर्णय और उसका विवेचन विवेक बुद्धि के साथ करे । श्रोता को विरोधभाव उत्पन्न होवे वैसा नहीं बोले, अविवेक से मनमाना उपदेश देना श्रेयष्कर नहीं होता है । सामने वाला व्यक्ति अथवा परिषद की मानस दशा या विचार दशा का अनुभव रखते हुए उनका कुछ हित हो, वह किसी भी तरह कर्म ब ध से या

आश्रव से मुक्त हो सके, इस तरह विचार पूर्वक, विवेक पूर्वक उपदेश देवे । वही साधक सभी अपेक्षाओं से सब प्रकार की बुद्धिमत्ता से विचक्षणता से प्रवर्तन करने वाला है, जो कहीं भी पाप से लिप्त नहीं होता है, कर्म ब धन से मुक्त होने की अन्वेषणा करता है अर्थात् कर्म ब धन से स्वय भी अलग रहे, दूसरों को भी कर्मब ध से दूर करने में प्रयत्नशील रहे; वही स यम का, मोक्ष मार्ग का कुशल ज्ञाता है । इस प्रकार यहाँ मुनि के उपदेश का विवेक ज्ञान बताया गया है ।

प्रश्न–सामान्यतया मुनि किन विषयों पर उपदेश दे, ताकि किसी को भी विरोधभाव न हो और उनका हित हो ?

उत्तर– इस विषय का कथन छट्ठे अध्ययन के पाँचवे उद्देशक में किया गया है, वह इस प्रकार है– धर्मिष्ट या धर्म से अनभिज्ञ कोई भी व्यक्ति धर्म श्रवण की भावना से उपस्थित हुआ हो उन्हें मुनि (१) **सति** – समभाव, क्षमाभाव अथवा जीवादि तत्त्वों के अस्तित्वभाव का; धर्म, अधर्म, पाप के स्वरूप का, (२) **विरति–** हिंसा असत्य आदि पाप त्याग एव व्रत नियमों के विश्लेषण का, (३) **उपशा ति–** कषाय त्याग का, (४) **मोक्ष प्रेरक–** स सार मुक्ति दायक विषयों का, (५) **सोय** – भावों की पवित्रता का, (६) **सरलता–** निष्कपटता का, (७) **लघुता–** नम्रता, विनयभाव, अपरिग्रह भाव का, (८) **अहिंसा–** सत्य आदि विषयों का अथवा दृढता पूर्वक, दोषरहित व्रत पालन का, इत्यादि विषयों पर प्रस गानुसार विवेकपूर्वक कथन करे । बोलने में खुद को परेशानी न हो एव सामने वाले श्रोताओं का किसी भी प्रकार से तिरस्कार, अपमान आदि रूप आशातना, अवहेलना न हो; अन्य भी किसी प्राणी को दु:खदाई हो ऐसा प्रवचन साधु न करे । स पूर्ण अनासातनात्मक अर्थात् सर्व जीवों को सुखकारी, स सार से एव कर्म ब ध से तारने वाला, मुक्त कराने वाला उपदेश देवे ।

किसी प्रकार के राग द्वेष की मूल भावना से, हृदयकी कलुषता से, कटुता से, किसी को दु:खकारी उपदेश न करे । उपदेष्टा का हृदय उपदेश के समय पूर्ण पवित्र, शा त, हितकारी और सहजभाव युक्त होना चाहिये ।

निबंध–१२

सम्यग्दृष्टि को पाप नहीं लगता या साधु को

इस अध्ययन के दूसरे उद्देशे में इस विषयक सूत्र इस प्रकार है– **समत्तद सी ण करेइ पाव । आय कद सी ण करेइ पाव ।** इसके पूर्व वाक्य है– **तम्हातिविज्जो परम ति णच्चा । तम्हा=इसलिये; अतिविज्जो**=अति विद्वान, परम विद्वान, उत्तम ज्ञानी, परमज्ञानी, **परम ति णच्चा**=मोक्षमार्ग को समझकर; **समत्तद सी**=सदा समत्वदर्शी बनकर, सदा समत्व में रमण करने वाला होकर; **ण करेइ पाव** =पाप कर्मों का आचरण नहीं करता है ।

उसी प्रकार आत कदर्शी=कर्मों के आत क को भलीभाँति समझकर, कर्म स्वरूपको समझकर, उनसे सावधान रहने वाला आत कदर्शी कहा गया है । वह भी पाप कर्म का आचरण नहीं करता है । दशवै-कालिक सूत्र में यतना पूर्वक स यम प्रवृत्ति करने वाले को पापकर्म का ब ध नहीं करने वाला कहा है । क्यों कि वह यतना भाव में और आचरण में रमण कर रहा है । उसी प्रकार यहाँ समत्व में रमण करने वालों को और कर्मों से सावधान रहने रूप अप्रमत्त भाव में रमण करने वालों को भी पाप आचरण करने का निषेध किया है । जिससे पाप ब ध का निषेध तो स्वत: हो ही जाता है ।

विकल्प से सम्यग्दृष्टि अर्थ **समत्त** का किया जाता है और अपेक्षा से घटित भी किया जाता है । कि तु यहाँ शीतोष्णीय अध्ययन के प्रस ग में समत्व अर्थ अधिक उपयुक्त है और प्राचीन टीकाकार ने यह अर्थ किया भी है ।

निबंध–१३

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ का मतलब

अर्थ पर परा में इस सूत्र के शब्दों पर मात्र दृष्टिपात करके तत्त्व दृष्टि का अर्थ प्रचलित है । इस कारण कुछ प्रास गिकता समझने में कठिनाई होती है । इस आचारा ग सूत्र में शब्दों के अर्थ करने की जो पद्धति अनेक जगह स्वीकार की गई है उसी तरह यहाँ भी अन्य

प्रकार से शब्दार्थ किया जाय तो उक्त कठिनाई समाप्त हो सकती है ।

विचारणा :- इसी अध्ययन के प्रथम उद्देशक में एक वाक्य और उसका अर्थ इस प्रकार है- **पडिलेहिय सव्व समायाय** = यहाँ पर प्रतिलेखना शब्द का भावात्मक अर्थ किया गया है । सर्व शब्द का स ख्यात्मक अर्थ न करके सर्व विरति का स क्षिप्त रूप मानकर प्रस गानुकूल अर्थ किया है, उपरोक्त कर्म स ब धी 'स पूर्ण' स्वरूप को जान-समझकर, उसका विचार कर, **सव्व** =स यम=सर्वविरति को स्वीकार करना चाहिये ।

इसी विधि से प्रश्न गत सूत्र के पूर्व आत्मा की, कषाय की और स्वकृत कर्म क्षय की बात की गई है और उस सूत्र के बाद भी प्रमत्त अप्रमत्त साधक की बात की गई है । उससे आगे भी स पूर्ण उद्देशे में इन्द्रिय विजय, कर्मजय, स यमप्रेरणा आदि विषयों का स ग्रह है । अत: इस सूत्र का अर्थ भी प्रस ग अनुसार इस प्रकार करना चाहिये- जो एक आत्म स्वरूप को जान लेता है, आत्म तत्त्व को अच्छी तरह समझ लेता है अर्थात् आत्मा के जन्म-मरण, कर्मब ध, स सार भ्रमण और पुन: कर्मक्षय एव मुक्ति प्राप्त कर सकने तक की सभी अवस्थाओं को जान, समझ लेता है, हृदय में श्रद्धा से धारण कर लेता है वह **सव्व =सर्व विरति**=स यम को भी समझ लेता है । सच्चा श्रेष्ठ जानना वहीं है कि जिसके साथ उसका स्वीकारना अर्थात् आचरण करना भी होता है । इस प्रकार इस सूत्र का यह अर्थ हुआ कि- जो एक आत्मस्वरूप को समझ लेता है, वह स यमस्वरूप को भी समझ लेता है, स्वीकार कर लेता है । जो स यम को समझकर स्वीकार लेता है, वह आत्मा के स्वरूप को भली भाँति=अच्छी तरह जान समझ लेता है ।

यहाँ इस सूत्र के पहले और पीछे स यम का ही विषय है और अध्ययन भी 'शीतोष्णीय' स यम ग्रहण पालन स ब धी है । इसी के अनुरूप इसके आगे के सूत्र और उनके अर्थ इस प्रकार हक्त- **सव्वओ पमत्तस्स भय । सव्वओ अप्पमत्तस्स णत्थि भय ।-** प्रमादी को= स सारी को, पाप त्याग न करने वालों को सर्वत्र भय लगा रहता है ।

पाप त्यागी, स यमी, अप्रमत्त को कोई भय नहीं रहता है । वह सब तरह से निर्भय हो जाता है । अथवा सर्व प्रकार से जो प्रमाद में पडे हक्त उनको भय=कर्मब ध और दु:ख की प्राप्ति होती है और जो सर्वथा अप्रमत्त भाव, स यम भाव में लीन रहते हक्त, उन्हें कर्म ब ध और दु:ख रूप कोई भय नहीं होता है । यह प्रश्नोक्त सूत्र के बाद का सूत्र है । इसमें भी स यमलक्षी विषय का प्ररूपण है । इसके आगे- **जे एग णामे से सव्व णामे, जे सव्व णामे से एग णामे । -** जो एक आत्मा को वश में कर लेता है, उस पर काबू पा लेता है; वह मन एव इन्द्रिय सभी को वश में कर लेता है । जो मन और इन्द्रियों पर काबू पा लेता है वह अवश्य आत्मविजेता होकर आत्मदमन कर लेता है । यहाँ पर कषाय और कर्म को लेकर भी समझाया जाता है । उसमें अन तानुब धी और अन्य कषाय लिया जाता है अथवा मोह कर्म और अन्य कर्म लिया जाता है । फिर भी आत्मा मन और इन्द्रिय स ब धी अर्थ अधिक अनुकूल है ।

दुक्ख लोगस्स जाणित्ता, व ता लोगस्स स जोग , ज ति वीरा महा जाण , परेण पर ज ति, णावक ख ति जीविय ।- स सार के दु:खों को जानकर वीर पुरुष समस्त स सार स ब धी स योगों का त्याग कर स यम साधना में लग जाते हक्त और साधना में आगे से आगे बढते रहते हक्त । कभी भी पुन: अस यम जीवन की चाहना नहीं करते हक्त ।

एग विगि चमाणे पुढो विगि चइ, पुढो विगि चमाणे एग विगि चइ- जो एक क्रोध कषाय को दूर करने में, छोडने में सफल होता है वह अन्य मान माया लोभ कषाय को भी त्याग सकता है और जो अन्य मान, माया, लोभ आदि किसी को भी त्यागने में सफल होता है, वह क्रोध का भी त्याग कर सकता है । तात्पर्य यह है कि जो किसी भी एक कषाय को दूर करने में, उस पर विजय पाने में सफल हो सकता है, वह अन्य किसी भी कषाय पर विजय प्राप्त कर सकता है, आत्मा से उन्हें अलग कर सकता है । अन्यत्र भी कहा गया है- **विगि च कोह , अविक पमाणो, इम णिरुद्धाउय स पेहाए ।** यहाँ पर भी क्रोध को दूर करने में **विगि च** शब्द का प्रयोग किया गया है । इसी को लक्ष्य में रखकर ही ऊपर 'विगि च' शब्द का अर्थ किया गया है ।

सड्ढी आणाए मेहावी, लोग च आणाए अभिसमेच्चा, अकुओभय – बुद्धिमान साधक जिनाज्ञा में श्रद्धा करे और जिनाज्ञा के अनुसार श्रद्धा पूर्वक स सार भ्रमण स्वरूप को समझ कर, चि तन कर स यम स्वीकार करे अथवा सर्व जीवों को अभय दान दे ।

अत्थि सत्थ परेण पर , णत्थि असत्थ परेण पर ।– स सार में एक एक से बढकर पाप कार्य हक्त । कि तु समस्त पाप के त्यागरूप स यम तो एक ही है । हिंसा झूठ आदि विविध प्रकार के पाप हक्त जब कि उन सब का पूर्ण रूपेण त्याग की अपेक्षा स यम एक है । यहाँ स यमी के अस ख्य स यम स्थान रूप आत्म परिणामों की अपेक्षा नहीं है कि तु बाह्य पाप त्याग रूप स यम विधि की अपेक्षा है ।

इस प्रकार यह पूरा अध्ययन स यम आचार वाला है । तदानुसार "जे एग जाणइ से सव्व जाणइ"सूत्र का अर्थ स यम की अपेक्षा ही करना चाहिये ।

निबंध–१४

शरीर के प्रति उपेक्षा एवं अपेक्षा दोनों

इस अध्ययन में शरीर के प्रति उत्कृष्ट दर्जे की उपेक्षा और निर्मोह भावना युक्त आचरण का उपदेश दिया गया है । मानव शरीर को अनुपम अवसर समझकर इस शरीर से जितना अधिक तप स यम का सार निकल सकता है, निकाल लेना चाहिये । इस शरीर का तनिक भी मोह नहीं करके इसे ऐसी भावना से देखना चाहिए कि यों ही इसे लोगों के द्वारा जला दिया जायेगा तो फिर उसको पुष्ट करने की अपेक्षा तप से सुखा डालने में, कृश करने में और अ त में अस्थि प जर सा कर देने में बुद्धिमत्ता है । आगम शब्दों में मा स और खून को कम कर देने की, शरीर कृश कर देने की स्पष्ट प्रेरणा है तथा गन्ने को पीलने और दुबारा, तिबारा, प्रपीडन, निष्प्रीडन किया जाने के समान बारम्बार विकट तप के द्वारा मानव भव और मानव देह का पूरा कस(सार) निकालने का महान आदर्श उपदेश दिया गया है ।

इतने उत्कट विकट उपदेश प्रेरणा प्रवाह के साथ एक विवेक भी रखा गया है। जिसमें इतनी बडी शरीर उपेक्षाओं और निर्मोहता के

साथ अपेक्षा का तत्त्व भी निहित है । वह यह है कि इन महान वैराग्य पूर्ण विकट तप साधनाओ के साथ सबसे बडा विवेक यह भी होना चाहिये कि ज्ञान और वैराग्य से परिपूर्ण इस शरीर निरपेक्ष निर्मोह साधना में आत्मा के समाधि भावों की उच्चता, अ तर्मन की प्रसन्नता और उत्साह बराबर है या नहीं ? आत्म परिणाम, आत्म समाधि सु दरतम है तो उस उत्कट साधना को बढाते ही रहना चाहिये और यदि आत्म समाधि में, आत्म उच्च भावों में रुकावट प्रतीत हो, शारीरिक क्षमता का उल्ल घन हो तो कुछ शरीर को विराम देकर पुनः साधना को बलशील बनाने का विवेक रखना चाहिये । विवेक लक्ष्य नहीं होने पर अविवेक हो जाने पर कभी नुकशान भी हो सकता है ।

इस प्रकार सर्वज्ञोक्त इस जिनशासन में उत्कट और घोर साधना में भी विवेक सर्वत्र अपेक्षित है । अपनी वास्तविक क्षमता है तो घोर से घोर दुष्कर तप साधना के लिये भी निषेध नहीं, प्रेरणा ही है । ऐसे प्रेरक कुछ आगम वाक्य ये हक्त– **इह आणाक खी प डिए अणिहे, एग अप्पाण स पेहाए धुणे सरीर । कसेहि अप्पाण , जरेहि अप्पाण , जहा जुण्णाइ कट्ठाइ हव्ववाहो पमत्थइ । एव अत्तसमाहि, अणिहे ।**– जिनाज्ञा की आका क्षा, अपेक्षा रखने वाला प डित मुनि अपनी आत्मा के एकत्व का विचार कर शरीर से अपने भिन्नत्व का विचार कर शरीर को धुन डाले । मतलब यह है कि कर्म क्षय करने में शरीर को लगा देवे, कृश कर देवे, जीर्ण कर देवे । जिस तरह अग्नि जीर्ण काष्ट को शीघ्र नष्ट कर देती है, उसी तरह शरीर के माध्यम से कर्मों को नष्ट कर दे ।

यहाँ अ तिम वाक्य में विवेक और शरीर की अपेक्षा की बात कही है कि **एव अत्तसमाहिए–** इस प्रकार करते हुए भी समाधि का ध्यान रखे । कि तु **अणिहे–** शरीर के प्रति मोह भाव नहीं करते हुए ।

इस प्रकार शरीर की निर्मोहता के साथ आत्म समाधि=सहनशीलता = प्रसन्नता का भी निर्देश किया गया है । अन्य भी वाक्य इस प्रकार है – **आवीलए पवीलए णिप्पीलए, जहित्ता पुव्व स जोग, हिच्चा उवसम । विगि च म स सोणिय , एस पुरिसे दविए, वीरे, आयाणिज्जे वियाहिए ।**

जे धुणाइ समुस्सय , वसित्ता ब भचेर सि । भावार्थ प्राय: ऊपर कह दिया है । विशेष यह है कि स यमी को लक्ष्य करके यह उपदेश किया गया है । ऐसी शरीर निर्मोही उत्कट साधना करने वाले को आदर्श स यमवान, वीर, पूजनीय बताया गया है । जो स यम में(ब्रह्मचर्यवास में) स्थिर रहकर **'समुस्सय '** इस शरीर को और कर्म समूह को क्षय करने में लगा रहता है ।

यह आदर्श उपदेश उन मोक्ष साधकों के प्रति लक्ष्य वाला है, जिन्हें स यम ग्रहण करने के बाद कर्म क्षय कर शीघ्र मुक्ति प्राप्त करने मात्र के लक्ष्य से, इस मानव देह का उत्कृष्टतम सदुपयोग कर स पूर्ण लाभ प्राप्त करना होता है । कि तु जो स यम ग्रहण करने के बाद कर्म क्षय करने मात्र के लक्ष्य के साथ अनेक सामाजिक, ऐहिक उद्देश्यों में या शरीर प्रति निर्मोह भाव की कमी में तथा स वेग निर्वेद भाव की सुस्ती में प्रवहमान होते हक्त, उनके लिये उक्त आचरण अशक्य जैसा लगता है । मोक्ष प्राप्ति की उत्कृष्ट लगन और उत्साह के बिना उपरोक्त शरीर निर्मोहता की पराकाष्टा का आचरण स भव नहीं है ।

सुस्त उत्साह के साधकों को चाहिये कि वे अपने जीवन में पुन: इस सूत्र से प्रेरणा पाकर, ज्ञान चि तन एव वैराग्य के सि चन से अवशेष जीवन में या अ तिम जीवन में सूत्रोक्त निर्मोह भाव, आत्म जागृति को पैदा कर कर्मों का क्षय करने में अपनी पूर्ण शक्ति लगा देवे ।

निबंध-१५

संयम के संशय और बाधक स्थान एवं विवेक

उत्तराध्ययन सूत्र के १६ वें अध्ययन में दसविध ब्रह्मचर्य समाधि, सावधानी का वर्णन करने के बाद में १४ वीं गाथा में कहा है- **स का ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणव ॥**

अन्य भी समस्त श का स्थानों को अर्थात् ब्रह्मचर्य भावों के बाधक तत्त्वों को जानकर उनका पूर्णतया त्याग करे, वर्जन करे, उन प्रवृत्तियों से अलग रहे । उत्तराध्ययन की इस गाथा में आये **स का ठाणाणि** शब्द के अनुरूप यहाँ आचारा ग के इस अध्ययन में **स सय** शब्द से विषय प्रार भ किया गया है, यथा- **स सय परियाणओ, स सारे**

परिण्णाए भवइ । स सय =ब्रह्मचर्य परिणामों में स शयात्मक स्थिति पैदा करने वाले समस्त तत्त्वों को, **परियाणओ** अर्थात् ज्ञ परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका वर्जन करने वाला अर्थात् ऐसे समस्त श का स्थानों को, परिणामों को, चल विचल कर देने वाली प्रवृत्तियों-आचरणों को, समझकर उनका जो त्याग करता है, उनसे दूर रहता है और ब्रह्मचर्य के परिणामों को दृढ और निर्मल रखता है, वही **'स सारे परिण्णाए'**स सार का त्याग करने वाला अर्थात् स सार मुक्त होने वाला हो सकता है । जो ब्रह्मचर्य में श का पैदा करने वाली प्रवृत्तियों को समझे नहीं अथवा समझकर उनसे दूर रहे नहीं, अपने को उनसे सुरक्षित रखे नहीं, वह स सार का त्याग करने वाला याने मुक्ति प्राप्त करने वाला नहीं है ।

जे छेए=जो कुशल, विवेकी, मोक्षार्थी स यम साधक होते हक्त, **से सागारिय ण सेवइ**=वे कुशील का सेवन कदापि नहीं करते हक्त । कि तु कोई निष्फल साधक **कट्टु एव अविजाणओ**=मैथुन का सेवन करके भी अपने उस असद् आचरण को छिपाता है, गुरु के समक्ष भूल प्रकट कर, आलोचना कर शुद्धि भी नहीं करता । वह उसकी **बिइया म दस्स बालया**=म दबुद्धिवाले=समय पर विवेक से आत्मस यम या आत्मरक्षा नहीं कर सके, इसलिये विवेक बुद्धिहीन है । ऐसे साधकों की द्वितीय अज्ञानता=मूर्खता है कि जो दोष की शुद्धि भी नहीं करे या पूछने पर भी अनजान बन जावे, वह स्वय के लिये ही कर्मों से भारी बनने में दुहरा अपराध हो जाता है । इसलिये स यम साधना में तत्पर साधक को पहले से ही सावधान रहना चाहिये अर्थात् श का स्थान= ब्रह्मचर्य के स शयकारी स्थानों से सावधान रहते हुए **लद्धा हुरत्था**= कदाचित् काम भोग सेवन के स योग या परिणाम उपस्थित हो जाय तो भी **पडिलेहाए आगमित्ता**=चि तन अनुप्रेक्षणपूर्वक अपने कर्तव्य को जानकर या गुप्त दोष सेवन के परिणाम का विचार कर, **आणविज्जा अणासेवणयाए**=अपनी आत्मा को कुशील सेवन नहीं करने के लिये ही आज्ञापित करे, आज्ञा दे अर्थात् आत्मा पर अनुशासन-अ कुश रखकर कदापि कुशील सेवन नहीं करे ।

पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे- स्त्री के रूपों मे आसक्त

होकर विविध परिणति में परिणत होने वाले कई एक जीवों को या साधकों को देखो कि उनकी क्या दशा होती है ? **एत्थ फासे पुणो पुणो–** वे बार बार कष्टों को प्राप्त करते हक्त । उन्हें इस भव में अपमान, असम्मान और विविध यातनाएँ तथा तिरस्कार की प्राप्ति होती है । भवा तर में दुर्गति के अनेक दु:खों को भुगतना पडता है । यह जानकर स शयकारी स्थानों को, ब्रह्मचर्य में खतरे की स्थिति पैदा करनेवाली प्रवृत्तियों को जानकर एव समझकर उनका त्याग करने में सावधान रहना चाहिये । ऐसी सावधानी रखने वाला साधक निराबाध रूप से ब्रह्मचर्य में सफल हो सकता है ।

प्रश्न– बाधाकारी–स शयकारी स्थान कौन से हक्त ?

उत्तर–यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत अध्ययन में नहीं है कि तु उत्तराध्ययन सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, प्रश्नव्याकरण सूत्र एव आचारा ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्क ध के भावना अध्ययन में उन स शयों का, खतरों का वर्णन है । उसका सार यह है कि ब्रह्मचर्य साधक (१) स्त्री स पर्क न बढावे (२) उनके शरीर या अ गोपा ग देखने में चित्त या दृष्टि न लगावे (३) तत्स ब धी चि तन चर्चा न करे (४) अत्यावश्यकताओं को छोडकर स्त्रियों से सदा दूर रहे (५) आहार की मर्यादा का, विगय सेवन के त्याग का और तपस्या करने का ध्यान रखे, लक्ष्य रखे तथा उणोदरी तप करने का लक्ष्य रखे (६) शब्द, रूप, ग ध, रस, स्पर्श इन पाँचों इन्द्रिय विषयों से भी उदासीन भाव बढाता रहे, उनके प्रवाह में नहीं बहे । आगम स्वाध्याय चि तन मनन ध्यान करता रहे । आत्मार्थ प्रेरक आगम उपदेश वाक्यों से आत्मा के स यम ब्रह्मचर्य के परिणामों को पुष्ट करते हुए जीवन पर्यंत उच्च आराधना में लगा रहे ।

प्रश्न– ब्रह्मचर्य में बाधा उत्पन्न करनेवाले, ब्रह्मचर्य समाधि परिणामों में स शय युक्त स्थिति रूप चल-विचल परिणाम कर देने वाले प्रस गों के प्रति पहले से ही सावधानी रखने हेतु उपरोक्त उपदेश विषय सूचित किया गया है । कि तु यदि किसी भी प्रकार की असावधानी हो जाने से चल विचल परिणाम उत्पन्न हो जाय तो क्या करना चाहिये ?

उत्तर– ऐसी परिस्थिति में अनाचार सेवन–कुशील सेवन कदापि नहीं करना चाहिये । कि तु चल-विचल परिणामों की चिकित्सा इस विधि से करना प्रार भ कर देना चाहिये–**उबाहिज्जमाणे गाम धम्मेहिं**=इन्द्रिय स्वभाव से प्रबल बाधित हो जाने पर, प्रबल रूप से काय परिचारणा हेतु पीडित हो जाने की स्थिति उपस्थित हो जाने पर अर्थात् चित्त की आकुलता व्याकुलता कुशील सेवन के लिये अ त:करण को उत्प्रेरित करने लग जाय तो साधक को विलम्ब किये बिना योग्य चिकित्सा का तत्काल निर्णय लेकर उसे कार्यान्वित कर देना चाहिये । **१. अवि णिब्बलासए**=भोजन पदार्थों में अत्य त सामान्य पदार्थ ही ग्रहण करे । समस्त मनोज्ञ स्वादिष्ट विशिष्ट पदार्थों का त्याग कर अल्प द्रव्यों से ही आहार पूर्ण करे । **२. अवि ओमोयरिय कुज्जा**=अत्य त जरूरी होने पर बहुत कम भोजन करके चला देवे, अत्यधिक उणोदरी करे। **३. अवि उड्ढ ठाण ठाएज्जा**=यदि और आवश्यकता हो तो निर तर अधिक से अधिक खडा रहे, कि तु बैठे या सोवे नहीं । **४. अवि गामाणुगाम दूइजेज्जा**=अथवा तो ग्रामानुग्राम विहार कर देवे । **५. अवि आहार वोच्छि देज्जा**= अथवा तो आहार का स पूर्ण त्याग रूप तपस्या प्रार भ कर दे या आजीवन अनशन कर लेवे । **६. अवि चए इत्थीसु मण** = किसी भी प्रकार से, जिस तरह भी स भव हो स्त्री के सेवन से मन को निवृत्त कर लेवे ।

स्त्री स सर्ग–विषय सेवन में कभी तो कल्पित सुख से पहले दु:ख होता है और कभी कल्पित सुख के बाद दु:खों का सामना करना पडता है । इस प्रकार ये स्त्री सुख आत्मा के लिये महान अशा ति और कर्म ब ध की वृद्धि कराने वाले हक्त क्यों कि इसमें मोह के उदय से तीव्र आसक्ति और अविवेक प्रमुख बन जाता है । अत: आत्म साधकों को भलीभाँति विचार कर भावी दु:खद परिणामों को जानकर विषय सेवन नहीं करने में ही आत्मा को अनुशासित करने में सफल रहना चाहिये । विवेक युक्त कोई भी निर्णय लेकर अनाचार से आत्मा की सुरक्षा कर लेनी चाहिये । इस स ब धी मूल पाठ इस प्रकार है– **पुव्व द डा पच्छा फासा, पुव्व फासा पच्छा द डा । इच्चेते कलहा स गकरा भव ति । त पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए ।**

से णो काहिए, णो पासणिए, णो स पसारए, णो मामए, णो कयकिरिए, वईगुत्ते, अज्झप्पस वुडे परिवज्जइ सया पाव , एव मोण समणुवासिज्जासि । फिर भविष्य में कभी स्त्री स ब धी कथा विकथा न करे, काम कथाएँ न करे । वासनापूर्ण या आसक्ति दृष्टि से स्त्रियों को न देखे । परस्पर स्त्रियों से स पर्क लेन देन आदि न करे । उनके प्रति ममत्व अथवा रागभाव नहीं बढावे । शरीर का साजसज्जा, विभूषा वृत्ति न करे कि तु वाचालता कम करके मौन रखे, वचन में विवेक करे । परिणामों को स वृत करे, अशुभ में न जाने दे, शुभ में स लग्न रखे । ज्ञान वैराग्य के स स्कारों की वृद्धि करके आत्म परिणामों को परम पवित्र रखे और पाप का सदा वर्जन करे । इस प्रकार साधुत्व भाव का सम्यक् पालन करे ।

इस सूत्र के आठवें अध्ययन में अ तिम एक चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि किसी भी प्रकार से सुरक्षा कर सकना अस भव सा हो जाय तो ब्रह्मचर्य भ ग न करने के आगम आदेश परिणामों से भावित अ त:करण युक्त होकर फाँसी आदि कोई भी योग्य विधि से अपना जीवन समाप्त करना भी स्वीकार कर ले । कि तु स्त्री सेवन-कुशील सेवन में अपनी आत्मा को कदापि न लगावे । **तवस्सिणो हु त सेय , ज एगे विहमाइए, तत्थावि तस्स काल परियाए, से वि तत्थ विअ तिकारए ।** ऐसा करने पर मृत्यु प्राप्त हो जाय तो भी वह आराधक है, कर्मों का अ त करने वाला होता है ।

निबंध-१६

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो

इस अध्ययन के दूसरे उद्देशे में कहा गया है कि- **से सुय च मे, अज्झत्थिय च मे, ब ध पमोक्खो अज्झत्थेव-** मक्तने सर्व्ज्ञों से श्रवण करके, विचारणा और अनुभव करके भी समझा है कि जीवों के कर्मों का ब ध और उनका क्षय आत्मपरिणामों से, विचारों से ही होता हक्त आत्म परिणाम सूक्ष्म दृष्टि है और स्थूल दृष्टि से उसे ही चि तन, मनन कहा जाता है । चि तन मनन मनरूप साधन से होता है । शुभाशुभ आत्म परिणाम एकेन्द्रिय आदि सभी जीवों के होते हक्त ।

व्यवहार दृष्टि या स्थूल दृष्टि में मन के मनन और आत्मा के परिणाम को अलग अलग समझना कठिन होने से दोनों को एक ही कर दिया जाता है । अत: अपेक्षा से दोनों की समानता समझकर समन्वय किया जा सकता है । अपेक्षा से मन योग के अभाव में एकेन्द्रिय आदि को आत्म अध्यवसायों-परिणामों से और काय योग के माध्यम से या वचनयोग के माध्यम से भी अल्प कर्म ब ध होता है ।

यहाँ उक्त सूत्र में गणधर प्रभु ने अपने लिये मक्त शब्द का प्रयोग किया है तथा चि तन और आत्म परिणाम दोनों को उसी **'अज्झत्थ'** शब्द से कहा है ।

निबंध-१७

शास्त्रों मे १६ रोग और वर्तमान के रोग

इस अध्ययन के प्रथम उद्देशे में बडे रोगों का वर्णन इस प्रकार है- (१) गण्डमाला (२) कोढ (३) राजयक्ष्मा=क्षय रोग (४) अपस्मार = मृगी रोग (५) काणत्व (६) जडता=लकवा (अ गोपा ग चेतना शून्य हो जाना) (७) कूणित्व=हाथों की विकलता (८) कूबडापन (९) उदर रोग-अनेक प्रकार के होते हक्त । (लीवर खराबी,गैस, एसिडीटी) (१०) गूँगापन (११) शोथ=सूजन होना (१२) भस्मक रोग (१३) कम्पन्न रोग (१४) प गु=पाँव विकलता (१५) श्लीपद=हाथीपगा(स्थूल पा व) (१६) मधुमेह=पेशाब स ब धी रोग, डायाबीटीज आदि सोलह की स ख्या के साथ ये रोग बताये हक्त । इससे अतिरिक्त अनेक आत क होते हक्त, जो तत्काल मृत्यु तक पहुँचा देते हक्त । अत: उपरोक्त रोग तो लम्बे समय चल सकते हक्त । तत्काल मृत्यु देने वाले रोगों को यहाँ आत क शब्द से कहा है । कि तु उनका विवरण नहीं दिया है । १६ बडे रोगों का निर्देश शास्त्रों में अनेक जगह आता है । वर्तमान में विविध प्रकार के रोगों के नाम प्रचलित हक्त । उनमें से अनेकों का इन १६ में समावेश हो जाता है । अवशेष रहने वाले कई तो सामान्य छोटे रोगों में गिने जायेंगे और कई आत को में गिने जायेंगे । इस प्रकार वर्तमान के प्रचलित रोगों का समन्वय कर लेना चाहिये ।

[illegible]

... के बाद बिना अनुप्रेक्षा और परिवर्तनादि का विच्छेद हो गया है ।

प्रश्न-१८

शास्त्र के मूल के अध्ययन का विच्छेद क्यों

महापरिज्ञा नामक सातवाँ अध्ययन आज उपलब्ध नहीं है । [illegible]

प्रश्न-१९

अनुप्रेक्षा का महत्त्व आगम में

[illegible]

ईसरे आश्वलायन के औल्पन्न अईकाह्य में ठीक अनुसार ही ठीक आश्वलायन गृह्यसूत्र

द्वितीय शीलाल गृह्य प्रवेशक

पृष्ठ- ४०

शीलाल शिक्षाएं का कुछ समाधान हो सकता ।

शीलाल को ठीक प्रकार से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम शीलाल के गृह्य संस्कार को भी समझें । शीलाल आश्वलायन शाखा के ब्राह्मण थे । उनके गृह्य संस्कार भी उसी शाखा के अनुसार थे । शीलाल ने गृह्य संस्कारों के संबंध में जो कुछ लिखा है उसका सार यहां दिया जा रहा है । इससे पाठकों को शीलाल के विचारों को समझने में सहायता मिलेगी ।

शार- इस अध्याय में शीलाल ने गृह्य संस्कारों के संबंध में जो कुछ लिखा है उसका संक्षिप्त सार यहां दिया जा रहा है । इससे पाठकों को शीलाल के विचारों को समझने में सहायता मिलेगी ।

शीलाल ने गृह्य संस्कारों के संबंध में जो कुछ लिखा है उसका सार यह है कि गृह्य संस्कार करने के लिए पहले एक अग्निहोत्र गृह की आवश्यकता होती है । इस गृह में तीन अग्नियों की स्थापना की जाती है । इन अग्नियों के नाम हैं- गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि । इन अग्नियों की स्थापना के बाद ही गृह्य संस्कार किए जा सकते हैं ।

गृह्य संस्कारों के लिए कुछ विशेष नियमों का पालन करना आवश्यक है । जैसे- संस्कार के दिन उपवास रखना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, और संस्कार के बाद कुछ विशेष नियमों का पालन करना । इन नियमों का पालन करने से संस्कार का पूर्ण फल प्राप्त होता है ।

ईसरे आश्वलायन के औल्पन्न अईकाह्य में ठीक अनुसार ही ठीक आश्वलायन गृह्यसूत्र

शीलाल ने गृह्य संस्कारों के संबंध में जो कुछ लिखा है उसका सार यहां दिया जा रहा है । शीलाल के अनुसार गृह्य संस्कार करने के लिए पहले एक अग्निहोत्र गृह की आवश्यकता होती है । इस गृह में तीन अग्नियों की स्थापना की जाती है । इन अग्नियों के नाम हैं- गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि । इन अग्नियों की स्थापना के बाद ही गृह्य संस्कार किए जा सकते हैं ।

गृह्य संस्कारों के लिए कुछ विशेष नियमों का पालन करना आवश्यक है । जैसे- संस्कार के दिन उपवास रखना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, और संस्कार के बाद कुछ विशेष नियमों का पालन करना । इन नियमों का पालन करने से संस्कार का पूर्ण फल प्राप्त होता है ।

शीलाल ने गृह्य संस्कारों के संबंध में जो कुछ लिखा है उसका सार यह है कि गृह्य संस्कार करने के लिए पहले एक अग्निहोत्र गृह की आवश्यकता होती है । इस गृह में तीन अग्नियों की स्थापना की जाती है । इन अग्नियों के नाम हैं- गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि । इन अग्नियों की स्थापना के बाद ही गृह्य संस्कार किए जा सकते हैं ।

शार- इस अध्याय में शीलाल ने गृह्य संस्कारों के संबंध में जो कुछ लिखा है उसका संक्षिप्त सार यहां दिया जा रहा है । इससे पाठकों को शीलाल के विचारों को समझने में सहायता मिलेगी ।

पृष्ठ- ४०

द्वितीय शीलाल गृह्य प्रवेशक

शीलाल ने गृह्य संस्कारों के संबंध में जो कुछ लिखा है उसका सार यहां दिया जा रहा है । शीलाल के अनुसार गृह्य संस्कार करने के लिए पहले एक अग्निहोत्र गृह की आवश्यकता होती है । इस गृह में तीन अग्नियों की स्थापना की जाती है । इन अग्नियों के नाम हैं- गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि । इन अग्नियों की स्थापना के बाद ही गृह्य संस्कार किए जा सकते हैं ।

गृह्य संस्कारों के लिए कुछ विशेष नियमों का पालन करना आवश्यक है । जैसे- संस्कार के दिन उपवास रखना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, और संस्कार के बाद कुछ विशेष नियमों का पालन करना । इन नियमों का पालन करने से संस्कार का पूर्ण फल प्राप्त होता है ।

शीलाल ने गृह्य संस्कारों के संबंध में जो कुछ लिखा है उसका सार यह है कि गृह्य संस्कार करने के लिए पहले एक अग्निहोत्र गृह की आवश्यकता होती है । इस गृह में तीन अग्नियों की स्थापना की जाती है । इन अग्नियों के नाम हैं- गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि । इन अग्नियों की स्थापना के बाद ही गृह्य संस्कार किए जा सकते हैं ।

शार- इस अध्याय में शीलाल ने गृह्य संस्कारों के संबंध में जो कुछ लिखा है उसका संक्षिप्त सार यहां दिया जा रहा है । इससे पाठकों को शीलाल के विचारों को समझने में सहायता मिलेगी ।

ਸ਼ ਨਸਦਪਾਮਿਹ ਨਵੁਜ ਸਹੁਤ ।

ਭੁਯਰ ਸਾਜਸਾਂਮਿਹ ਸ਼ ਸਾਪਯਾਂਮਿਹ ਸ਼ਾਮੁਰ ਸਾਰ ਸਹੁਤ ਸਾਰ ਸਹੁਤ ਸਾਰ ਸਹੁਤ

निबंध-२१

'जामा तिण्णि उदाहिया' का अर्थ अनेकांतिक

इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक में निम्न सूत्र में सिद्धा त की अनेका तिकता आचार के रूप में बताइ गई है, जिसे महान विवेक भी कहा गया है। **एस मह विवेगे वियाहिए- गामे अदुवा रण्णे, णेव गामे, णेव रण्णे धम्म । जामा तिण्णि उदाहिया, जेसु इमे आयरिया स बुज्झमाणा समुट्ठिया ।** स यम और तप साधना ग्राम में अथवा वन में कहीं भी हो सकती है। एका तरूप से वन में ही हो, ऐसा आग्रह या एका त कथन नहीं होना चाहिये। यदि भावों की शुद्धि, पवित्रता, विवेक और आत्म निग्रह में सावधानी है, तो उभयत्र साधना शक्य है। यदि स्वय की सावधानी, विवेक और भावों की पवित्रता नहीं है, तो गाँव में रहो चाहे ज गल में, कहीं भी स यम की सफलता नहीं हो सकती। यह अनेका तदर्शन है।

बाल, युवान और वृद्ध ये जीवन की तीन अवस्थाएँ है। इनमें से किसी भी अवस्था में बोध पाकर स न्यास, स यम ग्रहण किया जा सकता है। सावधानी प्रबल हो तो किसी भी अवस्था में स यम की सफलता मिल सकती है। कि तु ऐसा कोई एका त नियम नहीं किया जा सकता कि 'वृद्धावस्था में ही स न्यास-स यम ग्रहण करना चाहिये और बाल वय में या जवानी में दीक्षा नहीं लेना'। जैनागम ऐसे एका तिक निर्देश नहीं करके वैकल्पिक विधान करते त्त्ह। तीनों वयों के साधक साधना का सुअवसर पाकर सफल साधना कर सकते हक्त और विवेक और सावधानियों की कमी होने के कारण कोई भी अवस्था में दीक्षित साधक साधना में असफल हो जाता है। मान, सम्मान, विषय, कषाय में डूब सकता है। अत: वय का भी आग्रह जैनागम नहीं स्वीकारते, कि तु, निर्णय का विवेक और सावधानी का विवेक रखने की सर्वत्र प्रेरणा की जाती हक्त।

निबंध-२२

वस्त्र धोना, रंगना क्या

वस्त्र स ब धी विशिष्ट अभिग्रह धारण करने वाले सूत्रोक्त उन

साधकों को वस्त्र ग्रहण करने के बाद, उसे है जैसा ही अर्थात् मिला जैसा ही उपयोग में लेना होता है। धोना, सीना या नील आदि पदार्थ लगाना वगैरह कोई भी वस्त्र परिकर्म वे नहीं कर सकते। सामान्य साधु भी वस्त्रों को र गते नहीं है तो अभिग्रहधारी साधुओं को वस्त्र र गने का कोई कारण नहीं होता। अत: वस्त्र धोने के साथ जो र गने का स केत है वह धोने के बाद सफेदी या नील, आदि पदार्थ लगाये जाते हक्त उन्हें ही यहाँ 'र गने' शब्द से कहा गया है।

इन रखे गये वस्त्रों पर वे साधक किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं रखते एव चोरी आदि के भय से उन्हें छिपाकर के भी नहीं रखते।

वस्त्रों को धोने या र गने की सूत्राज्ञा का आशय :- इस अध्ययन में वस्त्र को धोने र गने का निषेध और विधि भी कही है। इनका सूत्राशय और सूत्राज्ञा इस प्रकार समझना चाहिये- जब साधु वस्त्र को ग्रहण करता है तब उसे शक्य और सुलभ स्थिति में ऐसे ही विवेक से वस्त्र लेना चाहिये कि वह वस्त्र ग्रहण करके सीधा उपयोग में लिया जा सके। वस्त्र को लेते ही उसके स ब धी परिकर्म धोना आदि या सीवन आदि न करना पडे ऐसा ध्यान रखकर वस्त्र लेना। इसी कारण जहाँ वस्त्र नया ग्रहण करने का विधान किया जाता है वहीं पर **न धोएज्जा, न रएज्जा** पाठ रहता है अर्थात् जैसा तैसा वस्त्र ले लेना फिर उसे धोना या नील वगैरह लगाकर दाग आदि को नहीं दिखने योग्य बनाना, ऐसी प्रवृत्ति सामान्यत: नहीं करनी पडे, यह विवेक अवश्य रखना चाहिये। यह आशय सूत्रकार का स्पष्ट रूप से और सही रूप से समझने योग्य है। सामान्य और स्थविरकल्पी साधुओं को वस्त्र धोने का सर्वथा निषेध करने का सूत्रकार का आशय नहीं है।

वस्त्र ग्रहण के बाद के सूत्रों में प्रथम उद्देशक में स्पष्ट कर दिया गया है कि ग्रहण करने के बाद 'मुझे वस्त्र पुराना और अमनोज्ञ ग ध वाला मिला है' ऐसा सोचकर अल्प या अधिक परिमाण में वस्त्र धोना, सुग धित करना आदि प्रवृत्ति नहीं करे। ऐसा निषेध करने के बाद फिर वस्त्र कहाँ नहीं सुखाना, इसकी विधि कही है, जिसका तात्पर्य स्पष्ट है कि पहनने योग्य वस्त्र उपयोग में लेने के बाद कभी

भी उन्हें धोना आवश्यक होने पर उसे सुखाना हो तो योग्य स्थलों पर सुखाना, अयोग्य जगह पर नहीं सुखाना ।

निशीथ सूत्र में प्रायश्चित्त विधानों में समस्त प्रकार से वस्त्र धोने मात्र का प्रायश्चित्त नहीं कहकर, विभूषा के लिये वस्त्र आदि धोने का प्रायश्चित्त कहा है । उससे भी वस्त्र धोने का एका त निषेध नहीं होता है । अत: जो निषेध है वह नये ग्रहण करते समय विवेक से ग्रहण करने की सूचना के आशय से है । सामान्य विधान और वस्त्रधारी साधु के प्रस ग के सूत्र को जिनकल्पी के लिये कह देना भी अप्रास गिक होता है ।

निबंध-२३

बाह्य साधना और आभ्यंतर साधना एक चिंतन

आचा॰आठवें अध्ययन के पाँचवें, छट्ठे और सातवें उद्देशक में आहार स ब धी अभिग्रह का वर्णन है तथा चौथे से सातवें तक चारों उद्देशकों के प्रार भ में वस्त्र स ब धी अभिग्रह का वर्णन है । ये अभिग्रह स्थूल दृष्टि से बाह्यतप ऊणोदरी और वृत्ति स क्षेप तप में समाविष्ट होते हक्त तथापि इनके साथ जो सहिष्णुता, लोक प्रवाह या लोकरुचि त्याग, शरीर के प्रति मोह त्याग एव निस्पृहता, सुखैषिता का त्याग एव जिनाज्ञा में रमणता आदि से परिमाणों की विशुद्धि एव आर्त रौद्र ध्यान से रहित होकर धर्म शुक्लध्यान में ही आत्मा का लगे रहना, साथ ही अभिग्रहधारी उन साधकों का रात-दिन अप्रमाद भाव से स्वाध्याय तथा कायोत्सर्ग में लगे रहना इत्यादि अनेक आभ्य तर तप साधनाएँ होती है । कर्मों से मुक्त होने का मुख्य लक्ष्य होने से वे अभिग्रहधारी उच्चकोटि के श्रमण निर तर महान कर्मों की निर्जरा करते हुए विमोक्ष नामक इस अध्ययन में सूचित ये स पूर्ण कर्म विमोक्ष कराने वाली साधनाएँ करते हक्त । जो स्थूल एव सूक्ष्म दोनों दृष्टियों से देखने पर द्रव्य-भाव उभयात्मक साधना वाली प्रवृत्तियाँ हक्त,साधनाएँहक्त, ऐसा समझना एव श्रद्धा करना चाहिये । कि तु केवल एक ही दृष्टि से देखकर सोचकर, बाह्य प्रवृत्ति मात्र है, ऐसा कह कर, इन उत्तम विमोक्ष दायक साधनाओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । ये साधनाएँ स्थूल दृष्टि से बाह्य दिखते हुए भी, शरीर के प्रति आसक्ति, ममत्व को घटाने

वाली और देह में रहते हुए देहातीत अवस्था को तथा स सारस्थ होते हुए स सारातीत, स सार व्यवहारातीत अवस्था को देने वाली है ।

सार यह है कि छोटी या बडी, कठिन या सरल, किसी भी जिनाज्ञा वाली साधना के साथ सम्यग्ज्ञान, सम्यक्श्रद्धान तथा सम्यक् प्ररूपणा है, सम्यग् लक्ष्य है, तो वे सभी साधनाएँ आत्मा के लिये द्रव्य-भाव उभययुक्त होकर मुक्ति तक पहुँचाने वाली है । अत: जब जैसा स योग, अवसर और उत्साह हो तब सम्यक् श्रद्धा और सम्यग् लक्ष्य के साथ सूत्रोक्त किसी भी साधनाओं को स्वीकार कर अपनी म जिल में आगे बढते रहना चाहिये । चाहे वे स्थूल दृष्टि से आभ्य तर हो या बाह्य, द्रव्य रूप हो या भाव रूप, कि तु यदि तीर्थंकर प्रभु ने उसे उपादेय बताई है, आगम रूप जिनवाणी में जो आचरणीय कही गई है, वे सभी साधनाएँ मोक्ष हेतुक ही है, ऐसी दृढ आस्था रखनी चाहिये । तीर्थंकर प्रभु जैसी उच्च आत्माएँ भी गृहत्याग, महाव्रत ग्रहण प्रतिज्ञा, केश लोच, पैदल भ्रमण, भिक्षावृत्ति, अस्नान, अद तधावन, विविध अभिग्रह एव उपवास आदि विकट तपस्या इत्यादि स्थूल दृष्टि से बाह्य दिखने वाली साधनाएँ स्वय स्वीकार करते हक्त तथा उपदेश द्वारा अन्य मुमुक्षु प्राणियों को श्रावकव्रत-नियम, सामायिक, पौषध, उपभोग- परिभोग के पदार्थों की मर्यादा एव गृहत्याग का उपदेश देकर स यम स्वीकार करवाते हक्त । बाह्य लि ग वेशभूषा, मुखवस्त्रिका आदि ग्रहण कराते हक्त और प्रत्याख्यान के पाठ का उच्चारण भी कराते हक्त । इन सभी द्रव्य साधनाओं के साथ ज्ञानियों की दृष्टि में सूक्ष्म दृष्टि से भावों की साधना, अ तर्निहित होती है । ये साधनाएँ तीर्थंकरों एव महान आत्माओं द्वारा आसेवित है, उपादेय है और सर्वथा हितावह है । अत: जिनाज्ञा में निर्दिष्ट ये धर्म साधनाएँ किसी दृष्टि से उपेक्षा करने योग्य नहीं कही जा सकती । फिर भी मात्र एका त भाववादिता का चश्मा चढाकर कोई अपने आप को महा वीतरागदशा में समझकर, देशविरति, सर्वविरति की एव १२ भेदे तप रूप किसी भी साधनाओं की, व्रत-नियमों की उपेक्षणीयता सिद्ध करे, इन जिनाज्ञा की साधनाओं के महत्व को गिराने का प्रयत्न करे तो वह उसकी एका तवादिता है, एका तिकदृष्टि

है । एव तीर्थंकरोक्त सर्वविरति एव देशविरति धर्म की किसी भी प्रकार से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अवहेलना करना है । ऐसे व्यक्ति अपने आप को भले वीतराग साधक समझने का स तोष करे, कि तु सच्चे अर्थों में वे सर्वज्ञोक्त मार्ग की सच्ची श्रद्धा से भी कोषों दूर हो जाते हक्त । क्यों कि वे अपनी एका तिक भाववादिता के आग्रह में तीर्थंकरों की और जिनवाणी रूप आगमों की भी अधिकतम उपेक्षा ही करते हक्त तथा अपने ही विचारों म तव्यों का सम्मान बढाते रहते हक्त, आगम और आगम आज्ञा को भुलाते जाते हक्त । अत: आत्महितैषी साधकों को ऐसे एका त भावों की उच्चता के चक्कर में न आकर द्रव्य-भाव के सुमेल से युक्त जिनेश्वर कथित व्रत-नियम, अभिग्रह एव महाव्रतों की साधना से दूर नहीं भागना चाहिये, उनका त्याग नहीं कर देना चाहिये, कि तु उनकी अभिवृद्धि करते हुए भावों को विशुद्ध विशुद्धतर बनाने का, हृदय को पवित्र पवित्रतम बनाने का एव जीवन में करुणा, नम्रता, सरलता, गुणग्रहणता आदि गुणों की अभिवृद्धि करते हुए, शरीर के ममत्व को घटाते हुए, कष्ट सहिष्णुता को बढाते हुए, कषाय मुक्त, सहज, सरल जीवन बनाने का प्रयत्न करना चाहिये और आगम ज्ञान में अभिवृद्धि करके उसी के स्वाध्याय अनुप्रेक्षण में आत्मा को ए कमेक कर देना चाहिये । बहिर्मुखी चि तनो को मोडकर उन्हें अ तर्मुखी बनाते रहना चाहिये । इस प्रकार द्रव्य और भाव के सुमेल से युक्त जिनाज्ञामय साधना ही सच्चे अर्थों में मोक्षदायक बन सकती है । स सार में अनेक बुद्धि कौशल वाले मानव एका त मार्ग बताते रहते हक्त । पुण्यवान साधकों को अनेका तिक सर्वज्ञोक्त मार्ग में स्थिरता के साथ गतिमान रहना चाहिये ।

निबंध-२४

सचित्त और सचित संयुक्त खाद्य विवेक

किसी भी पदार्थ को जैसे कि- शक्कर मिष्टान्न आदि को स देह रहित होकर विश्वास से लेने पर उसमें कीडियाँ हो सकती हक्त । अन्य पदार्थों में कु थुए, अनाज के जीव, लट आदि भी हो सकते हक्त, ये त्रस जीव बिना ध्यान से पात्र में खाद्य पदार्थ के साथ आ सकते हक्त ।

अनेक दिन पुराने खाद्य पदार्थों में लीलन फूलन भी आ सकती है । यथा- आचार, मुरब्बे या मिठाई आदि में । ग्रहण करते समय स देह नहीं होने से, भूल हो जाने से, ऐसे पदार्थ ग्रहण हो जाते हक्त। लड्डु, बर्फी आदि के भीतर भी फूलण हो सकती है जो बाहर से स्वाभाविक सहज रूप से नहीं दिखती है ।

शक्कर आदि अचित्त सूखे पदार्थों के साथ जीरा आदि सचित्त बीज भी आ सकते हक्त । खसखस के दाने, राई(सरसों) भी किसी पदार्थ में मिल जाने से आ सकते हक्त । कई चीजों को अचित्त, शस्त्र परिणत समझकर ग्रहण करने में आ जाते है, फिर सचित्त अशस्त्र परिणत होने का मालुम पडता है ।

बिना उबाली हरी वनस्पति धनिया पत्ती वगैरह किसी खाद्य पदार्थ के साथ आ सकती है । यथा- खमण आदि पर डाली गई धनिया पत्ती वगैरह । इसी प्रकार ककडी, दूधी आदि बिना उबाली किसी प्रकार के राइते में या अलग से लेने में आ सकती है ।

कोई भी गीले खाद्यपदार्थ का रसस्वाद बिगड गया हो, खट्टा या मीठा विकृत स्वाद बन गया हो तो उसमें रसज जीव उत्पन्न हो जाते हक्त । मिठाई या अन्य खाद्य रोटी आदि में भी स्वाद या ग ध बिगड जाने पर या दही दूध भी खराब हो जाने पर रसज जीव हो जाते हक्त । ऐसे पदार्थ भी भूल से लेने में आ जाते हक्त । इस प्रकार त्रस जीव, बीज, फूलन, हरित आदि से युक्त आहार सचित्त या सचित्त स युक्त ग्रहण करने में आ सकते हक्त ।

विवेक :- त्रस जीव का और सूखे पदार्थ में बीज का निकलना, शुद्ध हो जाना स भव हो तो निकाल कर अचित्त खाद्यपदार्थ का उपयोग किया सकता है । फूलन और रसज जीव वाले पदार्थ तो अखाद्य अपथ्य अर्थात् विकृत होने से परठने योग्य होते हक्त । हरित वनस्पति के टुकडे या पत्ते कभी निकाले जा सकते हक्त तब अलग करके शेष आहार का उपयोग किया जा सकता है । अचित्त पानी में कभी त्रस जीव हो सकते हक्त, उन्हें छान कर शोधन करके पानी अचित्त हो तो उपयोग किया जा सकता है । उन छाने हुए त्रस जीवों को विवेक से जलीय स्थानों मे परठ दिया जा सकता है ।

कभी सचित्त जल भूल से आ जाय तो उसे दाता को वापिस किया जा सकता है । वैसे ही भूल से किसी वस्तु के साथ सचित्त पदार्थ पात्र में गिर जाय अथवा कोई अविवेक से डाल दे तो उसी समय वापिस किया जा सकता है । शक्कर की जगह पीसा हुआ सचित्त नमक आ जाय तो वापिस दिया जा सकता है । ये पदार्थ दाता वापस लेना नहीं चाहे तो परठने की विधि से परठ दिया जाता है अर्थात् पानी को जलीय स्थान के निकट या पात्र सहित परठ दिया जाता है । अन्य सचित्त पदार्थ और लीलन फूलन भी एका त में, पोलार में, का टो की वाड आदि में परठ दिया जा सकता हक्त । निःश क अचित्त शुद्ध आहार हो तो ही खाना कल्पता है ।

अग्नि पर चढ जाने के बाद भी पदार्थ की अकल्प्यता :- सिग की कच्ची फलियाँ, ताजे कच्चे अनाज के सिट्टे और मकाई के भुट्टे वगैरह अग्नि पर रख कर सेके जाते हक्त । ये थोडे से सेके हो, बारम्बार घुमाकर नहीं सेके हो तो अग्राह्य होते हक्त । अधिक समय अग्नि पर रखकर बारम्बार घुमाकर सेके हों तो पूर्ण अचित्त बने ये पदार्थ कभी आवश्यक होने पर ग्रहण किये जा सकते हक्त । उज्झित- धर्मा हो तो ग्रहण नहीं करना अर्थात् फेंकने योग्य पदार्थ गृहस्थ ने स्वय निकाल दिये हों तो ग्राह्य होते हक्त । इस प्रकार प्रत्यक्ष अग्नि पर सीधे रखे पदार्थ का सचित्त या मिश्र रह सकना इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक में सूचित किया गया है । जो पदार्थ अग्नि पर बर्तन में चढाकर और शीघ्र हटा लिये हो वे भी अग्राह्य, मिश्र सचित्त रह सकते हक्त । केवल धूँआ देकर पकाये गये पदार्थ भी अचित्त नहीं माने जा सकते। क्यों कि जब अग्नि पर सीधे रखे पदार्थ भी पूरे तप्त नहीं हो जाने से मिश्र रहते हक्त तो मात्र धूँए से पकने वाले पदार्थ अचित्त मान लेना योग्य नहीं होता है । वे सचित्त रह सकते हक्त और उनमें बीज भी सचित्त ही रहते हक्त ।

निबंध-२५

दान पिंड और दान कुल

जो आहार केवल याचकों को दिया जाता है, घरवाले या अन्य गृहस्थ वहाँ बैठकर नहीं खाते हक्त वह पि ड अग्राह्य होता है ।

याचकों के लिये ही मात्र होने से जैन श्रमण को लेने में अदीन वृत्ति नहीं होती है, धर्म की लघुता होती है । सीमित दानपिंड होने पर अन्य को अ तराय होती है ।

कि तु जहाँ प्रचुर आहार दिया जाता है, खिलाया जाता है और दाता खुद भी वहीं खाते हक्त, तो अपनी विधि विवेक के साथ जैन साधु आवश्यक होने पर ग्रहण कर सकता है । वे दानपि ड और दानकुल इस प्रकार के होते हक्त- (१) जहाँ पर विशिष्ट उच्च भोज्य दानपदार्थ, अग्र(श्रेष्ठ) पदार्थ, लड्डु वगैरह बाँटे जा रहे हो (२) मर्यादित बना समस्त आहार हमेशा याचकों को दिया जाता है वह 'नितिय पिंड' (पूर्ण) कहा गया है (३) आहार जो बना है उसमें से आधा भाग अलग कर के जिन घरों में दान कर दिया जाता है । उसी तरह (४) चौथाई और (५) षष्टा श, अष्टमा श, तृतीया श आहार दान में कर दिया जाता है । ये विभाग रूप दानपिंड लेने में दीनता और अ तराय दोष की मुख्यता के कारण ये दानपिंड लेने के लिये उन उन दानपिंड बाँटने वालों के घर गोचरी जाना नहीं कल्पता है । इन्हीं का निशीथ सूत्र के दूसरे उद्देशे में लघुमासिक प्रायश्चित्त विधान है ।

ये सभी मर्यादित आहार के दान कुल के कथन है । कि तु जहाँ दानपिंड की कोई सीमा नहीं है, वहाँ अ तराय दोष नहीं होता है और वहाँ जैन श्रमणों को यदि ससम्मान देने की भावना हो तो अदीनता भी नहीं होती है । ऐसी भोजनशालाओं आदि से यथा प्रस ग जैन श्रमण गोचरी कर ले तो वह इन सूत्रों में निषिद्ध नहीं है । ज्ञाता सूत्र आदि में साध्वियों के दानशाला में गोचरी जाने का वर्णन है ।

निबंध-२६

जीमणवार-बडे भोजन में गोचरी

बहुत बडे जीमणवार में उस जीमणवार के विशिष्ट स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों के आसक्ति भाव से श्रमण को गोचरी जाना नहीं कल्पता है । इस अपेक्षा आसक्ति के कारण उस दिशा में भी जाना मना है तथा जिस जीमणवार-बडेभोज(स खडी) में वहाँ जाकर ठहरना पडता हो, रहना पडता हो तो वहाँ भी नहीं जाना । आहार की दुर्लभता

और जरूरी परिस्थिति से ऐसी मोटी स खडी में जाना पडे तो दो कोष से अधिक दूर अर्थात् सात किलोमीटर से आगे हो तो वहाँ गोचरी नहीं जाना कि तु सात कि.मी. के भीतर हो तो जनाकुलता का समय जब न हो तो जा सकते है । यह अनेक गा वों की, अनेक दिनों की, चलने वाली स खडी की अपेक्षा है । सामान्यतया किसी भी छोटे बडे जीमणवार में आसक्ति परिणामों से जाना निषिद्ध है ।

किसी के घर व्यक्तिगत कोई भी महोत्सव हो, अठाई अर्थात् अठवाडिये के तप का उजमणा(समाप्ति उत्सव) हो, अन्य भी किसी भी प्रकार के ऋतु परिवर्तन आदि का महोत्सव हो उसमें अन्य श्रमण, ब्राह्मण आदि को भी भोजन दिया जाता हो तो वहाँ अनासक्ति से और आवश्यकता से साधु गोचरी जा सकता है जब कि लोगों की भीड नहीं हुई हो या समाप्त हो चुकी हो ।

ग्राम, नगर आदि का कोई महोत्सव हो, मेला या यक्ष महोत्सव आदि हों, वहाँ पर जो भी भोजनशाला आदि होती है, उसमें भी उपरोक्त प्रकार से भिक्षु यथाप्रस ग विवेक के साथ गोचरी जा सकता है । यह निष्कर्ष इस अध्ययन के दूसरे तीसरे चौथे उद्देशक से प्राप्त होता है । चौथे उद्देशक अनुसार वर-वधू के घर शादी के पहेले या शादी के बाद के भोजन आदि प्रस गों में भी उपरोक्त विधि से जाया जा सकता है । इन तीनों उद्देशकों में निषेध और विधान दोनों है । अत: अपेक्षा बताकर यहाँ उभयमुखी स्पष्टीकरण किया है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन के अनुसार जहाँ साधु को गृहस्थों की प क्ति में खडा होना पडे वहाँ जाने का निषेध किया है । तात्पर्य यह है (१) दीनता न हो, पूर्ण सम्मान रहे (२) किसी को अ तराय न हो (३) धर्म की लघुता न हो (४) आसक्ति के भाव न हो (५) प क्ति(प गत) में खडा रहना न पडे और (६) भीड जनाकुलता न हो, ऐसे समय और ऐसे स्थान में विवेक के साथ साधु-साध्वी आवश्यक होने पर गोचरी जा सकते हक्त ।

यदि भिक्षु ऐसे स्थानों में गोचरी न जावे तो श्रेष्ठ ही है । कोई भी त्याग बढाना, अभिग्रह बढाना भी श्रेष्ठ है । कि तु आगम निरपेक्ष

स्वमति एका तिक प्ररूपणा नहीं करने का विवेक रखना चाहिये और आगम आशय को तथा स यम नियम के मुख्य हेतु को लक्ष्य में रखना चाहिये । कई साधु साध्वी आगम निरपेक्ष व्यक्तिगत झूठे आग्रह में आगम के अनेका तिक सपरिस्थितिक विवेक को नहीं समझकर, निर्दोष आहार को छोडकर अनेक प्रकार के दोष–आधाकर्म, अभिहड आदि से युक्त आहार ग्रहण करना स्वीकार कर लेते हक्त । वह आगम के अनेका तिक ज्ञान विवेक के अभाव के कारण तथा स्वमान के कारण होता है, ऐसे अविवेक से बचना चाहिये तथा दीनता या आसक्ति वृत्ति से एव अविवेक से ऐसे स्थानों में जाना भी नहीं चाहिये । यदि अन्यत्र गोचरी सुलभता से हो सकती हो तो ऐसे स्थानों में नहीं जाना ही उपयुक्त होता है ।

निबंध–२७

गोचरी के कुल

समाज के व्यवहार में जिन कुलों के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार हो अथवा जो मा साहार या अनार्यता के कारण घृणित निंदित कुल हो, उनमें जैन श्रमणों को समाज व्यवहार की प्रमुखता से गोचरी जाना आगम में निषिद्ध है अर्थात् श्रमणों के लिये मुख्य गोचरी के समाज है वैश्यवर्ग, ब्राह्मण वर्ग, क्षत्रिय वर्ग । उनका जिन कुलों के साथ परहेज का व्यवहार हो, वहाँ जाने से इन लोगों को अपने घर में साधु का आना उपयुक्त नहीं लगता । इस हेतु से शास्त्र में बिना किसी जाति का नाम खोले घृणित जुगुप्सित और निंदित कुलों में साधु को भिक्षार्थ जाने का निषेध स्पष्ट रूप से किया गया है और अनिंदित अजुगुप्सित कुलों के नाम कुछ उदाहरणार्थ दिये हक्त और कहा है कि इस प्रकार के जो भी अन्य कुल अजुगुप्सित हो वहाँ भिक्षु गोचरी जा सकता है । ऐसे प्रस ग में ऊँच नीच शब्द से कथन नहीं किया है कि तु जुगुप्सित अजुगुप्सित शब्द से विधान किया है, जो सामाजिकता से स ब ध रखता है ।

जहाँ गौतम स्वामी आदि के गोचरी जाने स ब धी वर्णन आता है वहाँ ऊँच नीच मध्यम कुल शब्द का प्रयोग है वहाँ सर्वत्र उन तीनों

प्रकार के कुलो में गोचरी जाने का कथन है । वे तीनों शब्द समृद्धि की अपेक्षा धनवान, मध्यम और सामान्य घरों के लिये प्रयुक्त है । उसका आशय इतना ही है कि कल्पनीय सभी घरों में निष्पक्ष भाव से गोचरी जाना चाहिये । अमीर गरीब या मध्यम का अलगाव नहीं करना चाहिये या केवल धनाढय लोगों के यहाँ ही गोचरी जाना, ऐसा भी नहीं करना चाहिये । अत: सूत्रकार की दोनों जगह की अपेक्षाओं को सही तरह से समझकर अत्य त विवेक के साथ श्रद्धा, प्ररूपणा और व्यवहार करना चाहिये । दोनों जगह के सही आशय को समझे बिना या अपने मनमाने स कल्प या आग्रह से कोई भी एका त प्ररूपण में नहीं पडना चाहिये ।

तात्पर्य यह हुआ कि जुगुप्सित(अस्पृश्य) और लोकनिंदित कुलों में भिक्षार्थ नहीं जाना एव अमीर, गरीब के भेद से गोचरी नहीं करना चाहिये । तीनों प्रकार के घरों में सामुदायिक गोचरी करना चाहिये ।

प्रश्न–गोचरी जाने योग्य उदाहरण रूप में कौन से कुल कहे हक्त ?

उत्तर– इस अध्ययन के दूसरे उद्देशक में गोचरी जाने योग्य उदाहरण रूप में निम्न कुलों के नाम हक्त, यथा- (१) उग्रकुल–जागिरदार आदि (२) भोगकुल–पूज्य स्थानीय पुरोहित कुल (३) राजन्यकुल–राजमित्र स्थानीय या राज परिवार के कुल (४) क्षत्रिय कुल, सैनिक–राठोड आदि (५) ईक्ष्वाकुकुल–ऋषभदेव का कुल (६) हरिव शकुल–२२ वें भगवान का कुल (७) गोपालों का कुल (८) वैश्य–वणिककुल (९) नापित कुल (१०) बढई (११) कोटवाल (१२) जुलाहा इत्यादि । अन्य भी ऐसे लोक व्यवहार में जो योग्य कुल हों, वे सभी भिक्षा योग्य कुल समझना चाहिये ।

निबंध–२८

वायुकाय की विराधना : एक चिंतन

आगमोक्त विराधना दो प्रकार से होती है अर्थात् आगम में विराधना(समार भ) दो अपेक्षाओं से कही जाती है- जीवों की हिंसा होने से और जीवों की उत्पत्ति होने से ।

जिस प्रकार किसी ने दीपक को बुझाया तो जीव मरे और किसी ने दीपक जला दिया वह एक स्थान पर स्थिर पडा है, ट्यूबलाइट चालु कर दी, यहाँ पर अग्नि के जीव आकर उत्पन्न हुए । दोनों ही व्यक्ति अग्निकाय की विराधना करने वाले गिने जाते हक्त । जीवों की उत्पत्ति भी मृत्यु की निमित्तक है । उन जीवों के जन्म से ही वहाँ मरण की परम्परा चालू हो जाती है । जब तक वह दीपक या ट्यूबलाइट जलते रहेंगे, जीव वहाँ जन्मते रहेंगे, मरते रहेंगे । इस निमित्त और परम्परा के प्रवाह के कारण अग्नि जलाने वाला, दीपक ट्यूब लाइट जलाने वाला भी अग्निकाय की विराधना करने वाला गिना जाता है । वहाँ मच्छर, पत गा आदि त्रस जीव उत्पन्न होकर मरते हक्त, तो वह अग्नि जलाने वाला उन त्रस जीवों की भी विराधना करने वाला गिना जाता है । क्यों कि यदि उसने ट्यूबलाइट नहीं जलाई होती तो सेकडों हजारों मच्छर वहाँ नहीं मरते, जलाई है तभी सेकडों हजारों त्रस जीव जन्मे और मरे ।

किसी ने एक बर्तन में या पत्थर के खड्डे में पेशाब कर दिया पूर्ण ब द वाडे में टट्टी पेशाब कर दिया । अन्तर्मुहूर्त बाद वहाँ स मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति हुई, जन्म मरण चालू हुआ, तो वह इस अविवेक को करने वाला स मूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना करने वाला गिना जायेगा, पर परा से विराधना तथा जन्म मरण का निमित्त होने से । जब कि व्यक्ति पुन: वहाँ आकर कभी उन जीवों को स्पर्श भी नहीं करता है, किसी प्रकार से उन जीवों को कष्ट भी नहीं पहुँचाता है । इस प्रकार आगम में विराधना करने वाला दो अपेक्षाओं से गिना गया है ।

ठीक इसी तरह वायुकाय के जीवों की विराधना भी दो तरह से गिनी जाती है- (१) हम कोई भी काया की या वचन की अथवा कोई भी योग स्प दन की प्रवृत्ति करते हक्त, उसमें वायुकाय की विराधना होती है । वायुकाय के जीव सर्वत्र पोलार स्थान में भरे ही होते हक्त । वे हमारी हर स्प दन प्रवृत्ति से मरते ही रहते हक्त । क्यों कि बादर एकेन्द्रिय जीव ऐसे ही शरीर नाम कर्म वाले होते हक्त कि स्पर्श मात्र से उन्हें अत्य त वेदना होती है और अनेकों हजारों या अस ख्य जीव भी स्पर्श करने मात्र से मरते रहते हक्त । अत: जहाँ भी हम वायुकाय में रहते हक्त, हमारा

वायु के जीवों को स्पर्श होता है, हम जो भी स्प दन करते हक्त या स्थिर बैठे हक्त, तो भी हमारे स्पर्श में आने वाले वायु जीव मरते हक्त । जिस तरह वर्षा के समय कोई पानी की बू द आकर शरीर पर पड गई तो अपने स्पर्श से उसमें रहे अस ख्य जीव स्वत: मरते रहते हक्त । वैसे ही वायु काय के जीव हमारे स ब ध से सदा सर्वत्र मरते ही रहते हक्त । (२) कोई फूँक से या प खे से अथवा किसी भी पदार्थ को तीव्र वेग से हिलाता है, गति कराता है, फेंकता है, उससे हवा की, वायु की उदीरणा होती है, वायु की निष्पत्ति होती है । उसमें वायुकाय के जीव उत्पन्न होते हक्त । जैसे दीपक जलाने से वहाँ अग्नि के जीवों का जन्म प्रार भ होता है, वैसे ही हवा उत्पन्न होने से वहाँ विशेष वायुकाय के जीवों का उत्पन्न होना अर्थात् जन्म मरण होना प्रार भ होता है । अत: हवा पैदा करने से जीवों के जन्म मरण प्रार भ होने के निमित्त की दूसरे प्रकार की विराधना समझनी चाहिये ।

योगों का प्रवर्तन कम करने से प्रथम प्रकार की विराधना न्यून न्यूनतम होती जाती है और फूँकना या प खा चलाना आदि हवा करने का कार्य नहीं करने से द्वितीय प्रकार की वायुकाय की विराधना बिलकुल नहीं होती है ।

स यम ग्रहण करने वाले मुनि **दूसरे प्रकार** की विराधना के पूर्ण त्यागी होते हक्त और उस विराधना से बचने के लिये वे हर कार्य को यतना से विवेक से करते हक्त । **प्रथम प्रकार** की विराधना से बचने के लिए वे अपनी प्रवृत्तियों को घटाते रहते हक्त, निवृत्ति की तरफ बढने का लक्ष्य रखते हक्त । आवश्यक और आगम आज्ञा वाली प्रवृत्तिओं तक ही सीमित रहते हक्त । आगे बढकर निवृत्त साधनामय जीवन में अधिकतम ध्यान और कायोत्सर्ग में समय पसार करते हक्त ।

प्रथम प्रकार की विराधना शरीर के अ दर के सूक्ष्मतम स चार से भी चालू रहती है, जो केवलज्ञानी वीतरागी के तेरहवें गुणस्थान के अ तिम समय तक चलती है ।

आगम में श्रमणों के लिये वायुकाय की अहिंसा के सभी वर्णनों में दूसरे प्रकार की 'फूँकना और वींजना' रूप हिंसाकारी प्रवृत्ति का सर्वथा

निषेध किया जाता है और उसी की सावधानी के लिये प्रत्येक कार्य यतना से, शा ति से, विवेक से करने की प्रेरणा की जाती है । प्रथम प्रकार की वायुकाय की हिंसा को रोकने हेतु स यमजीवन की समस्त विधियाँ, अनावश्यक प्रवर्तना को घटाने के लिये होती है और जो भी आवश्यक प्रवृत्तियों की शास्त्र में आज्ञा है वह भी स यम जीवन और दीर्घायु तक इस औदारिक शरीर के निर्वाह के लिये सूचित की गई है । भाव स यम की समाधि और शरीर की समाधि आदि लक्ष्यों से, सर्वज्ञों की दीर्घ दृष्टि से स यम की समस्त विधियाँ आगम में बताई गई है । यद्यपि अनेक विधियाँ गोचरी, विहार, प्रतिलेखना आदि प्रवृत्ति रूप है, फिर भी वे स यम जीवन या अहिंसक जीवन की सु दर सफलता के लक्ष्य से तथा शरीर और ब्रह्मचर्य की सुव्यवस्था के लक्ष्य से ही कही गई है । वे प्रवृत्तियाँ आयुष्य कर्म की सत्ता में आवश्यक और लाभप्रद होने से कही गई है । फिर भी मुनि जीवन में गृहस्थ जीवन की अपेक्षा अनेक प्रवृत्तियाँ घट जाती है और मुनि जीवन में भी आगे बढ कर जो साधक निवृत्ति की तरफ बढ जाते हक्त, **आहार और व्यवहार** घटा देते हक्त, दीर्घ तपस्या और ध्यान कायोत्सर्ग में लग जाते हक्त, उनकी प्रवृत्तियाँ घट जाती है । ये सभी तप साधनाएँ स यम जीवन में आगे बढाई जा सकती है । इस प्रकार प्रथम प्रकार की विराधना अल्प अल्पतम होती रहती है, कम की जा सकती है, कि तु स पूर्ण समाप्ति तो १४ वाँ गुणस्थान प्राप्त होने पर अर्थात् मोक्ष जाने के कुछ क्षण पूर्व शरीर छूटने के समय ही होती है । ये दो प्रकार की अपेक्षाओं से गिनी जाने वाली, आगमिक विराधना का स्वरूप बताया गया है ।

आगम की व्याख्याओं में वायुकाय के शस्त्र दो प्रकार के कहे गये हक्त– स्वकाय शस्त्र और परकाय शस्त्र । वायु के जीव, वायु जीवों या वायु शरीरों से भी मरते हक्त तथा अन्य किसी भी पदार्थों से या जीवों से भी मरते हक्त ।

कोई पर परा में ऐसी कथन प्रवृत्ति है कि वायुकाय के एक स्वकाय शस्त्र ही होता है, परकाय शस्त्र नहीं । यह एक अत्य त स्थूल दृष्टि की अपेक्षा है । ऊपर जो दूसरे प्रकार की विराधना फूँकना प खा करना आदि की बताई गई है, उस दृष्टि की अपेक्षा यह परम्परा धारणा

चल रही है और उसी को मुख्य करके एका तिक प्ररूपणा की जाती है । कि तु सूक्ष्म दृष्टि और उभय दृष्टि से ऊपर विवेचन दिया गया है तदनुसार ऐसी एका तिक आग्रह भरी प्ररूपणा उपयुक्त नहीं है । कि तु दूसरे प्रकार की मुनि जीवन की निषिद्ध विराधना के एका गी दृष्टिकोण से चल पडी है । वास्तव में दूसरे प्रकार की विराधना की व्यवहार में मुख्यता है । जब कि प्रथम प्रकार की विराधना में समस्त प्रवृत्तियों का, हिंसा कार्यों का समावेश है ।

निबंध-२९

२१ प्रकार के धोवण पानी क्यों ?

पर परा और प्रचलन में २१ प्रकार का धोवणपानी होता है, ऐसा कथन चल गया है । जिसका आधार इसी अध्ययन का सातवाँ आठवाँ उद्देशक है । जब कि उस पाठ में कोई स ख्या का निर्देश भी नहीं है और कोई इसके आधार से स ख्या इक्कीस निर्धारित करे तो उसका ख डन उसी पाठ से हो जाता है । फिर भी एका गी अपेक्षा से कोई प्रचलन चला दिया जाता है और चल भी जाता है ।

इस अध्ययन के सातवें उद्देशक के अ त में एक सूत्र में तीन प्रकार के अचित्त पानी का नाम देकर अन्य भी इस प्रकार के अचित्त पानी मिले तो भिक्षु ग्रहण कर सकता है, ऐसा कहा गया है । दूसरे सूत्र में छः अचित्त पानी के नाम देकर कहा गया है कि अन्य भी इस प्रकार के अचित्त पानी भिक्षु ले सकता है । यह इस सातवें उद्देशक के दो सूत्रों की वास्तविकता है । आठवें उद्देशक के प्रथम सूत्र में १२ प्रकार के अचित्त पानी के नाम हक्त जिन में बीज, गुठली आदि पडे हों तो उन्हें लेने का, छानकर लेने का भी निषेध है । विधान करने वाला वाक्य वहाँ मूलपाठ में नहीं है । फिर भी अर्थापत्ति से समझ लेते हक्त कि बीज गुठली आदि न हो तो वे पानी अचित्त होने से लिये जा सकते हक्त । इस सूत्र में भी बारह नाम देकर कहा गया है कि अन्य भी इस प्रकार के बीज आदि से युक्त पानी अचित्त हो तो भी अप्रासुक-अनेषणीय जानकर नहीं लेना ।

इन तीनों सूत्रों के अ दर आये नामों का योग करके ३+६+१२

=२१ स ख्या धोवण पानी के लिये चला दी गई है । पर तु वास्तविकता क्या है वह ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है ।

इस २१ के अतिरिक्त दो नाम अचित्त पानी के दशवैकालिक सूत्र में अन्य है तथा निशीथ सूत्र में और भी एक नाम विशेष है जो अन्य सूत्रों में नहीं है । निशीथ उद्देशक १७ में 'अ बक जिय ' शब्द अधिक है । दशवैकालिक अध्ययन पाँचवें में 'वारधोयण ' शब्द नया है । उष्णोदक का अलग कथन भी यहाँ दशवैकालिक में है जिसका (तीनों का) कथन शब्द आचारा ग में नहीं है । आचारा ग सूत्र में आये शुद्धोदक से कोई उष्ण उदक अर्थ करते हक्त, वह भ्रम है । निशीथ सूत्र में शुद्धोदक को धोवण पानी के साथ गिना है वहाँ गर्म पानी अर्थ करना सर्वथा गलत होता है । अतः इन समस्त शास्त्र पाठों का सार यह है कि २१ प्रकार के धोवण, यह स ख्या एक चलाई गई पर परा मात्र है । अचित्त पानी आगम पाठों के अनुसार अनेक प्रकार के हो सकते हक्त। जो भी नाम दिये गये हक्त, वे तो उदाहरणार्थ दिये गये हक्त, ऐसा समझना चाहिये ।

निबंध-३०

कंदमूल त्याग विचारणा महत्त्व

उत्तराध्ययन सूत्र में लहसुन को साधारण वनस्पति में गिनाया और वह भूमि के अ दर होता है अतः अन तजीवी और क दमूल है । भगवती सूत्र में कहा गया है कि गोशालक के आजीविकोपासक भी क दमूल के त्यागी होते थे । तो फिर श्रमणोपासक तो अवश्य ही क दमूल के त्यागी होने ही चाहिये । जब श्रावक क दमूल के त्यागी होंगे तो श्रमणों के पात्र में क दमूल आने का प्रस ग ही कैसे हो सकता ? फिर भी दशवै- कालिक सूत्र अध्ययन तीसरा एव आचारा ग प्रस्तुत प्रथम अध्ययन और सातवें अध्ययन में आये वर्णन से यह ध्वनित होता है कि साधु अचित बने लहसुन या उसके ख ड एव रस को ग्रहण कर सकते हक्त।

सार- आदर्श मार्ग से साधु एव श्रावक को क दमूल का उपयोग नहीं करना चाहिये क्यों कि गोशालक के श्रावक भी क दमूल का उपयोग नहीं करते थे ।

क दमूल में अन त जीवों की विराधना है, फिर भी एकेन्द्रिय जीव है । वनस्पति जीव है । इन्हें प चेन्द्रिय के मा स भक्षण के समान तो नहीं कहा जा सकता । मा स भक्षण नरक में जाने का कारण बताया है । कि तु क दमूल रूप एकेन्द्रिय के आहार को ऐसा नहीं कहा जा सकता । अत: जैन साधु के गोचरी के कुलों में घरों मे किसी देश प्रा त में कई खाद्य पदार्थों में लहसुन डाला जाता है । कोई प्रा तों में अदरक और हल्दी का बहुलता से उपयोग होता है । ऐसे क्षेत्रो में ये चीजें अचित रूप में साधु की गोचरी में आ जाना पूर्ण स भव रहता है ।

दूसरी बात यह है कि औषध रूप में, स्वास्थ्य के किसी कारण से भी लहसुन का उपयोग फायदेम द माना जाता है । इत्यादि कारणों से अचित्त लहसुन और अचित्त क दमूल साधु के लिये एका तिक मद्य-मा स जितना निषिद्ध आगमों में नहीं है । फिर भी भगवती सूत्र के गोशालक उपासकों के कथन से प्रभु महावीर ने अपने श्रावकों को क दमूल के त्यागी बनने की प्रेरणा दी है । ***उसी को लक्ष्य में रखकर विधि मार्ग से, राजमार्ग से, साधु और श्रावकों को लहसुन, हल्दी, अदरक, आलू आदि समस्त क दमूल जाति के पदार्थों के खाने का परहेज ही रखना चाहिये । कि तु सूत्र विपरीत अति प्ररूपणा करने के आग्रह में नहीं पहुँचकर विवेक से भाषण करना चाहिये ।*** जिनधर्म, वीतराग मार्ग, त्याग का मार्ग है इसमें त्याग बढे तो लाभ ही है । त्यागने में नुकशान नहीं है कि तु सूत्र विपरीत मनमानी अति प्ररूपणा करना विशेष पाप है, ऐसा समझना चाहिये ।

इस अध्ययन के आठवें उद्देशक में वनस्पति के अनेक विभागों का अलग-अलग सूत्रों से कथन करके उनके अप्रासुक अनेषणीय अवस्था में भिक्षु के लिये ग्रहण करने का निषेध है । जिनमें लहसुन एव उनके विभागों तथा अर्क(रस) के लिये भी अप्रासुक अनेषणीय लेने का निषेध है । प्रतिपक्ष में लेने का विधान यहाँ किसी वनस्पति के लिये नहीं है । इस शास्त्र में ही आगे सातवें अध्ययन में प्रतिपक्ष विधान में लहसुन लेने का स्पष्ट कथन है । दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में सचित्त क दमूल लेने को अनाचार में गिनाया गया है, वहाँ भी प्रतिपक्ष रूप अचित्त का स्पष्टीकरण नहीं है ।

निबंध-३१

कुंभी पक्व फल

इस अध्ययन के आठवें उद्देशक में अनेक प्रकार के कुम्भीपक्व फलों के नाम कहकर कुम्भीपक्व विशेषण लगाकर उन फलों को अनेषणीय अप्रासुक कहा है । इसकी टीका में आचार्य शीला क ने कुम्भीपक्व फलों को पकाने की विधि बताकर कहा है कि इस प्रकार धूँए और ताप से फल का गिर भाग पकता है कि तु वे फल या उनके बीज अचित्त नहीं हो जाते । अत: ये कुम्भीपक्व फल अप्रासुक अनेषणीय रहते हक्त ।

निबंध-३२

आहारपानी परठने की विधि

परठने योग्य आहार कई प्रकार का होता है यथा- सचित्त, रसचलित, त्रस जीव मिश्रित, शस्त्र परिणत की अपेक्षा मिश्र(सचित्त), निर्दोष अचित्त अतिमात्रा में आया हुआ, शय्यातरपि ड, आधाकर्मी आदि विशेष दोष युक्त, विष युक्त, अखाद्य पदार्थ मिश्रित, प्रत्याख्यान वाले पदार्थ एव लीलन फूलन युक्त पदार्थ । इन सभी की परठने की विधि इस प्रकार है— (१) विष युक्त या रोग पैदा करने वाले खराब पदार्थ अचित्त हो तो धूल रेत या राख आदि अचित्त पदार्थ में मिलाकर परठकर ऊपर से भी राख रेत आदि से ढक दिये जाते हक्त (२) सचित्त, रसचलित, लीलन फूलन से युक्त पदार्थ को रेत राख आदि किसी में नहीं मिलाया जाता कि तु इन पदार्थों के जीवों की हिंसा का अधिकतम बचाव स भव हो, उस तरह पोलार वाले स्थानों में, जैसे कि पत्थर ख डहर के ढेर, अन्य किसी प्रकार के ढेर में, जिस में बीच-बीच में जगह हो, का टों की वाड में इत्यादि स्थलों में विवेक से परठा जाता है (३) त्रस जीव मिश्रित खाद्यपदार्थ एका त या दिवाल के पास परठे जाते हक्त जिससे कि जीवों पर किसी का पाँव नहीं आवे, वे जीव चलकर निकलकर दिवाल के सहारे सुरक्षित बैठ सके, जा सके और उन्हें छाँया भी मिल सके । धूप में या शीघ्र धूप आने वाली हो ऐसी जगह में त्रस जीव युक्त पदार्थ नहीं परठे जाते । जिस खाद्य पदार्थ में त्रस जीव निकल कर साफ हो सकते हों, वे नहीं

परठे जाते । जो पदार्थ त्रस जीवों के पडने और मर जाने से अखाद्य जैसे ही हो गये हों तो वे विवेक पूर्वक परठ दिये जाते हक्त । (४) अचित्त निर्दोष आहार ज्यादा मात्रा में होने से, एका त में खुली जगह में कुछ ऊँचाई वाली जगह में परठ दिये जाते हक्त । (५) अचित्त सदोष खाद्यपदार्थ आवागमन के मार्ग से अति दूर, एका त में, खुल्ले में परठ दिये जाते हक्त ।

अचित्त खाद्य पदार्थों को परठने में भाष्यकारों ने अनेक विकल्पों से अनेक विधियाँ, स केत आदि बताये हक्त । जिसका हेतु है कि उसका उपयोग पशुपक्षी कर सके, कभी कोई मानव भी कर सके और कभी किसी परिस्थिति में साधु-साध्वी भी कर सके, इत्यादि विशेष अनुभव आवश्यक भाष्य से करने चाहिये ।

परठने के समय लोगों की दृष्टि न पडे, आवामगन न हो, धर्म की या खुद साधु की हीलना निंदा न हो, इसका पूर्ण विवेक रखना चाहिये । ऐसा विवेक जो रख सके, उसे परठने के लिये भेजा जाता है, न कि छोटे या नव दीक्षित को । आहार परठने का कार्य अनुभव-शील विवेकी साधु को ही करना चाहिये । सकारण आहार परठने का प्रायश्चित्त आगम में नहीं है, कि तु विराधना और दीर्घ दृष्टिकोण से समाचारी में जो प्रायश्चित्त विधान हो वह गुरु आज्ञा से निर्जरार्थ ग्रहण कर लेना चाहिये । सचित्त और दोष युक्त आहार का प्रायश्चित्त तो गवेषणा करने वाले को आता है । परठने वाले को व्यावहारिक और सामाचारिक प्रायश्चित्त यथालघुष्क(अल्पतम) आता है ।

सचित्त पानी या त्रस जीव युक्त पानी हो तो जलीय स्थानों के निकट जाकर उनके बाहर योग्य गीली जगह हो तो वहाँ परठा जाता है फिर वह पानी आदि आगे पानी में चले जाय । अथवा ऐसी जगह बाहर न हो, पूर्ण सूखा किनारा हो तो पानी में विवेक से परठा जाता है । परठने वाला अप्काय की विराधना आदि का एक उपवास प्रायश्चित्त ग्रहण करता है, यह विधि भी भाष्य-निर्युक्ति(आवश्यक सूत्र) में बताई है । शास्त्र के मूल पाठों में आहार परठने के निर्देश अनेक जगह है कि तु आहार परठने की स्पष्ट विधि तो व्याख्याओं से ज्ञात होती है । सचित्त पानी परठने की विधि मूल पाठ में आचारा ग सूत्र के दूसरे श्रुत

स्क ध के छट्ठे पात्रेषणा अध्ययन में बताई गई है । वहाँ भी गृहस्थ को पुनः लौटाना या सचित्त पानी में स्वय डालना आदि विधि बताई है ।

निबंध-३३

मद्यमांस के आहार के पाठों की विचारणा

प्रश्न-मद्य और मा स के आहार को नरक का कारण बताया गया है फिर भी शास्त्र में जगह-जगह साधु के लिये ऐसे विषय के पाठ क्यों आते हक्त ?

उत्तर- दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि साधु का आहार मद्य मा स और मत्स्य से रहित होता है और वे बार बार विगयों का भी त्याग करके लूखा आहार करते हक्त । ठाणा ग सूत्र में मा साहार और मद्यपान नरकायु ब ध के कारण कहे गये हक्त । इनका सेवन जैन साधु तो क्या जैन श्रावक भी नहीं करते । जो गोचरी के कुल कहे गये हक्त उसमें भी दो शब्द विशेषण रूप में लगाये हक्त- अजुगुप्सित और अगर्हित । अगर्हित का मतलब है अनिंदित, प्रतिष्ठित । जहाँ मा साहार किया जाता है, पकाया जाता है, वे लोक में जुगुप्सित कुल नहीं हो तो भी निन्दित गर्हित कुल गिने जाते हक्त । वैसे मा साहारी घरों में गोचरी जाना भी वर्जित है ।अतः साधु के गोचरी स बधी या आहार स ब धी पाठों में मा स विषयक पाठ उपयुक्त नहीं है । जो भी पाठ उपलब्ध हक्त उनमें लेखनकाल के बाद पर परा में हुई विकृति का या दुर्मानस का प्रभाव है, ऐसा समझना चाहिये । इन स्थलों का स शोधन होना आवश्यक होते हुए भी एका गी दृष्टि के कारण ये पाठ प्रक्षिप्त है, ऐसा मान कर भी धकाया जाता है तथा कई आचार्य शब्द कोषों का आल बन लेकर वनस्पतिपरक अर्थ करते हक्त ।

आचारा ग सूत्र में ऐसे आपत्ति जनक पाठ चार जगह हक्त जो साधु की गोचरी से स ब ध रखते हक्त । वे इस अध्ययन के चौथे-आठवें-नवमें उद्देशक में और दशवें उद्देशक में हक्त । साध्वाचार के प्रकरण में और साधु के गोचरी जाने के घरों के प्रस ग में मा साहार का कथन शास्त्र स गत नहीं हो सकता है । भगवती सूत्र में स्वय भगवान महावीर के प्रकरण में, निशीथ सूत्र में और सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र में ऐसे आपत्तिजनक

मा स मद्य के स ब धी विधायक पाठ है । आचार्य आदि अनेक गीतार्थ श्रमणो ने सम्मेलनों में भी यह निर्णय लिया है कि– ***आचारा ग सूत्र, भगवती सूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि सूत्र में जिनवाणी विपरीत पाठ है । जो गणधर रचित नहीं है । वैसे मा स मद्य के पाठ प्ररूपणा करने योग्य नहीं है ।***

तात्पर्य यह हुआ कि ये पाठ गणधर रचित जिनवाणी नहीं है, तो प्रक्षिप्त ही है, ऐसा सीधा ही कहना चाहिये । प्रक्षिप्त है ऐसा जानकर, मानकर भी उन पाठों को शास्त्र में रखना और फिर वनस्पति परक अर्थ भी करना या अर्थ ही नहीं करना, यह सुविचारकता नहीं हो सकती । वास्तव में जैन शास्त्रों में साधु के लिये मा स मद्य का विधान हो ही नहीं सकता क्यों कि इन्हें नरक का कारण स्पष्ट कहा है । तो फिर साधु जीवन के गोचरी से इनका स ब ध कि चित् भी नहीं हो सकता तथा मा सभक्षण की प्ररूपणा प्रेरणाजनक सूर्यप्रज्ञप्ति का पाठ तो अत्य त ही निकृष्ट दरज्जे का है । ये सभी पाठ स शोधन की आवश्यकता वाले हक्त । क्यों कि इन्हें जिनवाणी नहीं माना जाता है । फिर भी ज्यों का त्यों मूल पाठ रखा जाता है, वह आगम स पादन की कर्तव्यनिष्ठता नहीं कही जा सकती ।

अत: सार यह समझना है कि मद्यमा स का आहार श्रावकों के भी योग्य नहीं है । साधु ऐसे आहार खाने वालों के घरों में गोचरी भी नहीं जा सकता है क्यों कि वे निन्दित कुल गिने जाते हक्त । अत: ऐसे अशुद्ध आहार स ब धी शास्त्र के पाठ मध्यकाल में आई विकृतियों के कारण से है । उनका सही स शोधन स पादन किया जाना आवश्यक है । कथा वर्णन में, साधु या श्रावक के अतिरिक्त व्यक्तियों के वर्णन में, ऐसे पाठ हो तो समझदारों के लिये चर्चा के विषय नहीं बनते हक्त । जैसे कि ज्ञाता सूत्र की कथाएँ या दु:खविपाक सूत्र की प्रत्येक कथाएँ । कथाओं के वर्णन साधु श्रावक अवस्था से भिन्न है, उनके वर्णन से धर्म के सिद्धा तो पर चोट नहीं होती है । वे तो सा सारिक रुचि वाले जीवों के प्रास गिक घटना वर्णन होते हक्त । कि तु आचारा ग, निशीथ सूत्र के विधान सूचक पाठ सीधे साध्वाचार से स ब ध रखते हक्त, भगवती सूत्र का पाठ सीधा केवली तीर्थंकर प्रभु महावीर स्वामी से स ब ध रखता है और सूर्य-

प्रज्ञप्ति सूत्र के पाठ तो मा सभक्षण की प्ररूपणा प्रेरणा करने वाले हक्त । इन पाठों को ज्यों का त्यों छपाने वाले स पादक जिनवाणी के महान अपराधी होते हक्त । शासन सेवा की जगह कुसेवा करते हक्त । दुर्बुद्धि से प्रक्षेप कर अन त स सार बढाने वालों के सहायक और अनुमोदक होते हक्त ।

सच्चे अर्थ में वे स पादक गणधरों को बदनाम करते हक्त कि उनको भाषा विवेक या वचन प्रयोग विवेक भी नहीं था कि जिन मद्य-मा स शब्दों के प्रयोग से नरकायु ब धने का विषय कहा है, उसी मद्य-मा स शब्द से साधु की गोचरी और भगवान महावीर की औषध का विषय भी कह दिया और उन्हीं शब्दों से यात्रा करने की सफलता और कार्यों की सिद्धि होना कह दिया । माने न माने ऐसे पाठों को छपाने वाले स्पष्ट ही तीर्थंकर गणधर एव जिनशासन की महान आशातना करने के भागी होते हक्त ।

इसके अतिरिक्त जो स घ, साधु, आचार्य आदि यह सामुहिक निर्णय कर लेते हक्त कि ***उपर्युक्त सूत्र के पाठ जिनवाणी नहीं है, गणधरों की रचना नहीं है, प्ररूपणा करने योग्य नहीं है*** ऐसी घोषणा करके भी ज्यों का त्यों मूल पाठ छपाकर रख देते हक्त, ऐसे लोगों को कर्तव्य हीन और महान अकर्मण्य कहा जाय तो भी कम होगा । ऐसे लोग भविष्य में जैनागमों की घोर निंदा करवाने के पात्र होते हक्त ।

जैन धर्म का एक सच्चा श्रावक भी अनार्य लोगों के मा साहार को सहन नहीं कर सकता, मा साहार की बात सुनना भी पस द नहीं कर सकता; वहाँ सूत्र छपाने वाले आचार्य और विद्वान स त अपने ही शास्त्रो में मा स की प्ररूपणा और प्रेरणा करने वाले मूल पाठ को छपाकर अपने आपको भगवान के और जिनशासन के महान ईमानदार और वफादार होने का स तोष करते हक्त, ऐसे पाठों को स शोधन करना भी अन त स सार बढाना मानते हक्त, यह समझ भ्रम ही है । जैसे कि अपने शरीर का कोई अ ग विकृत हो गया हो और समझ में आ गया हो फिर भी उसे स भाले रखना, शुद्धि नहीं करना, समझदारी नहीं कही जा सकती । कि तु शरीर के प्रति उपेक्षा ही कही जायेगी । ठीक इसी तरह ये ऊपर चर्चित सूत्रा श जिनागम की प्ररूपणा से विपरीत पाठ हक्त, गणधरों की रचना नहीं है, ऐसा स्वीकार कर लेने के बाद भी ज्यों

का त्यों छपाकर रख देना किसी भी प्रकार की समझदारी या बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती ।

निबंध-३४

सात पिंडेषणाओं का खुलाशा

गोचरी के आहार आदि से स ब धित सात प्रकार के अभिग्रहों को यहाँ सात पि डेषणा की स ज्ञा से सूचित किया है । जिनका भावार्थ इस प्रकार है-(१) दाता का हाथ या पात्र किसी भी पदार्थ से लिप्त नहीं हो उससे भिक्षा ग्रहण करना, अन्यथा नहीं लेना । गोचरी देने के बाद दाता को पानी की विराधना नहीं करनी पडे, हाथ वगैरह धोना नहीं पडे, ऐसा विवेक रखकर लेना । (२) किसी भी खाद्य पदार्थ से हाथ आदि लिप्त हो खरडे हुए हों तो उनसे ही भिक्षा लेना अन्यथा नहीं लेना । (३) जिन बर्तनों में आहार बना है या बनाकर व्यवस्थित रखा है उन्हीं में से सीधा दिया जाय, वैसा मिले तो लेना, अन्यथा नहीं लेना । (४) दालिया, भू गडा, खाखरा आदि जिन पदार्थों से पात्र में कोइ लेप नहीं लगे, ऐसे पदार्थ मिले तो लेना, अन्यथा नहीं लेना । (५) भोजन जिन मौलिक बर्तनों में रखा हो, उसमें से अन्य बर्तन में परोसने आदि किसी प्रयोजन से निकाला हो, कहीं ले जाने के लिये टीपन आदि में या अन्य छोटे बर्तन में डाला हो, वैसा मिले तो लेना, अन्य न लेना । (६) हाथ में या थाली में अपने या अन्य के लिये परोसा गया, खाने के लिये ले लिया, उस आहार में से यदि मिले तो लेना, नहीं मिले तो नहीं लेना । (७) बला-जला, बचा-खुचा, देखते ही जिसे सामान्य जन लेना या खाना नहीं चाहे ऐसा अमनोज्ञ, फेंकने जैसा आहार यदि मिले, कोई दाता देना चाहे तो लेना, अन्य अच्छा मनोज्ञ आहार नहीं लेना । अ त में इन सभी पडिमाओं के साधकों को शिक्षा दी गई है कि कोई भी कौन सी भी पडिमा(अभिग्रह) अपनी क्षमता अनुसार धारण करे कि तु अपने को अच्छा या ऊँचा और दूसरों को हल्का या निम्न समझने का प्रयत्न नहीं करे । जिनको जो समाधि और उत्साह हो वह करते हक्त, हम सभी जिनाज्ञा के अनुसार अपनी अपनी समाधि भाव अनुसार करते हक्त, ऐसा समझे, माने अर्थात् अपना उत्कर्ष और

अन्य का अपकर्ष करने का यहाँ सर्वथा निषेध किया गया है ।

निबंध-३५

साधु को चर्म, छत्र रखना क्यों कब ?

इस अध्ययन में आज्ञा लेने के साधु के उपकरणों में से अनेक के नाम गिनाये हक्त । अन्यत्र व्यवहार सूत्र में भी वृद्ध साधु के वर्णन प्रस ग में ऐसे उपकरणों के नाम हक्त तथा अन्य मतावलम्बी साधुओं के प्रकरण में भी ऐसे उपकरणों के नाम इसी श्रुतस्क ध के दूसरे अध्ययन के तीसरे उद्देशक में कहे हक्त ।

शारीरिक परिस्थितियों से स्थविरकल्पी भिक्षु को कब किस परिस्थिति में कौन से उपकरण रखकर शरीर एव स यम जीवन को पार पहुँचाना पड सकता है, यह ग भीर विचारणा एव चि तन का विषय है अर्थात् ऐसी परिस्थितियों को पार करने के लिये कोई एका तिक आग्रह सदा के लिये रहे, यह नहीं हो सकता । ऐसी ही अपेक्षा से सूत्रों में अनेक विषय प्रस गोपात आते हक्त जैसे कि नौकाविहार आदि ।

उन सभी सूत्रों का, सूत्रगत विषयों का स ब ध परिस्थिति पर और व्यक्ति पर तथा ज्ञानी गीतार्थ बहुश्रुत गुरु की आज्ञा पर निर्भर रहता है । राजमार्ग, विधिमार्ग या ध्रुवमार्ग तो वही रहता है जो, स्पष्ट रूप से शास्त्र में आचरणीय या अनाचरणीय बताया गया है ।

शास्त्र में छत्र धारण को दशवैकालिक, सूयगडा ग सूत्र आदि अनेक सूत्रों में अनाचरणीय बताया है । अत: छत्र रखना साध्वाचार में विहित नहीं है, यही प्ररूपणा करने और स्वीकारने योग्य है । अपवाद परिस्थितियों के कोई भी प्रस ग, प्ररूपणा और प्रचार के योग्य नहीं होते हक्त । छत्र के समान चर्म आदि कोई भी उपकरण अकारण अपरिग्रही भिक्षु को रखना विधि नहीं है । साधु को सामान्यतया वस्त्र-पात्र आदि १४ उपकरण रखना ही राजमार्ग है । उसके अतिरिक्त जब जितने समय तक जिस उपकरण को रखना अत्य त जरूरी ही हो और साथ में गुरु आज्ञा हो तभी वह आवश्यक परिस्थिति तक उस उपकरण को रख सकता है । कि तु प्रवाह या अनुकरण मात्र से देखा देखी या मनमाने कोई भी उपकरण नहीं रखा जा सकता । जब कभी

जिसकी जरूरत होने से जो उपकरण रखा हो, जरूरत समाप्त होते ही उसे छोड देना आवश्यक होता है । उसे सदा के लिये मनमाना रखना या दूसरे ने रखा तो में भी रखूँ, ऐसे अनावश्यक रखने वाले वास्तव में जिनाज्ञा के चोर माने गये हक्त । क्यों कि साधु सूक्ष्म अदत्त का भी त्यागी होता है और प्रभु आज्ञा या शास्त्र आज्ञा का उल्ल घन कर उपकरण रखना, गुरु आज्ञा बिना उपकरण रखना, बढाना, ये अदत्त महाव्रत के दोष हक्त । दशवैकालक सूत्र और प्रश्नव्याकरण सूत्र में ऐसे साधुओं के लिये चोर सूचक शब्दों का प्रयोग किया गया है यथा– तपचोर, रूपचोर (साधुलि ग उपकरण स ब धी), व्रतचोर, आचारभावचोर(समस्त छोटे-मोटे विधान की अपेक्षा) ।

निबंध–३६

अन्य संप्रदाय के साधु के साथ एक पाट पर

इस अध्ययन में कहा गया है कि साधु जहाँ पर है, वहाँ कोई आग तुक साधु जो अपने सा भोगिक, एक मा डलिक आहार स ब ध वाले पधारें तो उन्हें स्वय के आहार पानी में से निम त्रण करके देवे । यदि अन्य सा भोगिक समनोज्ञ=शुद्ध व्यवहार वाले साधर्मिक साधु आ जाय, जिनके साथ एक मा डलिक आहार स ब ध नहीं है तो उन्हें अपने ग्रहण किए मकान स्थान, पाट, पाटला, स थारा, घास आदि का निम त्रण करे, देवे ।

अपना ही आहार पानी देने का तात्पर्य जैसे एक साथ बैठकर खाना स्पष्ट है, वैसे ही अपना ही मकान, पाट देने से मकान में साथ रहना और पाट आदि में साथ बैठना स्पष्ट है ।

इससे स्पष्ट है कि लि ग और प्ररूपण में जो समान है एव आचार में व्यवहारोचित है, समाज में प्रतिष्ठित है, जिन्हें प्रस गोपात सम्मान दिया जाता है, आदर दिया जाता है, व दन व्यवहार भी रखा जा सकता है, अपने मकान में सम्मान के साथ ठहराया जा सकता है, एक साथ चातुर्मास भी किया जा सकता है, साथ में बैठकर प्रवचन भी दिया जा सकता है, ऐसे स्वलि गी साधुओं के साथ पाट आदि का परहेज करना, अलग-अलग पाट का आग्रह रखना, आगम से उपयुक्त

नहीं है, व्यक्ति समझ भ्रम हो सकता है । एक लि ग व्यवहार वाले एक क्षेत्र में ससम्मान विचरण करने वाले, साधुओं से पाट का परहेज नहीं करना ही शास्त्र स गत है । उन्हें ससम्मान अपने मकान में ठहराना एव अपने पाट आदि का निम त्रण करके उनके साथ बैठना आगम के इस पाठ से स्पष्ट होता है । उन्हें अपना पाट देना और खुद अलग पाट पर बैठना, उस अपने दिए पाट पर नहीं बैठना, ऐसा तो इस सूत्र का अर्थ नहीं होता है और अपना ठहरा मकान उन्हे निम त्रण करना, देना और खुद उस में नहीं बैठना, नहीं रहना ऐसा भी अर्थ नहीं हो सकता है ।

अत: जो कोई भी आगम के नाम से ऐसे साधर्मिक अन्य सा भोगिक साधुओं के साथ पाट व्यवहार का परहेज करते हक्त अर्थात् उन्हें अपना पाट निम त्रण पूर्वक देकर फिर उन से अलग पाट पर बैठते हक्त उन्हें इस शास्त्र पाठ पर विचार करना चाहिये और समाज में विवेक के साथ रहना चाहिये । इस अपेक्षा गुजरात प्रा त के साधुओं का विवेक प्रश सनीय है । वहाँ ९–१० जितने भी स प्रदायों के साधु विचरण करते हक्त, भले उनका आहार पानी का स ब ध न भी है कि तु पाट का परहेज वे कोई भी किसी से नहीं करते हक्त । गुजरात की प्रचलित परम्परा इस अध्ययन के पाठ से पुष्ट है, सही है, अनुकरणीय है । अन्य प्रा त वालों को ऐसी शास्त्रानुकूल पर परा का अनुकरण करना चाहिये । कि तु गुजरात में जाकर भी ऐसी पाट स ब धी छुआछूत प्रवृत्ति का प्रचार करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये । सार यह है कि स्थानकवासी प्रतिष्ठित समस्त गच्छवाले साधुओं को आपस में पाट का परहेज–अलगाव नहीं रखना चाहिये ।

निबंध–३७

वन–उपवन में ठहरना और ल्हसुन

इस अध्ययन के दूसरे उद्देशक में कुछ पदार्थों के वन उपवनों में ठहरने का कथन किया गया है और विहार आदि कारणों से कभी किसी भी साधु-साध्वी को उन पदार्थों के खाने की आवश्यकता या इच्छा हो और वहाँ पर कोई भी अचित्त होने की प्रक्रियाएँ की जाने वाली शालाएँ आदि हो, जहाँ उन पदार्थों को उबाला, काटा जाता हो,

रस या अर्क निकाला जाता हो, साधु की स यम विधि से मिल सकता हो तो एषणा नियमों का पालन करते हुए उन पदार्थों को या उनके टुकडे आदि विभागों को अथवा रस-अर्क को लिया जा सकता है, उपयोग किया जा सकता है । उदाहरण रूप में सूत्र में गन्ना, आम और लहसुन तीन स्थलों और पदार्थों का जिक्र किया गया है । तात्पर्यार्थ से अन्य भी फल वनस्पति के प्रकरण को समझा जा सकता है ।

साधु जहाँ जिसकी आज्ञा से ठहरा हो उस शय्यातर का वर्जन करना आवश्यक होता है उसके अतिरिक्त अन्य आस पास के स्थलों उपवनों में से ये पदार्थ ग्रहण करना समझना चाहिये । यहाँ लहसुन स ब धी सात सूत्र जो हक्त, उस पर ऊहापोह-चर्चा का प्रस ग उत्पन्न होता है कि तु आगमों में गोचरी के लिये वनस्पति स ब धी खाद्य पदार्थों के विषय में कोई एका तिक नियम नहीं है । सचित्त त्याग का नियम आवश्यक है, ऐसा समझना चाहिये । क्षेत्र काल के अनुसार ऐसे पदार्थों के गृहस्थ प्रचलन के अनुसार प्रस ग बनते हक्त । यथा- गुजरात प्रा त में इस युग में अदरक और हल्दी(कच्ची) उबली हुई या बिना उबली(नींबू के रस युक्त) आमतौर से जैन गृहस्थों में उपयोग की जाती है और साधु-साध्वी भी प्रायः उपयोग में लेते हक्त । जब कि आलू, प्याज, लहसुन या अदरक, हल्दी आदि सभी पदार्थ जमीक द में और अन तकाय में तो है ही । आगम शास्त्रों में इन सब के नाम एक साथ आते हक्त । इनका कम ज्यादा महत्व आगम से नहीं है कि तु क्षेत्रकाल आदि की अपेक्षा से होता है जैसे कि गुजरात में अदरक हल्दी का कोई ऊहापोह नहीं है । वैसे ही प्रा त, क्षेत्र, काल विशेष से अचित्त वनस्पति के खाद्य पदार्थों का प्रस ग साधु के लिये स भव रहता है अस भव नहीं होता है ।

किसी भी खाद्य पदार्थ का किसी भी व्यक्ति या समुदाय के लिये त्याग करना श्रेष्ठ है कि तु उसका आगम निरपेक्ष मनमाने या एका तिक प्ररूपण करना अपराध है और फिर कुतर्क करना कि- अचित्त तो मा स आदि भी मिल सकता है, यह सर्वथा अविवेक और कुतर्क है । क्यों कि मा स का आगमों में एका त निषेध है, नरक का कारण बताया है, वनस्पति पदार्थों के लिये उसकी समानता नहीं की जा सकती है । शास्त्रों का अध्ययन नहीं करने से ऐसे एका तिक, दुराग्रह, परम्पराएँ, प्ररूपणाएँ एव

कुतर्क आदि असमन्वय के मानस से पैदा होते हक्त । सार यह है कि त्याग मार्ग श्रेष्ठ है उसका प्रचार भी श्रेष्ठ है, कि तु आगम विपरीत प्ररूपण या दुराग्रह त्याज्य है अर्थात् कल्पनीय और शास्त्र सम्मत पदार्थों का भी त्याग की भावनाओं से त्याग करने की प्रेरणा विवेक के साथ की जा सकती है । कोई भी गच्छ-समाचारी में अनेकानेक त्याग के नियम कायदे भी बनाये जा सकते हक्त कि तु उसका प्ररूपण-कथन का तरीका आगम विपरीत नहीं होना चाहिये और जो ऐसे त्याग नहीं करने वाले हों उन पर असत्याक्षेप नहीं होने चाहिये ।

किसी भी त्याग के महत्व को समझाने में अनेक तरीके हो सकते हक्त । उनमें से जो आगम विपरीत तरीका न हो ऐसे श्रेष्ठ विविध उपायों, तरीकों से अपना आशय समझाने का प्रयत्न करना चाहिये ।

लहसुन स ब धी सात सूत्रों का अर्थ मूर्तिपूजक प्राचीन आचार्य भी यही करते हक्त कि तु उनके समुदाय में आगम पढते ही कम है । मूर्तिपूजकों के ग्र थ 'सेन प्रश्न' में भी लहसुन ग्रहण करना अर्थ स्वीकार किया है । फिर भी कुछ अविवेक भाषी क दमूल को मा स तुल्य कह देते हक्त ।

इक्षु के ऊपर से कठोर छिलके उतारने के बाद भी वह कुछ उज्झित धर्म वाला रहता है अर्थात् खाने के बाद कुछ थूँकना, फेंकना पडता है कि तु उसका एका तिक निषेध नहीं है, ऐसा इन विधिनिषेध सूत्रों पर से स्पष्ट होता है ।

निबंध-३८

मल-मूत्र विसर्जन विधि आगम से

यदि योग्य दूरी पर अचित्त जगह शौच निवृत्ति के लिये उपलब्ध हो और शारीरिक बाधा का उद्वेग मर्यादित हो तो श्रमण वहाँ जा सकता है । जाने के पूर्व उसे अपने साथ में जीर्ण वस्त्रख ड ले जाना आवश्यक होता है । यदि जीर्ण वस्त्रख ड उसके पास न हो तो साथी श्रमण से याचना करके ले जावे । जिसका उपयोग शौच निवृत्ति के बाद अ ग शुद्धि के लिये, जल शुद्धि के पूर्व किया जाता है । जिससे अल्प जल से अ ग शुद्धि हो सके ।

जहाँ पर सूर्य का ताप दिन में कभी भी आता हो ऐसे स्थान में बैठे । लोगों का आवागमन या दृष्टि स चार न हो ऐसे स्थान में बैठे। किसी प्रकार की जीव विराधना अर्थात् हरी घास या त्रस जीव, कीडी आदि की विराधना न हो, यह विवेक रखे ।

यदि जहाँ पर बाहर जाने जैसी योग्य जगह उपलब्ध न हो या शारीरिक बाधा अत्य त वेग पूर्वक हो तो साधु अपने ठहरे हुए स्थान में आवागमन न हो ऐसी जगह में जाकर, अपने पात्र आदि में मल विसर्जन करके फिर उसको विवेक पूर्वक ले जाकर, योग्य स्थान में सूत्रोक्त विधि-निषेधों का ध्यान रखकर परठ दे ।

इस अध्ययन से एव निशीथ सूत्र से तथा अन्य आगम वर्णनों से; ये दोनों प्रकार की विधियाँ साधु के मल विसर्जन के लिये स्पष्ट होती है । दोनों विधियों को गुरु सानिध्य से भलीभाँति समझ लेने पर एव खुद के विवेक निर्णय की क्षमता होने पर, साधु को मल विसर्जन में किसी क्षेत्र में दुविधा जैसी स्थिति नहीं रह सकती । यदि किसी क्षेत्र में दोनों प्रकार की विधिओं से भी योग्य परिष्ठापन स भव न हो तो वहाँ पर साधु को ठहरना नहीं कल्पता है । फिर किसी भी लाभ के आग्रह से ऐसे स्थानों में जाना या रहना साधु के लिये उचित नहीं है, सर्वथा वर्जित है ।

कारण यह है कि ऐसे स्थानों में जाने या रहने की प्रवृत्ति करने पर फिर अनेक सावद्य और आगम विपरीत आचरणों को करने की प्रेरणा मिलती है और भावना जगती है । फिर स यम का मुख्य लक्ष्य और अनुकम्पाभाव और छ काय रक्षण के आचार का धीरे-धीरे विनाश होता है । अत: योग्य क्षेत्रों में परिष्ठापन भूमि से स पन्न स्थानों में ही ठहरने, रहने का स यम साधक को विवेक रखना चाहये ।

निबंध-३९

भगवान का गर्भ संहरण, ब्राह्मण कुल विचारणा

इस अध्ययन में भगवान महावीर स्वामी के गर्भ स हरण की तिथि बताई गई है । उसके साथ यह कहा गया है कि श्रमण भगवान महावीर स्वामी के अनुकम्पक=भक्तिस पन्न भक्तिवान देव ने अपना

जीताचार- अपना पर परानुगत ध्रुवाचार समझकर अथवा शक्रेन्द्र की आज्ञा होने से कर्तव्य समझकर स हरण किया । शक्रेन्द्र के आदेश देने का और उस आदेश के कारण का कथन यहाँ नहीं है । कल्प सूत्र में वह वर्णन इस प्रकार है-

शक्रेन्द्र ने जब अवधिज्ञान-दर्शन से यह देखा कि २४ वें तीर्थंकर देवान दा ब्राह्मणी की कुक्षी में आये हक्त, तब उसे यह विचार हुआ कि- तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि (१) अ त्यकुल (क्षुद्र)(२) प्रा तकुल(अधर्मी) (३) तुच्छकुल(छोटा परिवार) या अप्रसिद्ध कुल अथवा धोबी, नाई आदि (४) दरिद्रकुल(गरीब) (५) कृपण कुल(दान नहीं देने वाले) (६) भिक्खकुल(भिक्षा से जीवन यापन करने वाले या भोजन माँगने वाले) (७) ब्राह्मणकुल, इन कुलों में उत्पन्न नहीं होते हक्त कि तु (१) उग्रकुल (२) भोगकुल (३) राजन्यकुल (४) इक्ष्वाकुकुल (५) क्षत्रियकुल (६) हरिव शकुल । ऐसे कुलों में भी जिनका मातृ-पितृ कुल अकल कित हो वहाँ उत्पन्न होते हक्त । ऐसा विचार कर के इन्द्र ने हरिणेगमेषी देव को आदेश दिया ।

इस पाठ में ब्राह्मण या किसी जाति के लिये नीच कुल शब्द का प्रयोग नहीं है तथा अ त, प्रा त, दरिद्र, तुच्छ और माँगने वाले कुलों में भी ब्राह्मण को समाविष्ट नहीं करके उन सभी से उसे स्वत त्र अलग गिनाया है । गर्भ में आने वाले कुलों के नामों में भी ऊँच कुल शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है तथा उन कुलों में वणिक वैश्य कुलों को भी नहीं कहा है । अत: प्रास गिक जिन कुलों में जन्मते हक्त और जिन कुलों में नहीं जन्मते हक्त, उनके नाम निर्देश किये गये हक्त । तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण और वैश्य दोनों कुलों में भी तीर्थंकर नहीं जन्मते हक्त वे केवल क्षत्रिय आदि उपरोक्त कुलों में ही जन्मते हक्त । अत: ब्राह्मण या वैश्य कुल को ऊँच या नीच कुछ भी कहने का शास्त्रकार का आशय नहीं है ।इस प्रकार शास्त्र के मूल पाठ में नीच-ऊँच के शब्द नहीं है । पर परा की अविवेकजन्य भाषा में ऐसा कथन प्रचलित हो गया है, जो उचित नहीं है ।

पर परा में तो यह भी कहा जाता है कि मरीचि के भव में नीच गौत्र का ब ध किया था वह बाकी रह गया था इसलिये ब्राह्मण कुल

में आये । यह कथन भी आगम तत्त्वों से विपरीत है । मरीचि के जीव को नयसार के भव में समकित की प्राप्ति हो गई थी । एक बार समकित आ जाने के बाद कोई भी जीव एक क्रोडा-क्रोड सागरोपम से भी कम स्थिति के कर्म बांधता है कि तु उससे अधिक नहीं बा धता है । जब कि मरीचि और महावीर के बीच एक क्रोडा-क्रोडी सागरोपम साधिक समय होता है । अत: मरीचि स ब धी कथन की यह तुकब दी भी कभी चल गई है । नीच गौत्र कर्म से ब्राह्मण कुल मिले यह भी मनकल्पित है । ऐसा किसी भी शास्त्र पाठ में नहीं है । ब्राह्मण कुल को शास्त्र में कहीं भी अपवित्र नहीं कहा गया है । सम्माननीय और पवित्र कुल में ही लिया गया है । उन कुलों में गोचरी जाना, उन्हें श्रावक या श्रमण बनाना आदि कुछ भी निषिद्ध नहीं है । तीर्थंकर से दूसरे क्रम के लोकपूज्य पद और श्रमण शिरोमणी पद पर भगवान महावीर ने सभी ब्राह्मण गौत्रीय उच्च आत्माओं को आसीन किया था और गौतम आदि के साथ प्रार भ से अ त तक सदा सम्मान युक्त व्यवहार रखा था । अपने धर्मशासन के प्राण रूप द्वादशा गी आगम की मौलिक रचना और स पादन का कार्य भी उनके जिम्मे रखा था । इसे अपमान नहीं सम्मान ही कहा जायेगा ।

सार यह है कि ब्राह्मण को नीच कुल कहना या समझना एक प्रकार की भ्रमणा है और नीच गौत्र के उदय से कोई ब्राह्मण बनता है यह भी नासमझ की बात है । तीर्थंकर आदि महापुरुष क्षत्रिय आदि ऊपरोक्त छ कुलों में ही जन्मते हक्त, यह स्वभाव मात्र है । वे वणिक (वैश्य) कुल में भी नहीं जन्मते । इसलिये शक्रेन्द्र ने स हरण करवाया और भगवान का तीर्थंकर रूप में गर्भ स हरण हो जाना, एक गर्भ में नहीं रह सकना, इसे लोक की आश्चर्यजनक घटना कही गई है– ठाणा ग सूत्र १०. ठाणा ग सूत्र में भी ब्राह्मण के कुल में आने को अच्छेरा नहीं कहा कि तु तीर्थंकर जैसे महापुरुषों का गर्भ काल में इधर उधर किया जाना, इसे आश्चर्य कहा गया है । ठाणा ग सूत्र के इस १० अच्छेरे के पाठ में भी नीचकुल या ऊँचकुल की कोई बात नहीं है ।

निबंध–४०

विविध मतमतांतर सिद्धांत स्वरूप

सातवीं गाथा से अठारवीं गाथा तक इस अध्ययन के प्रथम

उद्देशक में ६ प्रकार के सिद्धा त–मतमता तर बताये हक्त, वे ये हक्त– **(१)** पाँच महाभूतवाद **(२)** एकात्मवाद **(३)** तज्जीव-तत्शरीरवाद **(४)** अकारक वाद **(५)** आत्मषष्टवाद **(६)** क्षणिकवाद– इसके दो रूप हक्त– १. प च स्क धवाद २. चार धातुवाद । इसके अतिरिक्त **(७)** नियति-वाद **(८)** अज्ञानवाद **(९)** कर्मोपचयनिषेधवाद (क्रियावादी) **(१०)** जगत्कर्तृत्ववाद **(११)** अवतारवाद **(१२)** लोकवाद । वगेरे स ब धी स केत भी है ।

पाँच महाभूतवाद सिद्धा त :– पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत सर्वलोक व्यापी एव सर्व जन प्रत्यक्ष होने से महान है। इनके अतिरिक्त आत्मा आदि कोई पदार्थ नहीं है । इन पा च महाभूतों के मिलने से चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है पर तु वह पाँच तत्त्वों से भिन्न नहीं है क्यों कि वह पाँच भूतों का ही कार्य है । इस प्रकार इस मतवाले आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म आदि तथा शुभ-अशुभ कर्म और उनके फल, कर्ता-भोक्ता आदि कुछ भी स्वीकार नहीं करते हक्त । ये प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हक्त, अनुमान आदि को नहीं स्वीकारते ।

जो कि पुनर्जन्म और परभव आदि का होना अनेक प्रमाणों से सिद्ध है । उसे नहीं मानने से दान, धर्म, सेवा, परोपकार, मोक्षसाधना आदि सब निष्फल हो जायेंगे । हिंसा चोरी अराजकता अव्यवस्था का बोलबाला हो जायेगा । पाँच भूतों का गुण चैतन्य नहीं है अत: वह उनके स योग से उत्पन्न नहीं हो सकता । ऐसा हो तो मिट्टी आदि को मिला कर बनाए गये पूतले में भी चेतना गुण पैदा क्यों नहीं होता ? पाँच तत्त्व शरीर में रहते हुए भी प्राणी के मर जाने पर उस शरीर में चेतना तत्त्व क्यों नहीं रहता ? जब कि पाँचों तत्त्व तो रहते ही हक्त । पा च इन्द्रिया भी पाँच भूत से उत्पन्न है उनका गुण भी चैतन्य नहीं है । एक इन्द्रिय दूसरे इन्द्रिय विषय को जान नहीं सकती । पर तु पाँचों इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को उपस्थित रखने वाला चैतन्य तत्त्व अलग ही है ।

निष्कर्ष यह है कि पाँच भूतवाद का सिद्धा त मिथ्यात्वग्रस्त है, अज्ञानमूलक है । अत: कर्म ब ध और स सार वृद्धि का कारण है । यह चार्वाकों का मत है, उन्हें लोकायतिक भी कहते हक्त ।

एकात्मवाद सिद्धा त :- समस्त लोकव्यापी एक ही आत्मा है, अलग-अलग दिखने वाले जीव भ्रम मात्र है । पृथ्वी एक है फिर भी उसके जगह जगह भिन्न-भिन्न रूप दिखते है पहाडादि । वैसे ही ए क ही आत्मा अनेक रूपों में दिखती है । पृथ्वी से बनने वाले घडे आदि अनेक रूपों में भी पृथ्वी तो एक ही है । पानी से भरे अनेक घडों में अलग-अलग च द्र दिखते हक्त फिर भी च द्र एक ही है । वैसे ही उपाधि भेद से एक ही आत्मा अनेक रूपों में दिखती है ।

वास्तव में यह युक्ति विहीन सिद्धा त है । पूरे विश्व में एक ही आत्मा मानने पर निम्न आपत्तियाँ आती है- (१) एक व्यक्ति पाप चोरी आदि करेगा, उसका फल सभी को भुगतना पडेगा । (२) एक के कर्मब धन में पडने पर सभी को कर्मब धन में पडना पडेगा और एक के मुक्त हो जाने पर सभी की मुक्ति हो जायेगी । इस प्रकार ब ध और मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं रहेगी (३) एक जन्म मरण या कार्य प्रवृत्त होने पर सभी का जन्मना मरना आदि होगा जो कदापि स भव नहीं है । (४) जड चेतन सभी में एक आत्मा लोकव्यापी मानने पर आत्मा का ज्ञानगुण जड में भी मानना पडेगा (५) एक का ज्ञान दूसरे में भी मानना पडेगा जो अस भव है । (६) उपदेष्टा और उपदेशक तथा श्रोता और परिषद तथा वक्ता सभी एक ही है तो उपदेश और शास्त्र रचना आदि की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी । गुरु-शिष्य, अध्ययन-अध्यापन आदि भी व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे । शास्त्रकार कहते हक्त कि प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि जो पाप कर्म करता है वही उसका फल अकेले भोगता है, सभी को नहीं भोगना पडता है ।

इस प्रकार सारे विश्व के सजीव निर्जीव पदार्थों में एक आत्मा व्यापक मानना युक्तिस गत नहीं है । व्यवहार स गत और बुद्धि गम्य भी नहीं है । कि तु मिथ्यात्व के तीव्र उदय से कितने लोग ऐसा सिद्धा त स्वीकार करते हक्त । उत्तर मीमा सा(वेदा त) दर्शन का यह मत है ।

तज्जीव तत्शरीरवाद :- शरीर है वही जीव है, जीव है वही शरीर है। शरीर उत्पन्न होने पर आत्मा की अभिव्यक्ति होती है । शरीर विनष्ट होने पर आत्मा कहीं जाती हुई दिखती नहीं है इसलिये वह शरीर से अभिन्न है ।

इस सिद्धा त में शरीर की बात करी है और पूर्व सिद्धा त में पाँच भूत से चेतनत्व की उत्पत्ति मानी है अर्थात् पाँच भूत मिलने पर वे ही चैतन्यशक्ति स पन्न होकर चलने, बोलने आदि की क्रिया करने लग जाते हक्त । इस सिद्धा त के अनुसार पुण्य-पाप कुछ नहीं होते । लोक-परलोक, शुभाशुभ कर्म फल नहीं होते, कि तु शरीर के विनाश के साथ आत्मा का विनाश हो जाता है । वह कहीं जाता नहीं और कोई फल भोगता नहीं है ।

राजप्रश्नीय सूत्र में इस सिद्धा त के पक्ष, विपक्ष की विस्तृत चर्चा है । इस मान्यता वालों का कहना है कि जगत में जो भी विचित्रता नजर आती है वह सब स्वभाव से होता है पूर्व कृत कर्म मानने की आवश्यकता नहीं है । यह एक प्रकार का नास्तिक दर्शन है । ऐसा मानने पर जगत में शुभ कर्म करने के प्रोत्साहन समाप्त हो जाते हक्त ।

वास्तव में विचित्रता को स्वभाव कहने पर भी उस स्वभाव के पीछे कारण ढू ढा जाय तो पूर्वकृत कर्म स्वीकारना जरूरी होगा, उसके बिना स सार व्यवस्था भी नहीं चल सकती । एक साथ जन्मे दो बालकों में से एक रोता है एक नहीं, एक बीमार है एक स्वस्थ और एक शीघ्र मर जाता है एक दीर्घायु होता है; इन एक सरीखे तत्त्वों की भिन्नता के पीछे पूर्वकृत कर्म तत्त्व अवश्य होता है । उसी के कारण यह सारी स सार व्यवस्था और विचित्रता चलती है ।इस सिद्धा त को मानने वाले भी इहलौकिक सुखों में आसक्त होकर एव धर्म आराधन तथा शुभकार्यों से व चित होकर अपने जन्म मरण की वृद्धि करते हक्त ।

अकारकवाद सिद्धा त :- इस सिद्धा त में आत्मा को अकर्ता अक्रिय माना गया है । काच के स्वभाव से जैसे स्वत: प्रतिबि ब पडता है वैसे ही प्रकृतिक विकार पुरुष में(आत्मा में) प्रतिबि बित होते हक्त । जैसे आकाश निष्क्रिय है फिर भी उसमें अनेक रूप प्रतिभाषित होते हक्त वैसे आत्मा में अनेक क्रियाएँ प्रतिभाषित होती है । आत्मा स्वय आकाशवत् निष्क्रिय है ।

वास्तव में आत्मा को अक्रिय मानने पर कोई अकृत कर्म का फल भोगेगा, कोई कृत कर्म से व चित हो जायेगा, एक के अशुभ

कर्तव्य से सभी दु:खी होंगे । नरकादि चार गति और मोक्ष मानना भी अर्थ शून्य होगा । इस सिद्धा त को मानने वाले सा ख्यमत वालों की अनेक प्रकार की साधनाएँ व्यर्थ होगी । इस मत में आत्मा और आत्मा की समस्त क्रियाएँ मानते हुए भी आत्मा को निर्लेप और अकर्ता माना गया है । जब कि सुखी दु:खी होते हुए जीव प्रत्यक्ष सिद्ध है और यह सब अनुभव जीव को ही हो सकता है । फिर भी मिथ्यात्व के उदय से ऐसा मानने वाले अनेक लोग होते हक्त । नरक स्वर्ग मोक्ष मानते हुए भी ये आत्मा को अकर्ता मानकर उसे नरक आदि में जाना भी स्वीकार करते हक्त । शास्त्रकार कहते हक्त कि ये अज्ञान अ धकार से स सार अ धकार में भ्रमण करने वाले होते हक्त- **तमाओ ते तम ज ति, म दा मोहेण पाउडा ।**

आत्म षष्टवाद :- इस सिद्धा त वाले पाँच भूत और आत्मा इन छहों तत्त्वों का स्वत त्र अस्तित्व स्वीकारते हक्त कि तु एका त रूप से छहों को नित्य अविनाशी मानते है । कथ चित् नित्य, कथ चित् अनित्य; द्रव्य की अपेक्षा नित्य, पर्याय की अपेक्षा अनित्य; ऐसा नहीं मानते । एका त नित्य का मिथ्याग्रह पकडना ही उनका अयोग्य है ।

क्षणिकवाद का सिद्धा त :- इस सिद्धा त वाले प्रत्येक तत्त्व की प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश मानते हक्त । ये पदार्थ की परिवर्तित होने वाली पर्याय को द्रव्य का परिवर्तित होना मान लेते हक्त । द्रव्य और पर्याय का विभाग नहीं मानते हक्त ।

ये दो प्रकार के हक्त (१) पाँच स्क ध मानने वाले (२) चार धातु मानने वाले । पाँच स्क ध ये है- (१) रूपस्क ध (२) वेदनास्क ध (३) स ज्ञास्क ध (४) स स्कारस्क ध (५) विज्ञानस्क ध । शीत आदि विविध रूपों में विकार प्राप्त होने के स्वभाव वाला जो धर्म है वह सब एक होकर **रूपस्क ध** बन जाता है । सुख दु:ख वेदन करने के स्वभाव वाले धर्म का एकत्रित होना **वेदनास्क ध** है । विभिन्न स ज्ञाओ के कारण वस्तु विशेष को पहिचानने के लक्षण वाला स्क ध **स ज्ञास्क ध** है । पुण्य पाप अदि धर्म-राशि के लक्षण वाला स्क ध **स स्कारस्क ध** है । जो जानने के लक्षण वाला है उस रूपविज्ञान रसविज्ञान आदि विज्ञान समुदाय को **विज्ञानस्क ध** कहते हक्त । इन पा च स्क धो के अतिरिक्त

आत्मा नामका कोई पदार्थ नहीं है । इन्हीं **पा च स्क धो** से स सार चलता है । आत्मा को नहीं मानना स्वय का इन्कार करना है । जब स्वय कोई तत्त्व नहीं है तो कर्तापन भोक्तापन आदि कुछ नहीं रहता है । स्वर्ग नरक मानते हुए भी आत्मा बिना उनका कोई अर्थ नहीं रहता है । कौन स्वर्ग में जाता है, कौन नरक में जाता है ऐसा कोई निर्णय नहीं होता है ।

अत: यह क्षणिकवाद भी आत्मकल्याण साधना में अपूर्ण है, अयोग्य है **।१॥** पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन **चार धातुओं** को ही सर्व जगत मानते हक्त ये भी आत्मा को या चार के अतिरिक्त किसी तत्त्व को नहीं मानते । ये भी पदार्थ को क्षण विनाशी मानते **क्त।२॥**

शास्त्रकार ने इन सभी को अफलवादी कहा है । इस प्रकार के एका त सिद्धा त से आत्मा और कर्म तथा उनके फल भोगने की व्यवस्था बराबर नहीं हो सकती है ।

फिर भी ये सभी मत वाले यह कथन करते हक्त कि हमारे मत को स्वीकार करलो इसी से तुम्हारी मुक्ति(सिद्धि) हो जायेगी, कल्याण हो जायेगा । पर तु वास्तव में आत्मा और कर्मब ध विमोक्ष का सही स्वरूप समझे बिना, माने बिना कोई साधना और उसका प्रतिफल हो नहीं सकता है । क्यों कि किसी के मत में आत्मा नहीं है, किसी में परभव पुनर्जन्म नहीं है, किसी में आत्मा अक्रिय है अकर्ता है तो फल भोक्ता भी नहीं है । तो फिर उनके लिये भी कोई साधना की आवश्यकता नहीं रहती ।

अत: आत्म द्रव्य का सही स्वरूप स्वीकार करना, धर्म साधनाओं के लिये प्रथम जरूरी है । अन्यथा मिथ्या समझ के कारण सही साधना और सही परिणाम प्राप्त होना स भव नहीं है ।

नियतिवाद का सिद्धा त :- नियतिवादी एका त नियति से ही सारे स सार के कार्यों की निष्पत्ति मानता है । वह काल, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ को कार्य के होने में आवश्यक नहीं मानता है । उनका कहना है कि एक सरीखे काल में काम करने वाले दो व्यक्ति में

एक सफल होता है एक असफल । एक ही सरीखे स्वभाव वाले अनाज में कोई उगता है कोई नहीं । अत: कार्य के होने में एक मात्र नियति ही कारण है ।

जैन दर्शन में नियति सहित काल स्वभाव आदि पाँचों समवाय को स्वीकारा है । क्यों कि अनेक कार्यों की निष्पति में स्वभाव प्रमुख होता है । कई कार्यों के होने में काल प्रमुख होता है सर्वत्र एक सा नियम नहीं होता है । नीम का झाड लगने में नीम के बीज का स्वभाव, परिपक्व होने का काल, पुरुषार्थ एव आकर उगने वाले जीव का आयुष्य आदि कर्म भी कारण भूत होते हक्त । कभी स्वभाव के बिना कार्य नहीं होता, कभी नियति के बिना कार्य नहीं होता और अनेक कार्य पुरुषार्थ करने से होते हक्तकि तु पुरुषार्थ बिना नहीं होते । अत: ये पाँचों समवाय-स योग कार्य सिद्ध होने में सापेक्ष है । एका त नियतिवाद को स्वीकारने पर और अन्य की उपेक्षा या निषेध करने पर कई स सार व्यवहार भी नहीं चल सकते ।

एका त आग्रह के कारण नियतिवाद भी दूषित है । वह व्यक्ति के लिये पुरुषार्थ प्रेरक न होकर पुरुषार्थ हीन होने का प्रेरक बनता है । पुरुषार्थ में अनुत्साह पैदा करता है जब कि स सार व्यवहार में सर्वत्र पुरुषार्थ की अतीव आवश्यकता रहती है ।

अज्ञानवाद का सिद्धा त :- अज्ञानवादी किसी के पास जाने का, स गति-सत्स ग करने का, ज्ञान हाँसिल करने का ही निषेध करते हक्त । ज्ञान के अभाव में वे स्वय अज्ञानी होने से दूसरों को क्या मार्गदर्शन दे सकते ? अर्थात् स्वय अज्ञान में डूबे व्यक्ति दूसरों को ज्ञान नहीं दे सकता । अ धा व्यक्ति दूसरों को मार्ग कैसे बता सकता है ? अ धे व्यक्ति के पीछे चलने वाले उत्पथगामी होते हक्त । वैसे ही अज्ञानवादिओं की बात अनुसरण करने योग्य नहीं होती । शास्त्रकारने इन्हें मृग की उपमा दी है । जो त्राण स्थान में श कित होता है और जाल में फँस जाता है । वैसे ही अज्ञानवादी अज्ञान जाल में फँस जाते हक्त ।

अज्ञानवादी को किसी प्रकार के विमर्श की भी योग्यता नहीं हो सकती । क्यों कि विमर्श के लिये भी ज्ञान आवश्यक है । इस प्रकार

वे अज्ञान के कारण स्वय के हित का विमर्श-विचार करने के भी अयोग्य होते है तो दूसरों को उपदेश देने या अनुशासित करने में कैसे योग्य हो सकते हक्त ? अज्ञान के कारण वे किसी को भी उपदेश निर्देश करने में सर्वथा अयोग्य और अ धे के समान होते हक्त ।

इस प्रकार अज्ञानवादी लोग स्वय अज्ञानी होते हुए भी अपने को प डित मानकर अन्य का सत्स ग भी नहीं करते एव तर्क-वितर्क मात्र से भोले लोगों को गुमराह करते हक्त । ये लोग कर्मों से एव दु:ख से नहीं छूट सकते । पींजरे के पक्षी के समान स सार में ही रहते हक्त, मुक्त नहीं हो सकते ।

कर्मोपचय निषेधवाद-क्रियावादी दर्शन :- इस अध्ययन के दूसरे उद्देशक की गाथा २४ से २९ में इस दर्शन का कथन किया गया है। व्याख्याकारों ने उसे बौद्ध मान्यता सूचित करी है । बौद्ध निम्न प्रकार की क्रिया को केवल क्रिया ही मानते हक्त उससे कर्मोपचय नहीं मानते, यथा- **(१)** कोई भी क्रिया चित्त शुद्धि पूर्वक की जाय उससे कर्मोपचय नहीं होता । पिता पुत्र को मारकर उसका मा स खावे । परिणाम और कारण शुद्ध है तो ब ध नहीं होता । **(२)** क्रोधावेश से मन में रौद्र विचार करे प्रवृत्ति नहीं करे तो कर्म ब ध नहीं होता **(३)** बिना स कल्प से अनजान असावधानी से जो क्रियाएँ होती है जिसमें मारने का परिणाम नहीं है तो हिंसा का कर्म ब ध नहीं होता अर्थात् भोजन व्यापार गमनागमन प्रवृत्ति में जहाँ हिंसा का स कल्प नहीं तो कर्मोपचय नहीं होता । **(४)** स्वप्न में होने वाले हिंसादि कार्य से भी कर्मोपचय नहीं होता । इन सर्व का आशय है कि मन और काया प्रवृत्ति साथ में हो तो कर्मोपचय होता है, अकेले मन या अकेली काया से नहीं ।

(१) उनके सिद्धा त अनुसार हनन किया जाने वाला प्राणी सामने हो **(२)** हनन कर्ता को यह भान हो कि यह जीव है **(३)** फिर हनन कर्ता को स कल्प हो कि मक्त इसे मारू , ऐसी स्थिति में उस प्राणी को कष्ट दिया जाय या मारा जाय, उसके प्राणों का वियोग हो जाय या उसे कष्ट पहुँचे तो कर्म ब ध होता है । वह जीव बच कर भाग जाय तो कर्म ब ध नहीं होता है ।

जैनदर्शन के अनुसार यह सारे विकल्प युक्त कर्म ब धन का कथन अज्ञानदशा के कारण है । स सार में एकेन्द्रिय से प चेन्द्रिय तक के प्राणी हैं । सभी को कर्म ब ध और स सार भ्रमण होता है । मन, वचन, काया तीनों के स योग से और स्वत त्र होने पर भी प्रत्येक योग और प्रत्येक कषाय से कर्म ब ध होता है । कोई भी क्रिया के फल स्वरूप कर्मब ध नहीं हो, ऐसा नहीं होता है । तीव्र या म द कर्मब ध अवश्य होता है । अज्ञान दशा से या अपने स्वार्थ से कोई प चेन्द्रिय वध जानकर करे उसके परिणामों को विशुद्ध नहीं माना जा सकता । इसलिये पुत्र को मारकर खाने से भी कर्म ब ध नहीं होता ऐसा कथन तो अज्ञान भरा ही है । बिलकुल अस गत है ।इस प्रकार की मान्यता के कारण ऐसी मान्यता वालों को कर्म चि ता से रहित कहा है । छिद्रों वाली नावा को चलाने वाला अ धा हो तो उसमें रहे यात्री सुरक्षित दशा में जल को पार नहीं कर सकते । वैसे ही इन एका त-वादियों और अज्ञानियों की शरण में जाने वाले स सार पार नहीं कर सकते कि तु स सार में ही भ्रमण करते हैं ।

जगत कर्तृत्ववाद सिद्धा त :-चराचर पदार्थमय यह लोक किसने बनाया, कैसे बना आदि लोक की उत्पत्ति और उसका कर्ता किसी को मानना यह जगत कर्तृत्व वाद सिद्धा त है । इस विषय में शास्त्रकार ने अनेक मत बताये हक्त । वे इस प्रकार हक्त- (१) यह लोक देव द्वारा बना है (२) ब्रह्मा ने बनाया है (३) ईश्वर ने बनाया है (४) प्रधान(प्रकृति आदि के) द्वारा कृत है । (५) स्वय भू(विष्णु)ने बनाया (६) यमराज ने यह माया रची है । (७) अ डे से पृथ्वी उत्पन्न हुई है । उसमें तत्त्वों को ब्रह्मा ने बनाया है । अपने अपने आशय से विभिन्न प्रकार से ये अज्ञानीजन लोक की उत्पत्ति मानते हक्त कि तु वे यह नहीं समझते कि लोक शास्वत है । उसे किसी को बनाने की जरूरत ही नहीं है । वास्तव में लोकोत्पत्ति जानने की जरूरत नहीं है कि तु दु:खोत्पत्ति कैसे होती है यह जानना जरूरी है । अशुभ आचरणों से दु:ख उत्पन्न होता है । दु:ख की उत्पत्ति का कारण जाने बिना दु:ख को रोकने के उपाय रूप स वर को कैसे जान सकते हक्त ? पापाचरण ही दु:खोत्पत्ति का हेतु है और उसका त्याग ही दु:ख रोकने का उपाय है । लोक तो अनादि से है वह कभी नहीं था, ऐसा नहीं है ।

अवतारवाद :- इस अध्ययन के तीसरे उद्देशक की ११वीं १२ वीं गाथा में इस अवतारवाद का दिग्दर्शन है । इसे त्रैराशिक वाद भी कहा जा सकता है । इसमें जीव की तीन अवस्थाएँ मान्य है- (१) स सार अवस्था (२) सिद्धअवस्था (३) अवतारअवस्था । इस मतवालों की यह मान्यता है कि क्रीडा हेतु या अधर्म विनाश और धर्मोत्थान के लिये महान आत्माएँ पुन: इस लोक में अवतार(स सारी रूप) स्वीकार करते हक्त । यह मान्यता वैदिक पर परा में प्रसिद्ध है । गीता आदि ग्र थों में भी स्पष्ट वर्णन है ।

जैन दर्शन की यह मान्यता है कि सिद्धात्मा कर्म रहित हो जाने से उनके स सार में पुन: आने का कोई कारण नहीं रह जाता । उनमें क्रीडा, राग या द्वेष कुछ नहीं है । जगत के उद्धार के लिये या धर्म के उद्धार के लिये एक से एक महान आत्माएँ स्वाभाविक ही मानव रूप में जन्म धारण करती रहती हक्त ऐसे ही यह स सार चक्र चलता रहता है ।

तीसरे उद्देशक की अ तिम गाथाओं में कहा गया है कि ये सभी मत-सिद्धा त वाले अपने अपने मत की प्रश सा और पुष्टि करते हक्त । अपने मत से सिद्धि होने का दावा करते हैं । वे स्वय सिद्धि को प्राप्त करने का लक्ष्य रखते हुए भी अपने अयोग्य आशय में अवबद्ध रहते हैं उसे सही स्वरूप में समझने या छोडने को तत्पर नहीं हो सकते । इस कारण मिथ्यात्व अज्ञान में रह कर वे सही साधना के अभाव में स सार में ही भ्रमण करते रहते हक्त ।

लोकवाद :- लोक में प्रचलित धारणाओं को आधारभूत-अनाधारभूत कथन पर पराओं को यहाँ चौथे उद्देशक में लोकवाद से सूचित किया गया है । बहुचर्चित विषय भी लोकवाद कहे जा सकते हक्त । यथा- **(१)** अनेक प्रकार के अवतार स ब धी कथन **(२)** यह लोक सात द्वीप मय है **(३)** लोक अन त है इसका पार नहीं है **(४)** जो पदार्थ अभीष्ट और मोक्षोपयोगी है उन्हें देखने वाले सर्वज्ञ होते हक्त किंतु स सार के समस्त कीडों को देखने की आवश्यकता सर्वज्ञ को नहीं होती । **(५)** पुत्र के बिना गति नहीं सुधरती, स्वर्ग नहीं मिलता **(६)** वह पुरुष अवश्य ही श्रृगाल बनता है जो विष्टा सहित जलाया जाता है । **(७)** कुत्ते यक्ष है, ब्राह्मण देव हक्त । **(८)** जो ब्राह्मणों को वाद में हराता है वह स्मशान में

वृक्ष होता है । **(९)** ब्रह्मा सोते हक्त तब जगत का प्रलय हो जाता है । **(१०)** मृतक की इच्छा पूर्ति नहीं होती तब तक वह प्रेतात्मा रूप में यहीं भटकता है । **(११)** जो जैसा है वैसा ही बनता है । त्रस जीव, त्रस ही रहता है, स्थावर जीव स्थावर ही रहता है । वैसे ही स्त्री, पुरुष, मनुष्य, गाय, पक्षी आदि जो जैसा है मर कर वैसा ही बनता है । दूसरे रूप को धारण नहीं करता । स्त्री मरकर स्त्री ही बनती । गाय मर कर गाय ही बनती । इत्यादि अनेक तरह की कि वद तियाँ चल जाती है, चला दी जाती है ।

बिना प्रमाण की या विस गत-अस गत मान्यताएँ उपादेय नहीं हो सकती है । लोकवाद में सेकडों बातों का समावेश हो सकता है । उनमें सत्य या ग्राह्य भी कोई हो सकती है । पर तु बहुलता भ्रामक तत्त्वों की ही होती है । अत: आत्मकल्याण के साधक को आगम प्रमाण से प्रमाणित और कल्याणकारी तत्त्वों की ही शोध करनी चाहिये । लोकवाद में नहीं बह जाना चाहिये ।

निबंध-४१

साधुओं के ३६ अनाचार सूयगडांग सूत्र से

प्रार भ में दो गाथाओं में जीवों के भेद स कलन के साथ प्रथम महाव्रत के पालन का स देश देकर तीसरी गाथा में चारों महाव्रतों के पालन की एक साथ सूचना की गई है फिर अनेक गाथाओं में साधक को विद्वान शब्द से उत्साहित करके स यम के उत्तरगुण स ब धी दोषों से दूर रहने का एव उनका त्याग करने का स देश दिया गया है, वे विषय ये हक्त- सर्व प्रथम कर्माश्रव करने वाले चार कषायों को जानकर उनका त्याग करने का विद्वान साधक को सूचन किया गया है । इन चारों ही कषायों के चार नये पर्याय नाम से उन्हें कहा गया है, यथा- पलिउ चण = माया, भयण =लोभ, थ डिल =गुस्सा, उश्रयण=मान । साध्वाचार स ब धी अनाचरणीय विषयों का स केत इस प्रकार है- (१) वस्त्र धोना-र गना (नील लगाना) (२) एनिमा लेना (३) विरेचन-जुलाब (४) वमन (५) अ जन (६) इत्र-तेल (७) माला (८) स्नान (९) द तप्रक्षालन ।(परिग्रह और कुशील त्याग भी यहाँ गाथा क्रम में मूलगुण कहे हक्त ।) (१०)

आहार के गवैषणा दोष, अनेषणीय आहार (११) रसायन सेवन (१२) चक्षुविभूषा (१३) रसों में आसक्ति (१४) उपघात-पर पीडाकारी प्रवृत्ति (१५) अ गोपा ग धोना (१६) उबटन-लेप (१७) गृहस्थों से अरस-परस(अतिव्यवहार) (१८) ज्योतिष प्रश्न (१९) शय्यातर पिंड (२०) धूत क्रीडा-जुआ, सट्टे आदि के अ क बताना (२१) हस्तकर्म (२२) कलह-विवाद (२३) जूता (२४) छत्र (२५) नालिका खेल (२६) प खा (२७) परस्पर परिकर्म (२८) हरी वनस्पति(हरियाली) पर मल-मूत्र विसर्जन (२९) गृहस्थ के पात्र (३०) गृहस्थ के वस्त्र (३१) गृहस्थ के आसन, शय्या, खाट (३२) घरों में बैठना (३३) गृहस्थ को कुशल क्षेम पूछना या सावद्य पूछना (३४) पूर्वजीवन स्मरण(सुख-भोग) (३५) यश-कीर्ति-श्लाघा-कामनाएँ (३६) गृहस्थ को आहारादि प्रदान। इन सब दोष स्थानों का भिक्षु त्याग करे, शुद्ध स यम नियम में रहे । यहाँ उत्तर गुण के साथ कोई मूलगुण स ब धी कथन भी क्वचित् है ।

भाषा विवेक- (१) किसी के बीच में न बोले (२) मर्मकारी वचन नहीं बोले (३) माया का त्याग कर विचार कर बोले (४) मिश्र भाषा न बोले (५) बोलने के बाद पश्चात्ताप करना पडे ऐसा न बोले (६) गोपनीय बात प्रकट न करे ।(७) होलगोल, तूँ तूँ ऐसे तुच्छ अमनोज्ञ शब्द न बोले ।

निबंध-४२

दानशाला प्याऊ दाणापीठ की चर्चा

इन कार्यों की प्रेरणा श्रावक समाज में मानवता एव जीवों को सुख सुविधा देने की दृष्टि से होती रहती है । जैन मुनि की अपनी विशेष मर्यादा होती है, भाषा विवेक भी उसका विशिष्ट होता है । अत: वह प्रश्नगत विषयों की एका तिक चर्चा में नहीं उलझे । मुनि श्रोताओं को जीवों का स्वरुप और उनके दु:ख का स्वरुप बताकर अनुक पा रस का सिंचन कर सकता है तथा पुण्य-पाप तत्त्व का समुच्चय स्वरुप समझा सकता है । पर तु प्रश्नगत स्थानों कार्यों की स्पष्ट अनुमोदना प्रेरणा नहीं कर सकता । साथ ही इनका निषेध भी नहीं कर सकता है । गृहस्थ अनुक पा रस से और अपने कर्तव्य से स्वय ये कार्य करते

हक्त । शास्त्रकार इस अध्ययन में स्पष्टीकरण करते हक्त कि मुनि इन स्थानों, कार्यों को धर्म या पुण्य कहकर स्पष्ट प्रेरणा करे तो वहाँ होने वाले आर भ समार भ की अनुमोदना-प्रेरणा होने से साधु का प्रथम महाव्रत दूषित होता है । यदि प्रतिपक्ष में होकर साधु गृहस्थों द्वारा किये जाने वाले अनुक पा के इन कार्यों का निषेध करे अथवा इन्हें पाप या अधर्म बतावे तो भी उसका प्रथम महाव्रत दूषित होता है । क्यों कि ऐसा करने में प्राणियों की जीवनवृत्ति का छेद-अ तराय दोष लगता है; जो कि हिंसा रूप है । अत: जैन मुनि प्रश्नगत विषयों में अर्थात् दान-पुण्य के स्थलों अथवा कार्यों स ब धी पक्ष-प्रतिपक्ष रूप किसी भी आग्रह में न पडे, दोनों पक्ष की भाषा न बोले और विवेक के साथ कर्म ब ध से बचे, तो वह निर्वाण मार्ग की सही आराधना कर सकता है । सार यह है कि- मुनि उपस्थित परिषद के योग्य जीव तत्त्व, पुण्य-पाप तत्त्व का स्वरूप, अनुक पा धर्म का समुच्चय स्वरूप, यथावसर समझावे, प्रश्न निर्दिष्ट स्थलों या कार्यों की स्पष्ट चर्चा में न जावे ।

राजप्रश्नीय सूत्र में केशीस्वामी द्वारा प्रदेशी राजा को दिया गया बोध एव चर्चा का प्रकरण है । उसमें प्रतिबुद्ध होने के बाद राजा ने स्वत: स्पष्ट किया कि मक्त राज्य की आय का एक हिस्सा दानशाला में लगाउँगा । वहाँ मुनि के द्वारा दानशाला की प्रेरणा का भी उल्लेख नहीं है और प्रदेशी राजा के स्वत: दानशाला की भावना प्रगट करने पर केशी श्रमण द्वारा निषेध किया गया हो ऐसा भी उल्लेख नहीं है । गृहस्थ धर्म और गृहस्थ भावों के हर प्रवर्तन में जैन मुनि को दखल करना जरूरी नहीं होता है, कितने ही कार्यों में उन्हें तटस्थ और मौन भाव से रहना होता है । तदनुसार केशी श्रमण ने प्रदेशी राजा के उस कथन को मौन पूर्वक ही सुना । उसके पक्ष-प्रतिपक्ष में कुछ नहीं कहा अर्थात् उसके दानशाला खोलने की बात पर धन्यवाद भी नहीं कहा और ऐसा करने से रोका भी नहीं । इस आगम दृष्टा त से भी प्रस्तुत अध्ययनगत भावों की पुष्टी होती है कि मुनि दोनों प्रकार की भाषा नहीं बोले । इस प्रकार गृहस्थ के मिश्र मार्ग से स ब धित विचारणा, मुनि की भाषा को लक्ष्य करके इस अध्ययन की गाथा १६ से २१ तक की गई है ।

आगे गाथा २२-२३-२४ में मुनि को निर्वाण मार्ग का उपदेश देने का सूचन किया गया हे । वह उपदेश स सार समुद्र में डूबते प्राणियों के लिये द्वीप के समान रक्षक हो । स्वय मुनि आश्रवों को रोके और आश्रव रहित बनकर शुद्ध अनाश्रव धर्म, स यम-स वर धर्म का कथन करे । क्यों कि वही अनुपम और परिपूर्ण मोक्ष मार्ग है ।

निबंध-४३

चार समवसरण-चार वाद-३६३ पाखंड स्वरूप

क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी ये चार समवसरण हक्त । इनके विस्तृत भेद की अपेक्षा ३६३ मतमता तर कहे गयेहक्त । **(१) क्रियावादी के** १८० भेद होते हक्त । मुख्य रूप से नौ तत्त्व हक्त उनके स्वत: परत: एव नित्य अनित्य ऐसे दो दो भेद होते हक्त फिर काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा ये पाँच भेद होने से ९×२×२× ५=१८० कुल भेद होते हक्त । **(२) अक्रियावादी के** ८४ भेद होते हक्त । मुख्य रूप से सात तत्त्व हक्त उन्हें स्वत: परत: दो भेद से गुणा करें, फिर काल, स्वभाव, नियति ईश्वर, यदृच्छा और आत्मा ये ६ भेद से गुणा करें, यथा- ७×२×६=८४ कुल भेद हुए । **(३) विनयवादी के** ३२ भेद होते हक्त ।(१) देवता (२) राजा (३) यति (४) ज्ञाति (५) वृद्ध (६) अधम (७) माता (८) पिता, इन आठ का मन वचन काया और दान से विनय करना चाहिये । इस प्रकार ८×४=३२ कुल भेद होते हक्त ।

(४) अज्ञानवादी के ६७ भेद होते हक्त । जीवादि ९ तत्त्वों के सात-सात भ ग है (१) अस्ति (२) नास्ति (३) अस्तिनास्ति (४) अवक्तव्य (५) अस्ति अवक्तव्य (६) नास्ति अवक्तव्य (७) अस्ति नास्ति अवक्तव्य यों ९×७=६३ । पहले के चार भ गों में- सत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है, यह कौन जानता है और जानने से लाभ भी क्या है ? उसी प्रकार असत्, सदसत् और अवक्तव्य के लिये उक्त प्रश्न उपस्थित करना ये कुल चार भ ग जोडने से ६३+४=६७ भेद होते हक्त ।

क्रियावादी आदि चारों मता तरों के सिद्धा त :- ये चारों एका तवादी हैं।यों तो क्रियावाद, विनयवाद कुछ दरज्जे ठीक भी है कि तु एका त आग्रह होने से अशुद्ध है ।

(१) क्रियावाद– इस सिद्धा त वाले क्रिया से मुक्ति मानते हक्त । ज्ञान की उपादेयता नहीं स्वीकारते हक्त । जब कि ज्ञान के बिना क्रिया अ धी होती है, पूर्ण रूप से फलदायी नहीं हो सकती । इसलिये क्रियावाद के वर्णन की गाथा ११ में कहा गया है कि– तीर्थंकर विद्या और चरण अथवा ज्ञान और क्रिया दोनों से मुक्ति का कथन करते हक्त । दूसरी बात यह है कि ये क्रियावादी सभी पदार्थों में अस्तित्व धर्म स्वीकार करते हक्त, नास्तित्व धर्म नहीं स्वीकारते । वास्तव में एका त अस्तित्व मानने पर जगत के व्यवहारों का भी उच्छेद हो जायेगा । अत: प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्वरूप से है और पर स्वरूप से नहीं है, ऐसा मानना चाहिये ।

(२) अक्रियावाद– ये अक्रियावादी तीन प्रकार के हक्त– (१) आत्मा को ही नहीं स्वीकारते (२) आत्मा आदि सभी पदार्थ क्षण विनाशी–अनित्य है (३) आत्मा सर्वलोकव्यापी है । इन तीनों के मत में क्रिया का कोई महत्त्व नहीं है । क्यों कि मूल आत्मा स ब धी मान्यता ही अशुद्ध है । इस तरह ये एक प्रकार से नास्तिक मत बनते हक्त । आत्मा के जन्म-मरण भव भ्रमण की सिद्धि इन तीनों में नहीं हो सकती । क्यों कि (१) आत्मा नहीं तो भव भ्रमण किसका ? (२) आत्मा क्षण विनाशी है तो परभव किसका ? (३) सर्वलोकव्यापी है तो मरकर जायेगा कहाँ ? ये एका त-वादी सही मोक्षमार्ग को समझ ही नहीं सकते, कारण यह है कि मूल मान्यता ही अशुद्ध है । वास्तव में आत्मा है वह द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य है और शरीर व्यापी है । एक शरीर का त्याग कर नया शरीर धारण कर जन्म मरण करती है ।

(३) विनयवाद– एका त विनयवाद भी दूषित है । क्यों कि यह ज्ञान तथा क्रिया का निषेध करके गुणी अवगुणी पापी धर्मी सभी को एक सरीखा करता है । यह वास्तव में विनय धर्म नहीं, अविवेक धर्म है कि किसी प्रकार का विवेक ज्ञान नहीं करना । इस मत वाले वास्तव में अज्ञानी हक्त, अविवेकी हक्त । इस कारण धर्म के मूल विनय जैसे गुण के आल बन से भी मोक्ष मार्ग से और मुक्ति से दूर जाते हक्त । जिसका कारण यह है कि ज्ञान दर्शन चारित्र तप यह मोक्ष मार्ग है, इसकी उपेक्षा करना ही उनका मूल म त्र है । इस मान्यता वाले यह मानते हक्त कि सभी का विनय करने मात्र से मुक्ति हो जायेगी अर्थात् अहम् भाव

का नाश हो जाने से और आत्मा में पूर्ण नम्रता हो जाने से उस आत्मा की शीघ्र मुक्ति हो जाती है । पर तु यह उनका एका तवाद है । नम्रता अच्छी चीज है कि तु अकेले कोई गुण से मुक्ति कहना उपयुक्त नहीं है । अकेले घी से सीरा नहीं बन सकता । जब कि घी सभी पदार्थों में श्रेष्ठ एव कीमती है, फिर भी आटा, शक्कर और पानी के बिना अकेले घी से सीरा कदापि नहीं बन सकता । उसी प्रकार अकेले विनय से ही मुक्ति मानना भ्रम है, गलत है । उसके साथ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप भी चाहिये । तभी मोक्ष की विवेकपूर्ण साधना हो सकती है । इस मत वाले गधे, कुत्ते, पशु, पक्षी, अधम, उत्तम सभी सामने मिलने वालों को नमस्कार करना ही अपना सिद्धा त मानते हक्त और उसी से मोक्ष प्राप्त करने का स तोष करते हक्त ।

(४) अज्ञान वाद– इस मतवालों की ऐसी समझ होती है कि ज्ञान से अनेक विवाद खडे होते हक्त, विभिन्नताएँ भी ज्ञान वालों में देखी जाती है, आत्मा और लोक के स ब ध में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ ज्ञान के कारण ही है; अत: शा ति का स्थान अज्ञान है और शा ति ही मुक्ति की निशानी है ।

वास्तव में अज्ञानवादियों का कोई सिद्धा त नहीं हो सकता । क्यों कि सिद्धा त तो स्वय ज्ञान स्वरूप होता है । उपदेश देना, किसी को समझाना, चर्चा करना भी ज्ञान के माध्यम से होता है । अज्ञानवादी से वास्तव में पढना, लिखना, बोलना, समझना समझाना, उपदेश देना, चर्चा करना, अपने मत का स्थापन करना और अन्य मत का उत्थापन करना आदि कुछ भी करना नहीं हो सकता । जब कि ये अज्ञानवादी उक्त सभी प्रवृत्तियाँ करते हक्त । इस प्रकार स्पष्ट ही उनके मत में वचन विरोध होता है । ज्ञान का उपयोग हर कदम-कदम पर करना ही पडता है फिर भी ज्ञान की उपेक्षा दिखाना और अज्ञान का दावा करना योग्य नहीं है । सच्चे अर्थ में अज्ञानवादी वे हक्त जो आ ख, मुँह आदि सभी ब द करके काली अ धेरी कोटडी में अकेले बैठकर स लेखना-स थारा की साधना करे । किसी से कुछ भी कहना, समझाना, चर्चा करना उनके अज्ञानवाद का अपमान है और ज्ञान का उपयोग करना होता है । इस प्रकार अज्ञानवादियों की कथनी और करणी में ही विरोध आता है ।

ऐसे सिद्धा त से कल्याण की जगह कर्म ब ध और स सार वृद्धि होने की अधिक स भावना है । कहा है– **अण्णाणी कि काही, कि वा णाहिइ सेय पावग ॥दशवै.४**। किसी भी क्षेत्र में अज्ञानी प्राणी अपने हिताहित का विवेक नहीं कर सकता । अत: ज्ञानपूर्वक सच्चारित्र द्वारा मुक्ति की आराधना करना ही निराबाध मार्ग है । जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी महापुरुषों द्वारा प्रकाशित किया गया है ।

प्रश्न– सर्वज्ञ सर्वदर्शी का कौन सा वाद है ? क्या वह चार समवसरण में नहीं है ?

उत्तर– उक्त चारों समवसरण और चारों वाद एका तवाद की अपेक्षा कहे गये हक्त । सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर प्रभु का मोक्षमार्ग ज्ञान और क्रिया के सुमेल वाला सिद्धा त है । एका त के आग्रह में प्रभु का सिद्धा त नहीं है । जिस प्रकार आटा, पानी, शक्कर एव घी के सुमेल से हलवा–सीरा बनता है, उसी प्रकार प्रभु द्वारा निर्दिष्ट मोक्षमार्ग में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप चारों का समादर है, सुमेल युक्त साधना है । यों अपेक्षा से प्रभु का अनेका गी सिद्धा त क्रियावादी के रूप में परिचय पाता है कि तु वह एका गी क्रियावादी रूप नहीं है । भगवती सूत्र में चार समवसरण के भेद से तत्त्व विस्तार है, वहाँ सर्वज्ञ प्रभु के सिद्धा त को क्रियावादी के नाम से सूचित किया गया है और एका तवादियों को वहाँ तीन भेदों में ही समाविष्ट किये हक्त । अत: अपेक्षा से तीर्थंकर प्रभु का मार्ग क्रियावादी समवसरण में गिनाया जाता है । वह अपेक्षा अनेका त दर्शन रूप और एका त आग्रह के अभाव रूप में है ।

मतमता तर क्या ३६३ ही होते :– अलग-अलग समय में इसकी स ख्या घटती बढती रहती है । उसे किसी एक स ख्या में बा धना सत्य से परे हो जाता है । अपेक्षा मात्र से और विवक्षा से ही उस स ख्या का सुमेल करना पडता है । वास्तव में मतमता तर होना समय-समय के मानवों के स्वत त्र चि तन पर निर्भर करता है । एक-एक मुख्य मत भी दुनिया में बहुत है और उसमें भी अनेक बुद्धिवादी चि तको के नये-नये मतमता तर होते रहते हक्त ।

इस अध्ययन में क्रियावादी आदि ४ मुख्य भेद का वर्णन है

और व्याख्याकारों ने इन चार के ३६३ कुल भेद किये हक्त । चि तन करते हुए इन भेदों को समझने पर दुनिया के सभी मतमता तरों का इनमें समावेश नहीं हो सकता । फिर भी एक सीमा में ब ध कर किसी भी तरह ३६३ भेद में सभी मतों का समावेश हो जाता है, ऐसा मान लिया जाता है । ऐसी कथन पर परा भी बहु प्रचारित है । उसी कारण से लोक में ३६३ पाख ड मत कहे जाते हक्त । पर तु ऊपर बताये गये चार समवसरण के भेद-प्रभेदरूप ३६३ प्रकार जो हक्त उन्हें ३६३ पाख ड की स ज्ञा में बैठाना पुन: विचारणा करने योग्य है । क्यों कि ईश्वर कर्तृत्ववादी, नियतिवादी अनेक वाद दुनिया में है जिनका ऊपर बताये गये ३६३ भेदों में समावेश नहीं हो सकता । वर्तमान में होने वाले दादा भगवान का मत, सोनगढी, श्रीमद् आदि के प थों को इन भेदों में समझाना कठिन है। अत: चार समवसरण के व्याख्याकारों ने जो ३६३ भेद किये हक्त उन्हें उस रूप में समझा जा सकता है, इसके साथ अन्य भी अनेक मतमता तरों के रूप हो सकते हक्त, यह भी स्वीकारना चाहिये ।

निबंध–४४

उच्च गुणों पर पानी फेर देने वाले अवगुण

एक श्रमण सर्वथा अकि चन है । भिक्षा द्वारा निर्वाह करता है । उसमें भी रूखा सूखा आहार प्राप्त करके प्राण धारण करता है । इतना उच्चाचारी होकर भी यदि वह अपनी ऋद्धि-लब्धि एव भक्तों की जमघट या ठाठ बाठ का, अपने शरीर का गर्व करता है, अपनी प्रश सा और प्रसिद्धि की आका क्षा करता है, वह जन्म-मरण की वृद्धि करता है ।

एक श्रमण भाषाविज्ञ है, हितमित प्रिय भाषण करता है, प्रतिभा स पन्न है, शास्त्रज्ञान में निपुण-विशारद है, प्रज्ञावान बुद्धिशाली है एव धर्म भावना से उसका हृदय अच्छी तरह से भावित है परन्तु इतने गुणों के होते हुए भी कभी अह भाव में आकर दूसरों का तिरस्कार करता रहता है, दूसरो की निंदा करता है, उन्हें झिडक देता है, अपने लाभ के मद में अन्य की हीलना करता है । वह साधक समाधि भ्रष्ट हो जाता है । वह गुणवान होते हुए भी मूर्ख की कोटि में हो जाता है ।

ऐसे तुच्छ प्रकृति के साधक अपनी प्रज्ञा के मद में सारे गुणों पर

पानी फेर देते हक्त । उनका यह लोक परलोक दोनों ही बिगडता है अर्थात् यहाँ भी निंदा पाते हक्त और विराधक बनते हक्त ।

निबंध-४५

मुनि को उपदेश का विवेक

सुसाधु द्वारा मुनिधर्म की मर्यादा में अबाधक यथातथ्य धर्मोपदेश देने या धर्म युक्त मार्गदर्शन देने का इस अध्ययन में स केत किया गया है, वह इस प्रकार है- **(१)** मुनि स्वय सदा धर्म में रति भाव एव स सार के प्रति अरति भाव में सफल होवे । फिर वह अकेला हो या समूह के साथ हो; प्ररूपणा तो वही करे जो मुनिधर्म के और आगम के अविरुद्ध हो, सुस गत हो । **(२)** सुसाधु धर्म का महत्त्व बताते हुए यह प्रेरणा करे कि जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही फल भोगता है, जन्मता भी अकेला है और मरकर परभव में भी अकेला ही जाता है, धर्म के सिवाय उसका कोई मित्र सहायक नहीं है । **(३)** कर्मब ध के कारण मिथ्यात्व, अव्रत आदि; कर्म ब ध से मुक्ति रूप, मोक्ष और उसके उपाय रूप, सम्यग्दर्शन, स यम आदि का यथार्थ स्वरूप गुरु-आचार्यादि से जानकर जनहितकारक धर्मोपदेश देवें । **(४)** निंदित-गर्हित कार्य- सप्तव्यसन आदि अथवा अन्याय, अनीति, शास्त्र विपरीत प्ररूपण आदि अकृत्य नहीं करके जीवन में सदाचरण अपनाने का उपदेश करे । सदाचरण-धर्माचरण से परभव स ब धी फल की इच्छा-स कल्प-निदान कदापि नहीं करना ऐसा समझाना चाहिये । पर तु केवल मुक्ति के लक्ष्य से ही धर्माचरण करने कराने का उपदेश देना चाहिये । सार यह है कि अकरणीय कार्यों को नहीं करने का और करणीय कार्यों में शुद्ध लक्ष्य रखने का उपदेश द्वारा समझाना चाहिये । **(५)** श्रोता के अभिप्राय, प्रकृति, पद, सत्ता का एव उसके श्रद्धेय देव-गुरु का एव अपनी क्षमता-शक्ति आदि का विचार करके, विवेक के साथ, ग भीरतायुक्त भाषा की शालीनता से उपदेश देवें । भाषा या भाव के अविवेक से अथवा श्रोता के मानहानि आदि के कारण कई प्रकार की आपत्ति, विवाद, वैमनस्य पैदा हो सकते हक्त । साधु को आक्रोश, वध परीषह आने की स्थिति भी पैदा हो सकती है, उपदेष्टा का तिरस्कार या बहिस्कार भी किया जा सकता है । अत:

परिषद का पूर्ण अनुभव रखते हुए विवेक और भाव शुद्धि के साथ मुनि उपदेश देवे एव किसी का अहित न हो वैसा उपदेश देवे ।

(६) चतुराई के साथ श्रोता-परिषद के मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय आदि दूर होवे; उनकी आत्मा धर्म में अभिवृद्धि करे, इस प्रकार उपदेश देवे । स्त्रीयों से अथवा शब्द रूप आदि सभी इन्द्रिय विषयों से विरक्ति पैदा हो, इस प्रकार उपदेश देवे । सु दर दिखने वाले स्त्री के रूप आदि और मधुर मनोज्ञ लगने वाले विषय-भोग एव ऐसो-आराम आदि कि पाक फल के समान मधुर है पर तु परिणाम इनका दुर्गति दायक है । यह ज्ञान युक्ति पूर्वक उनकी आत्मा में जमे ऐसा योग्य उपदेश देवे । जिससे वे स सार से विरक्त होकर मुनि धर्म स्वीकार करे या गृहस्थ जीवन में भी आसक्ति घटाकर व्रत प्रत्याख्यानमय जीवन जीवे ।

(७) साधु अपनी पूजा, प्रतिष्ठा, सम्मान, यश, कीर्ति आदि प्राप्त करने के उद्देश्य से उपदेश न दे कि तु गुरुआज्ञा से, स्वाध्याय हेतु एव धर्मप्रेमी जनता के हितार्थ धर्मोपदेश देवे तथा जिनशासन की प्रभावना के लिये, धर्मप्रचार के लिये उपदेश देवे । अपनी स यम मर्यादा में रहकर छकाय जीवों की रक्षा-दया युक्त उपदेश करे, किसी भी जीव के अहितकारी उपदेश नहीं करे ।

(८) उपदेश कोई सुने या न सुने, आचरण करे या न करे तो भी किसी पर राजी-नाराजी, अव्यवहार, अस तोष भाव न रखे और अस तोष प्रकट न करे, कि तु अपने सामर्थ्य या प्रभाव अनुसार धर्मोपदेश के माध्यम से प्रयत्न करता रहे कि जीव धर्म समझे, व्रती-महाव्रती बने । कि तु इस लक्ष्य से भी किसी को अप्रिय-अमनोज्ञ-अपमान योग्य कुछ न कहे ।

(९) किसी का अनिष्ट भी न करे । निंदा-विकथा न करे और विकथाओं की चर्चा, उपदेश के माध्यम से न करे । सावद्य-हिंसाकारी आर भजनक प्रवृतियों की प्रेरणा या उपदेश भी न करे । परिषद के देव, गुरु या रुचि आदि की कटु शब्दों में आलोचना, निंदा या मिथ्या आक्षेप आदि युक्त धर्म कथा न करे । **(१०)** उपरोक्त सभी अनर्थकारी असद् उपदेशों का त्याग कर, विवेक ज्ञान को धारण कर, मुनि शा त, अनुकूल और कषाय रहित होकर उपदेश करे ।

निबंध-४६

बारह प्रकार के जीव और उनका आहार

(१) वनस्पति (२) मनुष्य (३) तिर्यंच प चेन्द्रिय में जलचर (४) चतुष्पद स्थलचर (५) उरपरिसर्प (६) भुजपरिसर्प (७) खेचर (८) विकलेंद्रिय (९) अप्काय (१०) तेउकाय (११) वायुकाय (१२) पृथ्वीकाय।

अनुशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि इस अध्ययन की वर्णन भगवती सूत्र, प्रज्ञापना सूत्र, जीवाभिगम सूत्र आदि के किसी भी क्रम पद्धति का अनुसरण नहीं करता है, बल्कि स्वत त्र एव अक्रमिक ढ ग से है । जिसका वास्तविक कोई कारण तर्क शक्ति से भी ज्ञात होना कठिन सा लगता है । तथापि ऐसी कल्पना की जा सकती है कि कभी किसी के प्रमाद से भी ऐसा व्युत्क्रम बन गया हो । यदि ऐसा न हुआ हो तो फिर यह मानना ही अवशेष रहेगा कि- **सूत्राणा विचित्रगतिः ।** सूत्र रचनाकार को जिस गु थन में, जब जो पद्धति उचित, उपयोगी और किन्हीं अज्ञात कारणों से प्रास गिक लगे, वही क्रम विषय गु थन का किया जा सकता है । ऐसी स्थिति में क्रम अक्रम सभी निर्दोष हो जाता है और इच्छित किसी भी क्रम व्युत्क्रम से वह तत्त्व स ब धी परिज्ञान तो हो ही जाता है । यहाँ भी वनस्पति से प्रार भ कर पृथ्वी तक विषय को पूर्ण करने के मध्य में त्रस जीवों के आहार का परिज्ञान है तो भी कुल मिला कर दस ही द डकों के आहार स बधी बहुत कुछ ज्ञेय तत्त्व का अनुपम अनुभव हो जाता है । अतः जो भी क्रम उपलब्ध है वह ज्ञान वर्धक ही है, उसमें कुछ भी हानि नहीं है, यह मान कर स तोष किया जाना ही समाधान कारक है ।

प्रश्न- उपरोक्त १२ जीव के आहार स ब धी ज्ञातव्य क्या है ?

उत्तर- वनस्पति :- (१) सर्व प्रथम जो जीव पृथ्वी पर उत्पन्न होता है वह पृथ्वी के स्नेह का आहार करता है अर्थात् जैसी भी वह पृथ्वी सचित्त या अचित्त है और जैसा भी उसका वर्ण ग ध रस स्पर्श आदि है उसी के सार को खींच कर बीज में आने वाला मुख्य जीव अ कुरित होता है । उसकी निश्रा में फिर मूल(जड)और क द के जीव आकर

उत्पन्न होते हक्त । वे भी पृथ्वी के अ दर होने से पृथ्वी का स्नेह खींच कर आहार ग्रहण करते हक्त । उसके बाद स्क ध आदि के जीव पृथ्वी से आहार लेने वाले मूल-क द के जीवों के स्नेह का आहार ग्रहण करते हक्त । इसके अतिरिक्त ये सभी वनस्पति विभागों के जीव स्वत त्र भी छकाया के जीवों का स योग अनुसार आहार करते हक्त और अपने शरीर रूप में परिणत करते हक्त । इस प्रकार की आहार पद्धति के अनुसार यहाँ वनस्पति जीवों के चार प्रकार होते हक्त-(१) पृथ्वीयोनिक वनस्पति जीव अर्थात् पृथ्वी का स्नेह खींचकर आहार ग्रहण करने वाले (पृथ्वीयोनिक वृक्ष) (२) पृथ्वीयोनिक वनस्पति जीवों से आहार ग्रहण करने वाले वनस्पति जीव(पृथ्वीयोनिक वृक्ष में वृक्ष) (३) वनस्पति जीव योनिक वनस्पति जीवों से क्रमिक आहार लेने वाले वनस्पति जीव(वृक्ष योनिक वृक्ष में वृक्ष) (४) वृक्षयोनिक वृक्ष से आहार लेने वाले वनस्पति के फल-बीजपर्यंत के दस विभागों के वनस्पति जीव ।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वनस्पति का मुख्य जीव एक होता है जो सर्वत्र व्याप्त होता है । उसके सिवाय उस वनस्पति के कण-कण में जीव होते हक्त, वे अपने से पूर्व के पृथ्वी की दिशा वाले जीवों से स्नेह रूप में आहार ग्रहण करते हक्त ।उसके अतिरिक्त भी अपनी क्षमता स योग अनुसार छ काया के जीवों में से किसी का भी आहार कर सकते हक्त ।

(२) वृक्ष में कलम करके उसमें अन्य कोई वनस्पति रोपी जा सकती है । यह कलम स्क ध शाखा-प्रशाखा में की जा सकती है । इसे आगम शब्दों में वृक्ष में **अध्यारोह** कहा गया है । इस अध्यारोह की आहार पद्धति भी उपरोक्त अनुसार है सिर्फ प्रार भ पृथ्वी के आहार की जगह वृक्ष से शुरू होता है । इसके भी चार प्रकार हक्त- (१) वृक्षयोनिक अध्यारोह के वनस्पति जीव(वृक्ष से आहार लेने वाले) (२) वृक्षयोनिक अध्यारोह में वनस्पति जीव(वृक्षयोनिक अध्यारोह से आहार लेने वाले) (३) अध्यारोह योनिक वनस्पति जीवों में वनस्पति जीव(अध्यारोह योनिक अध्यारोह वनस्पति से आहार ग्रहण करने वाले) (४) अध्यारोह योनिक अध्यारोह के वनस्पति जीवों से आहार लेने वाले फल-बीज पर्यंत के दस विभाग के जीव । स्नेह खींचने के सिवाय भी छकाया जीवों का स योग क्षमतानुसार आहार करते हक्त । इस प्रकार (१) घास

(२) धान्य (३) हरियाली(हरितकाय) स ब धी ४-४ आलापक है ।

इस प्रकार आय, काय, कुहणा, भू फोडा, सर्पछत्रा आदि वनस्पति के आहार स ब ध में केवल एक ही आलापक समझना, चार नहीं ।

(३) पृथ्वी के समान जल में भी वृक्ष उत्पन्न होते हक्त । वे पृथ्वीयोनिक की जगह उदक योनिक कहलाते हक्त । इसके भी चार आलापक वृक्ष के, चार अध्यारोह के, चार तृण के, चार धान्य के, एव चार हरियाली के आलापक होते हक्त । आय, काय आदि का एक आलापक ही होता है ।

(४) इन उपरोक्त स्थलज, जलज सभी वनस्पति भेदों के निश्रा में त्रस जीव उत्पन्न हो सकते हक्त । वे उस वनस्पति के स्नेह का आहार करते हक्त और स योगानुसार छकाया जीवों का भी आहार करते हक्त ।

मनुष्य :- माता-पिता के शुक्र शोणित के मिश्रण के स्नेह का सर्व प्रथम आहार करता है । बाद में माता द्वारा किये गये आहार से उत्पन्न रस के ओज का आहार करता है । गर्भ से बाहर आने पर स्तनपान से माता के दूध और स्नेह(घी) का आहार करता है । अनुक्रम से बडा होने पर नाना प्रकार के आहार एव छः काया का आहार करता है ।

तिर्यंच प चेन्द्रिय :- मनुष्य के वर्णन के समान समझना। कुछ विशेषताएँ इस प्रकार है- जलचर जीव गर्भ के बाहर आने पर स्तनपान नहीं करते कि तु जल के स्नेह का आहार करते हक्त । अनुक्रम से वृद्धि पाने पर वनस्पति और त्रस, स्थावर प्राणियों का आहार करतेहक्त और छः काय के मुक्त शरीर का आहार करतेहक्त ।

पक्षी भी स्तनपान नहीं करते कि तु वे प्रार भ में माता के शरीर के स्नेह का आहार करते हक्त । उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प प्रार भ में वायु के स्नेह का आहार करते हक्त ।

विकलेंद्रिय :- विकलेन्द्रिय जीव त्रस-स्थावर प्राणियों के सचित्त या अचित्त शरीर में उत्पन्न होते हक्त और उसी शरीर के स्नेह का प्रथम आहार करते हक्त । कुछ समय बाद(पर्याप्त होने बाद) यथा स योग अन्य त्रस-स्थावर प्राणियों के शरीर से भी आहार प्राप्त करते हक्त । इसके अतिरिक्त अशुचि में, पसीने में, ग दे स्थानों में और चर्म कीट आदि रूप में भी उत्पन्न होते हक्त और वहीं का आहार ग्रहण करते हक्त ।

चार स्थावर :- (१) अप्काय- त्रस स्थावर प्राणियों के सचित्त-अचित्त शरीर में जहाँ पोलार, वायु हो, वहाँ पानी के जीव उत्पन्न होते हक्त और फिर उस अप्काय में अन्य अप्काय के जीव उत्पन्न होते हक्त । इस प्रकार (१) त्रस स्थावर योनिक जल (२) जल योनिक जल, इन दोनों में (३) त्रस जीव उत्पन्न होते हक्त । प्रार भ में सभी जीव अपने उत्पत्ति स्थान के स्नेह का आहार करते हक्त । बाद में यथायोग्य छः काया जीवों के शरीर का आहार करते हक्त । वनस्पति के समान पानी स ब धी चार आलापक हक्त- (१) त्रस स्थावर योनिक जल जीव (२) त्रस-स्थावर योनिकजल में जल जीव (३) जलयोनिक जल में जल जीव (४) जलयोनिक जल में त्रस जीव । **(२) अग्निकाय :-** त्रस-स्थावर प्राणियों के सचित्त-अचित्त शरीर में या उनके आश्रय में उत्पन्न होते हक्त तथा उन्हीं के स्नेह का आहार करते हक्त । फिर उस अग्नि में अन्य अग्निकाय के जीव और क्रमशः त्रस जीव पैदा होतेहक्त ।चारोंआलापक पूर्ववत् समझना। **(३) वायुकाय (४) पृथ्वीकाय :-** अग्नि के समान ही वायु तथा पृथ्वी के चार-चार आलापक जानना ।

अध्ययन के अ त में उपस हार करते हुए कहा गया है कि इस प्रकार स सार के समस्त प्राणी कर्म विपाक अनुसार जन्म मरण और आहार करते हक्त । इस तत्त्व को जानकर मुमुक्षु साधक आहार के विषय में गुप्ति करे अथवा योग्य समिति करे और स यम-तप द्वारा मोक्ष की साधना में सदा प्रयत्नशील रहे ।

निबंध-४७

प्रत्याख्यान का महत्त्व एवं श्रद्धा

किसी व्यक्ति ने राजा को मारने का स कल्प किया । वह अवसर की प्रतिक्षा करता है । प्रतीक्षा में १० वर्ष व्यतीत हो गये अवसर नहीं मिला । वह व्यक्ति राजा का अमित्र, वधक ही कहलायेगा । मित्र नहीं कहलायेगा । स कल्प का त्याग नहीं करने से वह खाने-पीने के एव ऐसो-आराम के समय भी वैरी-वधक ही माना जाता है । जब वह विचार परिवर्तन से उस स कल्प का त्याग कर दे तो फिर वह वधक या वैरी नहीं रहेगा ।

स सार के प्राणी सन्नी असन्नि अवस्थाओं में भ्रमण करते रहते

हक्त । अत: जो वर्तमान में असन्नि हक्त, जिनके हिंसाजन्य प्रवृत्तियों का स कल्प नही है; फिर भी वे हिंसा त्यागी नहीं है, पाप त्याग के स कल्प से युक्त हुए बिना भूतकाल के पापमय स कल्पों की पर परा ब ध नहीं होती है । एक असत्यभाषी चालाक व्यक्ति है, झूठ बोलने में प्रसिद्ध है । वह वाचा ब द होने से मूक हो गया । अब बोलने की प्रवृत्ति नहीं होने से वह असत्य का त्यागी नहीं है उसे सत्यवादी भी नहीं कहा जायेगा । वह यदि असत्य का त्याग कर देगा, विरति परिणाम में स कल्प बद्ध हो जायेगा, महाव्रत धारी बन जायेगा; तो सत्यवादी, असत्य त्यागी कहा जा सकेगा । अत: पाप आश्रव रोकने के लिये जीव का अविरतिमय चित्त से परिवर्तित होकर विरतिमय परिणामों में आना आवश्यक है ।

राजा की हिंसा के स कल्प वाला प्रतिक्षा के समयों में वर्षों में राजा की कुछ भी हानि नहीं करता है, फिर भी वह वधक या अमित्र है । वैसे ही जीव में पापों के आचरण की योग्यता बनी रहती है जिससे वह अप्रत्याख्यान रूप क्रिया का भागी बनता है ।

प्रश्न– जिसको कभी देखा नहीं, सुना नहीं, जाना नहीं है, उसके प्रति हिंसक चित्त कैसे ?

उत्तर– जैन सिद्धा तानुसार जीव सभी योनियों मे भ्रमण करता है, इसलिये उसके पूर्वभव के पापमय, चित्त के स स्कार की पर परा नष्ट नहीं होती है । इस कारण कोई जीव किसी का अनदेखा नहीं है । अत: वधक परिणामों की पर परा भवा तर से चली आती है । जिस प्रकार राजा की हिंसा का स कल्पबद्ध व्यक्ति गाढ निद्रा में भी सोता है, फिर भी उसे अहिंसक या राजा का मित्र तो नहीं कहा जा सकता । उसी तरह एकेन्द्रिय आदि सभी जीव विरति परिणाम के अभाव में अविरत है और अविरत जीव आश्रव–कर्माश्रव युक्त होता है ।

प्रश्न–जब हम कभी झूठ बोलते नहीं है, किसी जीव को दु:ख देते नहीं है, मारते नहीं है तो त्याग का ढोंग और अह करके आत्मा को भारी क्यों करें ?

उत्तर– ऐसा सोचने वाले व्यक्ति अपने आप को निष्पापी और त्यागी होने का झूठा विश्वास करते हक्त । वे तीव्र मोह कर्म के नशे में सुप्त

होते हक्त । वे पाप और त्याग को समझते ही नहीं अर्थात् पापों के सूक्ष्म बादर भेद प्रभेदों से वे अनभिज्ञ है और व्रत–त्याग के माहात्म्य से अजाण है । स सार का छोटा से छोटा प्राणी भी पाप रहित नहीं है । पूर्व तीसरे अध्ययन में बताया गया है कि एकेन्द्रिय जीव भी त्रस स्थावर प्राणियों के प्राणों को विध्वस्त कर उनके अचित्त शरीर का आहार करते हक्त । तो मानव की तो बात ही क्या ? उसके जीवन में कदम-कदम पर ज्ञानियों की दृष्टि में अनगिनत पाप रहे हुए हक्त । निष्पाप जीवन तो सच्चे त्यागी महाव्रतधारी का हो सकता है । अत: स सारी मानव को यथाशक्य पापों का, उपभोग परिभोग का, ऐशोआराम का, इच्छाओं का त्याग-प्रत्याख्यान करना ही चाहिये । प्रत्याख्यान का चित्त ही जीव को आश्रवमुक्त, कर्मब ध मुक्त बना सकता है । प्रत्याख्यान के चित्त से अज्ञान और मिथ्यात्व=मिथ्या विचारों का खात्मा होता है । अन त तीर्थंकरों ने, महापुरुषों ने प्रत्याख्यान को जीवन में उत्तरोत्तर स्थान दिया है । अविरति– अप्रत्याख्यान से प्रत्याख्यान में पहुँच कर ही जीव वास्तव में जिनानुयायी होकर आत्म विकास साध सकता है । विरति को अह या ढोंग कहना या समझना भी अविरति की, अप्रत्याख्यान की जीव की अनादि टेव का प्रभाव है । उसी अनादि अज्ञान के गुप्त नशे में व्यक्ति अपने आपको ज्यादा ज्ञानी त्यागी या अपापी मानने का भ्रम करता है । उसे जिनवाणी के अध्ययन से सूक्ष्म, सूक्ष्मतम और स्थूल सभी पापों को समझकर वास्तविक और परिपूर्ण पाप त्यागी बनने का प्रयत्न करना चाहिये ।

इस अध्ययन का परमार्थ :– आत्म कल्याण के इच्छुक आत्माओं को पाप और अविरति को जिनवाणी से भलीभाँति समझ कर पापों का स पूर्ण त्यागी–विरत बनना चाहिये । जब तक पूर्ण त्याग न हो सके तब तक अपने ज्ञान का विकास करके **जितना शक्य हो** उतना पाप का, प्रवृत्तियों का, भोग-उपभोग सामग्री का और मौज शौक का त्याग करना चाहिये । विरतिमय प्रत्याख्यानमय चित्त की वृद्धि करनी चाहिये अन्यथा अनादि पाप और भोग स स्कार आत्मा पर हावी होकर उसे(अपने आपको अपापी होने का भ्रम रहते हुए भी) पापी और अविरत बनाये रखेंगे । पाप और अविरत का परिणाम स सार परिभ्रमण

और दु:ख रूप है । जब कि प्रत्याख्यान का परिणाम कर्मब ध मुक्ति और स सार दु:ख मुक्ति रूप है ।

निबंध-४८

भाषा संबंधी अनाचार एवं विवेक ज्ञान

(१) लोक द्रव्यापेक्षया शाश्वत है नित्य है और पर्यायापेक्षया अशाश्वत-अनित्य है । **(२)** तीर्थंकर महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा सदा रहते हक्त । भरत-एरवत क्षेत्र की अपेक्षा उनका विच्छेद होता है । **(३)** सभी प्राणी जीवत्व की अपेक्षा, आत्म तत्त्व की अपेक्षा समान है । वर्तमान भव-अवस्था की अपेक्षा समान-असमान दोनों प्रकार के हो सक्तेहक्त । **(४)** कुछ जीव सदा कर्म ब धन युक्त ही रहने वाले हक्त और कुछ जीव कर्म रहित भी हो सकते हक्त । **(५)** छोटे-बडे प्राणी की हिंसा से कभी समान और कभी हीनाधिक कर्मब ध हो सकता है अर्थात् समिति युक्त सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने पर भी सहसा छोटे या बडे जीव की विराधना हो जाय तो उससे कभी समान और कभी असमान कर्म ब ध होता है । ग्यारहवाँ, बारहवाँ और तेरहवाँ इन गुणस्थानवर्ती जीवों को समान ब ध होता है । शेष गुणस्थानवर्ती जीवों को कभी समान और कभी असमान दोनों प्रकार के कर्म ब ध होते हक्त । **(६)** आधाकर्मी आहार-पानी आदि किसी भी वस्तु का उपयोग करने वाले श्रमणों में से आशय की शुद्धि या अशुद्धि के कारण तथा अनजाने या भूल आदि के कारण कभी किसी को पापकर्म का ब ध होता है, कभी किसी को ब ध नहीं होता है यह सर्वज्ञों के ज्ञान का विषय है अत: छद्मस्थ साधक इस विषय में आग्रह युक्त कथन नहीं कर सकता । **(७)** औदारिक आदि पाँचों शरीर परस्पर कथ चित् भिन्न, कथ चित् अभिन्न एकमेक होकर रहते हक्त तथा पाँचों शरीरों की शक्ति-सामर्थ्य में भी विभिन्नता होती है । [यहाँ पाँच शरीरों में से आदि, मध्य, अ त के तीन शरीरों का कथन है तथापि उपलक्षण से पाँचों शरीर का ग्रहण कर लिया जाता है।] **(८)** लोक और अलोक दोनों का अस्तित्व स्वीकारना चाहिये उसी तरह लोक में जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, ब ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आश्रव-स वर, वेदना-निर्जरा ये सभी तत्त्व हक्त इनका स्वीकार करना चाहिये

अर्थात् इनका निषेध नहीं करना चाहिये । **(९)** स सारी जीवों को क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि होते हक्त और उनका यथायोग्य कर्मब ध रूप फल भी जीवों को भोगना पडता है । **(१०)** चार गतिरूप स सार का अस्तित्व है, देव-देवियाँ और सिद्ध भगवान का अस्तित्व भी लोक में है और सिद्धि स्थान रूप जीवों का निजस्थान भी लोकाग्र में है, ऐसा स्वीकारना चाहिये । **(११)** लोक में साधु-सुसाधु भी होते हक्त और असाधु-कुसाधु भी होते हक्त अर्थात् सच्चा साधुपणा कोई पालन कर ही नहीं सकता, ऐसा नहीं बोलना चाहिये । **(१२)** स सार में अच्छे कार्य-आचरण भी है, खराब आचरण भी है और उनका यथायोग्य परिणाम-फल भी जीव को प्राप्त होता है, ऐसा स्वीकारना चाहिये । कुछ अज्ञानी लोग स्वय को प डित मानकर ऐसा कथन करते हक्त कि अच्छा खराब ऐसा कुछ भेद नहीं करना चाहिये । जीव के स्वभाव से जो प्रवृत्ति हो जाय उसे होने देना चाहिये । सहज भाव में वर्तते रहना चाहिये । अच्छे-खराब के विकल्पों में नहीं फँसना चाहिये । ऐसा कथन करने वाले कर्मब ध को समझते नहीं है। जिससे वे स्वय अज्ञान दशा से यथेच्छ पाप-प्रवृत्ति करते हक्त और दूसरों को भी स्वच्छ द वृत्ति में स लग्न करते हक्त । ऐसे प्राणी प्रत्याख्यान या आत्म साधना, इन्द्रिय-निग्रह, कषाय-विजय आदि कुछ भी नहीं करते हुए मिथ्यात्व, अज्ञान के कारण दुर्गति के भागी बनते हक्त । वास्तव में अनादिकाल से स सारप्रवाह में प्रवहमान जीवों के पाप आचरण परिचित हो जाते हक्त, उन्हें ज्ञानियों की स गति से समझना चाहिये और अनादि कुटेवों का, कुस स्कारों का विवेकपूर्वक त्याग करना चाहिये । तात्पर्य यह है कि आत्मा को निर कुश नहीं छोडकर ज्ञान रूप अ कुश में रखकर जिनेश्वरों द्वारा दिखाये गये मार्ग का अनुसरण करके आत्म साधना स यम साधना-आराधना युक्त जीवन जीना चाहिये । तभी आत्म-कल्याण और मोक्ष प्राप्ति स भव होती है । **(१३)** स सार के समस्त पदार्थ हक्त जैसे ही रहते हक्त, उनमें परिवर्तन होना भ्रम मात्र है, ऐसा कथन करना अज्ञानभरा है । वास्तव में प्रत्येक पदार्थों की पर्यायों का अवस्थाओं का परिवर्तन होता रहता है । **(१४)** जगत में सुख दु:ख दोनों है, सुखी-दु:खी दोनों प्रकार के प्राणी है, ऐसा समझना चाहिये । कि तु सभी आत्माएँ दु:खी ही है, कोई सुखी है ही नहीं, ऐसा कथन नहीं करना

चाहिये । **(१५)** सभी जीव अपनी उम्र अनुसार जीते-मरते हक्त अत: किसी भी प्राणी को मारने से कुछ नहीं होता, ऐसा कथन नहीं करना चाहिये । क्यों कि किसी भी प्राणी के प्राणों को नष्ट करना हिंसा पाप है । जो १८ पापों में प्रथम पाप है । स्वय के पाप के परिणाम और पाप की प्रवृत्ति से कर्मब ध होता है तथा कर्म ही दु:ख का मूल है, स सार है । **(१६)** कोई पापी अपराधी प्राणी राजद ड से मृत्यु का आभागी है उसे यह अवद्य है, मारने योग्य नहीं है, ऐसे व्यवहार से विपरीत वचन भी साधु को नहीं बोलना चाहिये । कि तु मौन रहकर, तत्स ब धी चि तन से मुक्त रहकर साधना में लीन रहना चाहिये और कदाचित् वैराग्यपूर्ण अनुक पा के भावों को उपस्थित करके स सार भावना के स्वरूप का विचार करना चाहिये । **(१७)** जिनाज्ञा अनुसार स यम का यथार्थ पालन करने वालों के प्रति अपनी अज्ञानता से या मलिन विचारों से 'यह तो ढोंगी है' कपट क्रिया करने वाले हक्त, ऐसी मान्यता-विचारधारा रखनी नहीं चाहिये । **(१८)** किसी भी प्रकार की भविष्यवाणी रूप कथन भी साधु को नहीं करना चाहिये । यथा- अमुक व्यक्ति के पास से दान-दक्षिणा प्राप्त होगी ही या प्राप्त नहीं होगी । क्यों कि दोनों व्यक्तियों के अ तराय कर्म के क्षयोपशम अनुसार होता है । उसे सर्वज्ञ ही जान सकते हक्त । अत: छद्मस्थ को ऐसे कथन करने में कभी मिथ्या कथन का दोष लग सकता है । अत: इस प्रकार के भावी विषयक कथन से साधु को दूर ही रहना चाहिये । उपरोक्त सभी विषयों में जैसी आगम आज्ञा है जैसा जिनेश्वर का आदेश है तदनुसार ही अपनी श्रद्धा-प्ररूपणा एव आचरण तथा भाषा का प्रयोग करने चाहिये । ए सा विवेक व्यवहार और शुद्ध स यमानुष्ठान साधक को मोक्ष प्राप्ति पर्यंत निर तर करते रहना चाहिये । इस प्रकार की शिक्षा अध्ययन की अ तिम तेतीसवीं गाथा में दी गई है ।

निबंध-४९

अपात्र और अयोग्य को ज्ञान क्यों देना

पात्रता में विनय व्यवहार के सिवाय अन्य गुण भी विचारणीय होते हक्त । विनय व्यवहार नहीं करने में व्यक्ति का क्या आशय है ?

क्या सिद्धा त है ? क्या समाचारी का हेतु रहा है या अन्य कोई भ्रम आदि है ? इसको अपनी बुद्धिबल से समझना होता है । कभी सच्ची जिज्ञासा भी व्यक्ति को विशेष पात्र साबित कर देती है । इसके उपरा त अपने ज्ञानबल से सामने वाले व्यक्ति के भविष्य स ब धी परिणाम का विचार करके भी व्यवहार किया जाता है । स्वय गौतम स्वामी चार ज्ञान के धारक और चौदह पूर्वी थे । अत: उदक मुनि की पात्रता वे समझते थे। शास्त्रोक्त वचन उपरा त भी व्यवहार कृत्यों में व्यक्ति की विचक्षणता अनुसार अनेक सत्ता-अधिकार स्वत: सिद्ध होते हक्त । जिनशासन में बहुश्रुत विद्वान बुद्धिमान श्रमणों को ऐसे अधिकार हों इसमें कोई स देह नहीं है । इसी कारण गौतमस्वामी को उदकमुनि से चर्चा करने में भगवान महावीर की स्वीकृति भी लेनी आवश्यक नहीं हुई ।

श्री भगवती सूत्र शतक ९ उद्दे.३३ अनुसार स्वय भगवान महावीर स्वामी ने विनय व्यवहार व दन आदि नहीं करके आकर खडे होते ही सीधे प्रश्न खडे करने वाले गा गेय अणगार को अनेक भ ग स ख्यामय प्रश्नों का विस्तृत उत्तर दिया था । वास्तव में उस समय की परिस्थिति ऐसी ही विचित्र बनी हुई थी कि गौशालक ने भी चौवीसवें तीर्थंकर होने का चतुर्विध स घ का माहोल तथा आठ महा प्रतिहार्य, अतिशय आदि बना रखे थे । पार्श्वनाथ भगवान के शासन के साधुओं के समक्ष बडी उलझन खडी हो रही थी कि सच्चा कौन है ? किसे स्वीकार करना या नहीं ? इसी श का की स्थिति के कारण पार्श्वनाथ भगवान के साधु व दन करने का निर्णय नहीं कर पाते थे । उदकमुनि तो अपनी जिज्ञासा का समाधान हेतु ही आये थे फिर भी उक्त उलझन के कारण व दन करने के लिये उनकी आत्मा तत्पर नहीं बन शकी थी । ऐसी परिस्थिति को समझकर ही परम दिलावर स्वय तीर्थंकर प्रभु एव गणधर आदि श्रमण आग तुक का तिरस्कार किये बिना सहज सरलता एव निरभिमानता के साथ जिज्ञासु को समझने का प्रयत्न करते थे । पाठकों को यह उदारता और विचक्षणता समीक्षा करने योग्य है ।

निबंध-५०

धर्म की प्राप्ति तथा धर्म के प्रकार

जीव जब तक आर भ और परिग्रह को समझ नहीं लेता है और

समझ कर उसके प्रति आसक्ति का त्याग नहीं करता है तब तक उसकी आत्मा में धर्म की उपलब्धि नहीं होती है । अर्थात् आर भ-परिग्रह में रचे-पचे आसक्त जीव धर्माभिमुख नहीं बन सकते ।कभी कोई व्यक्ति देखादेखी या प्रवाह मात्र से धर्मी बन भी जाय तो भी जबतक वह आर भ परिग्रह को समझकर उसकी आसक्ति से नहीं हट जाता है तब तक वह वास्तव में धर्म पाया हुआ नहीं कहलाता है । जो आर भ-परिग्रह को समझकर भावों से उसकी आसक्ति कम कर देते हक्त वे ही वास्तव में धर्मबोध पा सकते हक्त या उन्होंने धर्मबोध प्राप्त किया है, ऐसा समझा जा सकता है ।

इस प्रकार आर भ परिग्रह की आसक्ति हटाकर धर्मबोध पाने वाले, क्रमशः अणगार धर्म स्वीकार कर सकते हक्त । ब्रह्मचर्यवास स वर-स यम यावत् केवलज्ञान पर्यंत पाँचों ज्ञान में से कोई भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हक्त । यह इस प्रकार का धर्म जीव को किसी के पास सुनने से भी प्राप्त होता है और बिना सुने स्वतः आत्मबोध भी हो सकता है । जो पूर्वभव के ज्ञान प्रभाव से या क्षयोपशम से होता है ।

धर्म का सच्चा स्वरूप :- धर्म दो प्रकार का कहा है- श्रुत धर्म और चारित्र धर्म तथा यह भी बताया गया है कि ज्ञान और चारित्र, इन दो से स पन्न जीव-अणगार अनादि अन त इस स सार को पार करके मुक्त हो सकते हक्त । यहाँ ज्ञान से सम्यग्ज्ञान और उसकी सम्यग् श्रद्धान समझ लेना चाहिये तथा सम्यक्चारित्र के साथ सम्यक् तप समझ लेना चाहिये। क्यों कि उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञान, दर्शन,चारित्र तथा तप रूप चतुर्विध मोक्षमार्ग कहा है । कोई मात्र ज्ञान से ही मुक्ति माने, त्याग-प्रत्याख्यान एव विरति आदि की उपेक्षा करे तो वह मुक्ति मार्ग नहीं हो सकता । एका त आग्रह होने से वह भी स सार भ्रमण का मार्ग ही बनता है ।

चारित्रधर्म के भी दो भेद किये हक्त- आगारचारित्र धर्म और अणगारचारित्र धर्म अर्थात् श्रावक धर्म और श्रमणधर्म । साधकों को अपनी अल्प क्षमता होने पर या अवसर-स योग अनुसार श्रावकधर्म स्वीकार करना चाहिये, उसमें भी एक-एक व्रत से बढते हुए उत्कृष्ट बारह व्रतधारी श्रावक बनना चाहिये । आगे बढते हुए पडिमाधारी

श्रावक बनकर अ त में स लेखना स थारा युक्त श्रावक धर्मपालन का लक्ष्य रखना चाहिये ।

श्रावकधर्म पालन करने के साथ क्षमता बढाकर या स योग, अवसरों को सुधारकर अणगार धर्म स्वीकारने का लक्ष्य भी रखना चाहिये और उसमें सफलता मिल जाने पर उत्साहपूर्वक अणगार धर्म धारण कर लेना चाहिये । फिर उसकी आगमानुसार आराधना में तत्पर बन जाना चाहिये, यही यहाँ बताये गये द्विविध धर्म का सार है तथा ज्ञान और चारित्र दोनों के सेवन से मुक्ति कहने का सही तात्पर्य है।

अतः जो जिनधर्म स्वीकारने का स तोष करके भी श्रावक व्रतों में आगे बढने का, व्रत-प्रत्याख्यान बढाने का अथवा स यम लेने का उद्देश्य ही नहीं रखते, व्रत प्रत्याख्यान वृद्धि एव स यम ग्रहण का कोई विशेष महत्त्व ही नहीं स्वीकारते है तो आगम के इस द्विविध धर्म वर्णन से एव ज्ञान और चारित्र से मुक्ति होने के वर्णन से उनकी वह विचारणा बराबर नहीं है, परिपूर्ण नहीं है । मोक्षमार्ग की आराधना में ज्ञान, दर्शन,चारित्र (श्रावकपन या साधुपन) तथा तप(आभ्य तर- बाह्य दोनों) चारों की सुमेलपूर्वक आवश्यकता समझनी चाहिये ।

निबंध-५१

६४ इन्द्र संबंधी ज्ञान

यहाँ दो-दो बोल का कथन होने से दो-दो इन्द्रों का कथन करते हुए चारों जाति के देवों के कुल ६४ इन्द्र कहे हक्त । स क्षेप में वे इस प्रकार हक्त- भवनपति देवों के-२०, व्य तर देवों के-३२, ज्योतिषी देवों के-२ और वैमानिक देवों के १० इन्द्र हक्त, यों कुल २०+३२+२+ १०=६४ इन्द्र होते हक्त । आगमानुसार ज्योतिषी देवों में अस ख्य इन्द्र होते हक्त तथापि जाति रूप से या अपेक्षा विशेष से गिनती की अपेक्षा आगम में ही इन्द्रों की यह ६४ स ख्या कही जाती है । ६४ इन्द्रों के नाम यहाँ इस प्रकार दर्शाये गये हक्त-

भवनपतिदेवों के बीस इन्द्र :- भवनपति की असुरकुमार आदि दस जातियाँ है, उन दशों जातियों में उत्तर दिशावर्ती और दक्षिण दिशावर्ती दो-दो इन्द्र होने से कुल बीस इन्द्र होते हक्त, यथा- (१-२) चमरेन्द्र-बलीन्द्र

(३-४) धरणेन्द्र-भूतानेन्द्र (५-६) वेणुदेव-वेणुदाली (७-८) हरिक त-हरिस्सह (९-१०) अग्निसि ह-अग्निमाणव (११-१२) पूर्ण-विशिष्ट (१३-१४) जलका त-जलप्रभ (१५-१६) अमितगति-अमितवाहन (१७-१८) वेल ब-प्रभ जन (१९-२०) घोष-महाघोष ।

वाणव्य तर देवों के बत्तीस इन्द्र :– वाणव्य तर के पिशाच आदि आठ और आणपन्नी आदि आठ यों १६ जाति है । इन १६ जाति में उत्तर दिशावर्ती और दक्षिण दिशावर्ती दो-दो इन्द्र होने से कुल ३२ इन्द्र होते हक्त,यथा– **पिशाचादिके–** (१-२) काल-महाकाल (३-४) सरूप-प्रतिरूप (५-६) पूर्णभद्र-माणिभद्र (७-८) भीम-महाभीम (९-१०) किन्नर-कि पुरुष (११-१२) सत्पुरुष-महापुरुष (१३-१४) अतिकाय-महाकाय (१५-१६) गीतरति-गीतयश ।

आणपन्नी आदि के–(१७-१८) सन्निहित-सामान्य (१९-२०) धाता-विधाता (२१-२२) ऋषि-ऋषिपालक (२३-२४) ईश्वर-महेश्वर (२५-२६) सुवत्स-विशाल (२७-२८) हास्य-हास्यरति (२९-३०) श्वेत-महाश्वेत (३१-३२) पत ग-पत गगति ।

ज्योतिषी देवों के दो इन्द्र– च द्र और सूर्य। **वैमानिकदेवों के १० इन्द्र–** (१) सौधर्मेन्द्र (२) ईशानेन्द्र (३) सनत्कुमारेन्द्र (४) माहेन्द्र (५) ब्रह्मलोकेन्द्र (६) ला तकेन्द्र (७) महाशुक्रेन्द्र (८) सहस्रारेन्द्र (९) प्राणतेन्द्र (१०) अच्युतेन्द्र। देवलोक १२ है तथापि इन्द्र १० है, क्यों कि नववें दसवें देवलोक का सम्मिलित एक ही इन्द्र-प्राणतेन्द्र है । उसी तरह ग्यारवें बारहवें का सम्मिलित एक ही इन्द्र अच्युतेन्द्र है । नवग्रैवेयक और पाँच अणुत्तर विमान में सभी इन्द्र ही है, उन्हें अहमेन्द्र कहा गया है । अत: उनकी गिनती ६४ इन्द्रों में नहीं की गई है ।

निबंध–५२

तारे टूटने का अर्थ

तारा टूटना यह एक लोक व्यवहार भाषा का कथन मात्र है । आगम में **तारा रूवा चलेज्जा** ऐसा पाठ भाषा के विवेक के साथ है। जिसका अर्थ है– तारा जैसे रूप में आकाश में कुछ चलता है, चलते हुए देखा जाता है । ऐसा दिखना तीन प्रकार से होता है– (१) कोई देव

आकाश में रहकर विकुर्वणा करे, वैक्रिय शक्ति प्रयोग से पुद्गल ग्रहण करे, छोडे तो उसमें कोई पुद्गल वैक्रिय शरीर योग्य उद्योत गुण वाले हों तो वे आकाश में इधर-उधर चलायमान होते दिखते हक्त अर्थात् पदार्थों की चमक दिखती है । जैसे कि फटाकों के कोई पुद्गल उपर जाकर चमकते हुए दिखकर वहीं समाप्त हो जाते हक्त वैसे ही ये चमकने वाले पुद्गल थोडी देर में वहीं समाप्त–विशीर्ण होकर दिखने ब ध हो जाता है । (२) देव आकाश में परिचार–स चरण करते हक्त तब कुछ देर तक तारा जैसे चमकते पुद्गल और चलते पुद्गल दिखते हक्त थोडी देर बाद वे देव अपने से दूर हो जाय या उनके बाधक कोई विमान आदि आ जाय या वे विमान के अ दर चले जाय, तब अपने को दिखना ब द हो जाता है। अत्य त दूर ऊँचे सैकडों माइल आदि होने से चमकीले पदार्थ कितने भी बडे हों वे तारा जैसे छोटे दिखने लग जाते हक्त । (३) च द्र, सूर्य, ग्रह और नक्षत्र के विमान सदा अपने स्थान(अवग्रह) में रहते हुए गोलाकार में मेरु पर्वत के प्रदक्षिणा लगाते हुए और मेरु से समान दूरी पर रहते हुए भ्रमण करते रहते हक्त । वे चारों तरह के विमान कभी भी आजु-बाजू या ऊपर-नीचे नहीं सरकते हक्त । कि तु तारा विमान कभी आडे-टेढे भी चल सकते हक्त और थोडी दूर जाकर फिर अपनी पूर्ववत् परिक्रमा चालू कर देते हक्त । जिससे भी लोक में हमें तारा टूटता है, ऐसा आभास होता है; जिसे शास्त्रकार की भाषा में तारा रूप चलना कहा गया है ।

निबंध–५३

लोक में उद्योत व अंधकार का तात्पर्य

लोक में कहीं भी होने वाली प्रक्रिया को लोक में होना कहा जाता है । उसे आखा लोक समझ लेना एक बहुत बडी भूल है, जो भ्रम से चली आ रही है । शास्त्र में अनेक बातें लोक शब्द से कही हुई है, उन्हें आखालोक नहीं समझा जाता । यथा– लोक में दस अच्छेरे कहे हक्तो गर्भहरण, अस यति पूजा, च द्र-सूर्यावतरण वगेरे पूरे लोक में नहीं समझना । लोक में किसी एक भाग में होने वाली घटना को लोक की घटना कही गई है । जब कि अस यति पूजा भरत क्षेत्र में ही हुई, उसे पूरे लोक में मानने की कोशीश नहीं की जा सकती । तात्पर्य यह है कि

जिसका जितना जैसा प्रस ग हो वैसा अर्थ समझा जाता है।

ठीक उसी तरह लोक उद्योत और लोक अ धकार भी अपेक्षा से समझे जा सकते हक्त । लोक में जहाँ देवों का आगमन होता है, जिस मार्ग से देव या देव विमान निकलते हक्त वहाँ पर प्रकाश हो जाता है । क्यों कि आगे के सूत्र में ही उसका स्पष्टीकरण आ जाता है कि **देवुज्जोए सिया**–देव स ब धी उद्योत होता है । लोक का अर्थ है हमारे इस मनुष्य लोक में । लोक से पूरा लोक अर्थ का आग्रह करने पर अनेक सूत्र पाठों के अर्थ में दुविधा पैदा होती है ।

तीर्थंकरों के ऐसा कोई उद्योत नाम कर्म भी शरीर में नहीं होता है कि जो पूरे लोक में चमक–प्रकाश करे । खुशी में आकर देवता प्रकाश करे तो वे भी पूरे लोक में ऐसा नहीं कर सकते, अमुक सीमित क्षेत्र में ही देवता प्रकाश, वर्षा, बिजली, गर्जना, कोलाहल, सि हनाद आदि कर सक्तेहक्त।

यहाँ जो अ धकार होने का कथन है वह तो एक मात्र भाव अ धकार की अपेक्षा ही समझना चाहिये, वह भी एक देश में अर्थात् सीमित क्षेत्र की अपेक्षा समझना चाहिये । क्यों कि पाँच महाविदेह क्षेत्र की १६० विजयों में पूर्वों का ज्ञान, जिनशासन, धर्म और अनेक तीर्थंकर केवली, द्वादशा गधारी, पूर्वधारी होते ही हक्त । अत: लोक से हमारा यह भरतक्षेत्र, उसमें भी तीर्थंकर की नगरी और आने वाले देवों का प्रकाश जहाँ जहाँ तक पहुँचता है, जिधर से वे गमनागमन करते हक्त वह क्षेत्र समझना चाहिये । तीर्थंकर के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान के समय पूरे लोक में प्रकाश होना मानकर नरक सहित १४ राजलोक प्रमाण में द्रव्य प्रकाश होना मानना, बिना सूक्ष्मतम विचारणा से एव आगम में प्रयुक्त शब्दों के प्रास गिक अर्थ की अपेक्षा को ध्यान में लिये बिना अनुपयोग से तथा अतिशयोक्ति के मानस से चलाई गई पर परा समझनी चाहिये । अत: **लोगुज्जोए**–लोक में उद्योत अर्थात् प्रास गिक क्षेत्र में द्रव्य प्रकाश अर्थ समझना पर्याप्त और समाधान युक्त होता है ।

लोक में अ धकार का यहाँ तीन कारणों से जो भी कथन है वह द्रव्य अ धकार का विषय नहीं है, उसमें भाव अ धकार अर्थ करना

प्रस गस गत एव समाधानकारक होता है । पूर्वों का विच्छेद होने से जिनशासन में कुछ अभाव, कमी होने से उसे भाव अ धकार होना समझा जा सकता है । द्रव्य अ धकार होना अस भव है और ऐसा मानना भी अस गत है ।

देवुज्जोए–देव धयारे शब्द से पूरे देवलोक में प्रकाश या द्रव्य अ धकार अर्थ किया जाय तो यहीं पर क्रमश: **देवुक्कलिया, देवकह-कह** वगेरे शब्दों से पूरे देवलोक में देवों की किलकारियाँ, देवों की चिक-चिक, देवों का आवागमन आदि मानना पडेगा पर तु ऐसा नहीं समझ करके जहाँ जहाँ जितने क्षेत्र में देवों का आवागमन होता है वहीं देवों की किलकारियाँ, चिक-चिक और स न्निपात आदि समझा जाता है । ठीक उसी तरह उद्योत, देवुद्योत भी उसी क्षेत्र में समझना चाहिये, पूरे देवलोक में नहीं समझना चाहिये । इसलिये लोकुद्योत भी लोक में जहाँ प्रस ग है, जिधर से देवों का आवागमन है, वहीं तक समझना चाहिये । इस प्रकार यहाँ के सूत्रों का अर्थ होता है कि– (१) तीर्थंकरों के जन्म समय (२)दीक्षा समय (३)और केवलज्ञान के समय लोक में=प्रास गिक क्षेत्र में उद्योत होता है । इन तीन प्रस गों में देवों के आवागमन प्रस ग से देव स ब धी उद्योत, खुशियाँ, किलकारियाँ, चिक-चिक=घोंघाट होता है ।

इसी प्रकार (१) तीर्थंकर के निर्वाण होने से (२) तीर्थंकर धर्म का विच्छेद होने से (३) पूर्वज्ञानरूप श्रुतज्ञान के विच्छेद होने से; लोक में अर्थात् प्रास गिक क्षेत्र में(क्यों कि महाविदेह क्षेत्र में धर्म और पूर्वज्ञान सदा रहता है।) भाव अ धकार=धर्म की हानि रूप अ धकार होता है, जिसका आभास धर्मी-धर्मनिष्ठ मानव और देवों को होता है । इसीलिये यह भावा धकार भी एक देश = लोक के एक भाग में होते हुए भी इसे शास्त्र में शब्द प्रयोग दृष्टि से **लोग धयारे** कहा गया है कि तु उसके साथ **सव्व लोग धयारे** नहीं कहा गया है । अत: महाविदेह क्षेत्र में ये भावा धकार नहीं होने पर भी यहाँ कथित **लोग धयारे** से कोई विरोध नहीं समझा जाता है ।

इसी सूत्र के चौथे स्थान में तीर्थंकर के निर्वाण प्रस ग पर भी

लोग धकार कहा है और उसके साथ के सूत्र में लोकुद्योत भी कहा है । उसका भी तात्पर्य यही है कि प्रास गिक क्षेत्रों में निर्वाण समय में देवों के आगमन का द्रव्य प्रकाश होता है और शासनप्रेमी धर्मनिष्ठ आत्माओं के लिये भावा धकार भी होता है । तीर्थंकरों से और ज्ञान से, धर्म से स ब धित इस अ धकार के लिये द्रव्य अ धकार कहीं भी नहीं समझकर मात्र भाव अ धकार ही समझना चाहिये ।

नारकी जीवों के क्षणिक सुख का कथन शास्त्र में आता है, उसे भी इस लोकप्रकाश से स ब धित किया जाता है कि तु उस क्षणिक सुख का स ब ध तो देवों के नरक में जाने के निमित्त से समझा जा सकता है । उसके लिये प्रस्तुत प्रकाश के कथन को आखा लोक में मानना जरूरी नहीं होता ।

सूत्रोक्त तीन प्रस गों पर इन्द्र, सामानिक, त्रायत्रिंशक, लोकपाल, अग्रमहिषी देवियाँ, परिषद के देव-देवी, अनिकाधिपति, आत्मरक्षक देव भी आते हक्त । इसके सिवाय लोका तिक देव भी पाँचवें देवलोक से इन तीनों प्रस गों पर आते हक्त । मुख्य रूप से लोका तिक देव तीर्थंकर के दीक्षा के पूर्व आकर, अपना जीताचार निभाते हुए भगवान से दीक्षा हेतु प्रेरणा वाक्य बोलकर, भगवान के दीक्षा के भावों का बहुमान करते हक्त ऐसा प्रसिद्ध है । तथापि प्रस्तुत सूत्रानुसार वे जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान आदि प्रस ग पर भी उपस्थित होते हक्त। इन तीनों प्रस गो पर देवों के(इन्द्रों के) अ गस्फुरण होता है, वे सर्व कार्य छोडकर उठ जाते हक्त, उनके चैत्यवृक्ष भी चलित-स्फुरित होते हक्त । इन प्रस गो पर खुशी में आकर देव सि हनाद करते हक्त, **चेलुक्खेवे-** ध्वजाएँ भी फहराते हक्त ।

निबंध-५४

लोक में उद्योत अंधकार का तात्पर्य

प्रस्तुत में मानव के जीवन में तीन का महान उपकार स्वीकारा गया है । तीन की स ख्या का प्रकरण होने से (१) माता-पिता को एक साथ में कहकर उनका उपकार स्वीकारा गया है । (२) स सार में जीवन यापन के लिये आजीविका, एक बडा प्रश्न है । जो कोई भी व्यक्ति व्यापार में मदद करता है, जिसके नेतृत्व में रहकर व्यापार की कला में पार गत

बना जाता है, उसे यहाँ भट्टी-स्वामी-मालिक कहा गया है । व्यक्ति के जीवन निर्वाह में या आजीविका निर्वाह में, सुखी जीवन व्यतीत करने में उस स्वामी का मुख्य भाग होता है । अत: माता-पिता के बाद दूसरा उपकारी व्यापारिक स्वामी को, व्यापार कार्य में होशियार करने वाले को कहा गया है । (३) तीसरे न बर में स सार से तिरने का मार्ग दिखाने वाले और दीक्षा देने वाले धर्मगुरु धर्माचार्य का उपकार स्वीकारा गया है और इनका ऋण स्वीकारा गया है ।

इस ऋण से मुक्त होने के विषय में यह समझाया गया है कि तन मन से अर्पणता पूर्वक सब कुछ न्योछावर करते हुए इन तीनों की शारीरिक सेवा की जाय, इन्हें हर तरह से सुखशा ति पहुँचाई जाय वह भी जीवनभर, तो भी पूर्ण रूप से ऋण से उऋणता नहीं हो पाती अर्थात् इतना महान उपकार और ऋण इनका माना गया है । अ त में उऋण होने का एक उपाय प्रस ग बताया गया है कि ये माता-पिता और स्वामी, धर्म में उपस्थित न हों तो उन्हें वीतराग धर्म में जोडने से और धर्म की सच्ची आराधना कराने में पूर्ण मददगार या प्रेरक बनने से इनके ऋण से सच्चा और पूर्ण उऋण बना जा सकता है । यदि ये धर्म को प्राप्त हो गये हो और कोई भी कारण से श्रुत-चारित्रधर्म से उनकी आस्था डोलायमान हो, धर्माचार्य भी उदयकर्म से धर्म में डावाडोल चित्त या सुस्त चित्त बने हों तो ऐसे समय में विवेक तथा बुद्धिमानी पूर्वक इन्हें धर्म में स्थिर करके मोक्षमार्ग के आराधक बनाने में पूर्ण प्रयत्न कर, सफलता प्राप्त कर ली जाय तो इन तीनों के उपकार का सच्चा बदला चुकाया जाना गिना जायेगा ।

निबंध-५५

तीर्थों का विश्लेषण आगमाधार से

द्रव्य तीर्थ और भाव तीर्थ यों दो प्रकार के तीर्थ समझे जा सकते हक्त । भावतीर्थ का अर्थ होता है जिनके माध्यम से अर्थात् सुस गति से स सार सागर से तिरा जाता है । भावतीर्थ इस सूत्र के चौथे स्थान में आगे चार की स ख्या में बताये हक्त । वहाँ साधु-साध्वी और श्रावक- श्राविका इन चारों को तीर्थ कहा गया है । ये अपने ज्ञान से जीवों को बोध देकर,

सन्मार्ग में जोडकर स सार प्रप च से, दुखों से उन्हें मुक्त करा सकते हक्त, स सार समुद्र को तिरने का मार्ग बता सकते हक्त अत: इन्हें तीर्थ कहा गया है । वे चारों भावतीर्थ हक्त ।

प्रस्तुत में तीन की स ख्या के आधार से हमारे भरत क्षेत्र में तीन तीर्थस्थान कहे हक्त । मागध, वरदाम और प्रभास, ये उन तीन तीर्थों के नाम हक्त । उन तीर्थ स्थानों से लवण समुद्र के जल में प्रवेश किया जाता है, इस मार्ग से आगे जाने पर मागध, वरदाम, प्रभास नामक देवों के भवनरूप तीर्थस्थान हक्त, जो जल से घिरे हुए जल मध्य स्थित है, इन्हें ही अपेक्षा से तीर्थ (द्रव्य तीर्थ) कहा गया है । ऐसे तीन तीर्थ एरावत क्षेत्र में, महाविदेह क्षेत्र की सभी विजयों में तथा ज बूद्वीप के समान घातकी ख ड द्वीप और पुष्करार्ध द्वीप में भी ये तीन-तीन तीर्थस्थान है । यों कुल मिलाकर ढाई द्वीप में ५१० तीर्थों का कथन प्रस्तुत सूत्र में किया गया है। इस प्रकार इस स्थाना गसूत्र अनुसार द्रव्यतीर्थ स्थान- ५१० है और भावतीर्थ ४ है । वर्तमान में जैनों में अनेक तीर्थस्थान पर्यटन की अपेक्षा प्रसिद्ध है, जिनका हमारे इन आगमों में तीर्थ रूप में कहीं भी कथन नहीं मिलता है ।

निबंध-५६

चौथा सन्यासाश्रम है तो जैन दीक्षा कब

मानव जीवन में धर्माचरण और आत्मकल्याण करने का अनुपम अवसर होता है और मानव की मृत्यु का कोई निश्चित्त समय नहीं होता है । अत: योग्य समझ, विवेक-बुद्धि होने के बाद मानव कभी भी धर्म का आचरण और स न्यास-स यम स्वीकार कर सकता है । योग्य समझ भी व्यक्ति के पूर्व भव के स चित कर्मों के अनुसार होती है । किसी को गर्भ में भी योग्य समझ होती है, किसी को ४-५ वर्ष की उम्र में तथा किसी को ८-९ वर्ष की उम्र में योग्य समझ हो सकती है । फिर भी बहुलता को ध्यान में रखते हुए जैनागमों में गर्भकाल सहित **नव वर्ष** एव उससे अधिक वय वाले को धर्म के आचरण तथा स न्यास ग्रहण के योग्य कहा है । यह एक **मर्यादा रूप, व्यवस्था रूप** विधान है । कदाचित् कोई इस से पहले भी योग्य हो सकता है (वज्रस्वामी-एव ताकुमार) और कोई

अधिक उम्र तक भी योग्य समझ से व चित रह जाता है । इसलिये यहाँ शास्त्र में एका त आग्रह नहीं दर्शाते हुए अनेका तिक कथन किया गया है कि- तीनों अवस्था में अर्थात् बचपन, जवानी और बुढापे में यों कभी भी भावना और योग्यता हो तो व्यक्ति धर्माचरण यावत् स न्यास-दीक्षा अ गीकार कर सकता है तथा उसे केवलज्ञान तक भी प्राप्त हो सकता है । यहाँ तीनों अवस्थाओं को तीन **याम** कहा गया है । बचपन अवस्था १६ वर्ष तक, १७ वर्ष से ४० वर्ष तक युवावस्था और उसके बाद प्रौढ एव वृद्ध अवस्था है ।

दूसरे प्रकार से तीन वय कही है- प्रथम, मध्यम और पश्चिम। इसमें ३० वर्ष तक प्रथम, ६० वर्ष तक मध्यम और आगे ९०-१०० वर्ष तक पश्चिम वय समझना । **वय** में स पूर्ण उम्र के तीन विभाग कहे हक्त और **जामा** शब्द से जीवन की तीन अवस्थाएँ कही गई है । सार यह है कि मानव जीवन की किसी भी अवस्था में (बाल्य, युवा आदि) और किसी भी वय (प्रथम,मध्यम,पश्चिम) में धर्माचरण एव दीक्षा अ गीकार की जा सकती है, क्यों कि- प्रत्येक मानव की मृत्यु अनिश्चित्त है और योग्य समझ पूर्वभव के स चित कर्म अनुसार होती है । तथापि व्यवस्था की दृष्टि से ९ वर्ष के बाद योग्यता हो तो किसी को भी दीक्षा दी जा सकती है। अ त में १ दिन या एक घडी भी उम्र बाकी हो और व्यक्ति की योग्यता हिम्मत हो तो उसे जैन दीक्षा दी जा सकती है । इसमें आगम-शास्त्रों से कोई विरोध नहीं आता है।

प्रतिप्रश्न- ९ वर्ष में दीक्षा देने की बात गले उतरने जैसी नहीं है अत: १८ वर्ष पहले किसी को दीक्षा नहीं देने का नियम होना चाहिये। उसके पहले कच्ची उम्र में लेने से बाद में स यम-ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो सकने से समाज में बहुत निंदा और टीका-टीपणी होती है, तो उचित क्या है ?

समाधान- अपनी छद्मस्थ बुद्धि से ऐसा एका त मान लेना उचित नहीं है तथा ऐसा मानने में सर्वज्ञों के विधान की अवहेलना आशातना भी होती है । वास्तव में छद्मस्थ साधक किसी के भी वर्तमान गुणों से उसकी योग्यता का परिक्षण कर सकते हक्त और परस्पर परामर्श करके निर्णय कर

सकते हक्त । भविष्य में कौन दीक्षा छोडेगा; गुरु को छोडेगा, ब्रह्मचर्य नहीं पालन कर सकेगा इत्यादि कल्पना और ठेकेदारी किसी के हाथ की बात नहीं है । चौथे आरे में भी गोशालक, जमाली, वेश्या को स्वीकारने वाले एव अनेक निह्नव आदि बनते हक्त । स्वय भगवान महावीर के द्वारा दीक्षा दिए हुए मेघकुमार सरीखे दीक्षा के पहले ही दिन में वापिस घर जाने का सोच सकते हक्त 'उनके वैराग्य की कसौटी नहीं हुई थी', ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। पार्श्वनाथ भगवान की सेकडों साध्वियाँ स यम ग्रहण और पालन के बाद गुरुणी से अलग होकर रहने लगी थी ।

अत: बाल वय की दीक्षा पर ही आक्षेप लगाकर अनेक अनिष्ट की कल्पना करना एका तिक सोच है । भगवान का मार्ग अनेका तिक दृष्टिकोण युक्त होता हक्त । वर्तमान में भी हम ध्यान देवेंगे तो अनुभव होगा कि अनेक प्रभावक आचार्य आदि जिनशासन के सितारे जैसे महान साधक ऐसे हुए हक्त और वर्तमान में हैं कि जो ९-१०-१२-१५ वर्ष की वय में दीक्षा लेकर भी बहुमुखी प्रतिभा से स पन्न होकर वर्षों की स यम पर्याय से जिनशासन की प्रभावना कर रहे हक्त । दूसरी ओर देखेंगे तो १८ से ६० वर्ष में दीक्षा लेने वाले भी कोई वापिस घर चले जाय, ऐसे भी उदाहरण देखने को मिल सकते हक्त। अत: अनेका तिक दृष्टिकोण युक्त सर्वज्ञानी तीर्थंकरों की और उनके आगमों की आज्ञा या विधान को सर्वोपरी महत्त्व देना चाहिये । फिर भी विवेक सावधानी रखने के लिये किसी को कोई मनाई नहीं है । तथापि अपनी सोच को ही सर्वोपरी समजकर सर्वज्ञों के, आगमों के विधान को अयथार्थ ठहराने की चेष्टा किसी को भी नहीं करना चाहिये ।

निबंध-५७

आत्मसुरक्षा के तीन साधन

(१) समूह में रहने वाले सहवर्ती साधु स यम का यथार्थ पालन न करे या परस्पर क्लेश कदाग्रह करते हों तो उन्हें विवेक पूर्वक धर्मबोध देकर सावधान करना, वातावरण को शा त, पवित्र रखना (२) गलती करने वाले समझने, मानने के स्वभाव या स्थिति में न हों या उन्हें समझाने की अपनी क्षमता न हो तो मौनभाव पूर्वक स्वय की साधना में अत्यधिक

लीन-एकाग्र बनने का प्रयत्न करना (३) खुद की शा ति एकाग्रता कायम रख सकने के योग्य प्रकृति या अभ्यास न हो तो वहाँ से अपने को अलग कर लेना अर्थात् अन्यत्र चले जाना, अन्य के साथ विहार करना या एका त-एकत्व का सेवन करना; ये क्रमिक आत्मसुरक्षा के, आत्मा को कर्मब ध से और स यम को स कल्प-विकल्पों से सुरक्षित रखने के उपाय हक्त।

निबंध-५८

देवों का मनुष्य लोक में आना या नहीं आना

देवों की मनुष्य लोक में आने की इच्छा होते हुए भी वे तीन कारणों से नहीं आ सकते, यथा- (१) वे दिव्य सुखों मे गृद्ध आसक्त हो जाते हक्त और उन्हें मानुषिक आकर्षण नहीं रहता है जिससे वे यहाँ आने का स कल्प या निर्णय नहीं करते हक्त । (२) उन देवों का वहाँ की आसक्ति के कारण यहाँ के लोगों का प्रेम स ब ध नष्ट हो कर दिव्य प्रेम में स क्रा त हो जाता है । (३) दिव्य सुखों में लीन कोई देव **अभी जाता हूँ, थोडी देर से जाता हूँ** यों स कल्प करते-करते भी यहाँ के लोगों का आयुष्य पूर्ण हो जाता है और उनका आना नहीं हो पाता है ।

तीन कारणों से देवों का मनुष्य लोक में आना हो सकता है- (१) दिव्य सुखों में अनासक्त कोई देव को इस प्रकार विचार होता है कि मनुष्य लोक में मेरे उपकारी आचार्य आदि गुरु भगव त हक्त जिनके प्रभाव से मक्तने यह रिद्धि प्राप्त करी है तो मक्त जाऊँ और उनको व दन नमस्कार करुँ, उनकी पर्युपासना करुँ । (२) किसी अनासक्त देव को ऐसा स केत होता है कि मनुष्य लोक में विशिष्ट ज्ञानी, तपस्वी एव दुष्कर साधना करने वाले महर्षि हक्त, तो मक्त जाऊँ और उन गुरु भगव तो का व दन नमस्कार करके उनकी पर्युपासना करुँ । (३) किसी देव को ऐसे विचार होते हक्त कि मनुष्य लोक में मेरे माता-पिता, भाई, भगिनी, भार्या, पुत्र आदि हक्त तो मक्त जाऊँ और उन्हें अपनी दिव्य ऋद्धि बताऊँ । इस प्रकार मनुष्य लोक के आकर्षण से कोई देव यहाँ आ सकते हक्त ।

इसके अतिरिक्त चोथे स्थान में एक-एक कारण अधिक है यथा- (१) मनुष्य लोक स ब धी ग ध ४००-५०० योजन ऊँचे तक फैली

हुई रहती है । उस ग ध के कारण भी देवता नहीं आते हक्त। (२) अपने पूर्व भव के मित्र, गुरु, शिष्य आदि के साथ प्रतिज्ञाबद्ध हो तो उसे प्रतिबोध देने के लिये देव आते हक्त । इसी के उपलक्षण से किसी के द्वारा अत्यधिक स्मरण, जाप-तप युक्त भक्ति करने पर देव का अ गस्फुरण होने से भी वे मनुष्य लोक में आते हक्त और मित्र स्नेही या भक्तिवान का उद्देश्य पूर्ण करके चले जाते हक्त । यहाँ तीन की स ख्या के कारण तीन तीन कारण कहे है, चौथे स्थान में इन तीन सहित एक-एक अधिक कहा है अत: कुल चार-चार कारण आने-नहीं आने के यहाँ दर्शाये गये हक्त ।

निबंध-५९

साधु को तपस्या में धोवणपानी कल्पे

इस शास्त्र में यहाँ पर तथा कल्पसूत्र के आठवें अध्याय के मूलपाठ में स्पष्ट बताया गया है कि तपस्या में धोवणपानी लेना और पीना कल्पता है । इन दोनों शास्त्रों में कुल ९ प्रकार के धोवण पानी के नाम कहे गये हक्त । अत: कोई भी बहुमत से या पर परा के नाम से साधु को धोवण पानी लेना पापमय बताकर निषेध करे तो यह उनका मनमाना शास्त्र विपरीत बोलना-प्ररुपणा करना होता है । यहाँ बताये गये ९ प्रकार के धोवण पानी इस प्रकार है- (१) आटे के बर्तन धोया हुआ पानी (२) उबाले हुए केर, मेथीदाणा, भाजी आदि का धोया हुआ पानी (३) चावल धोया हुआ पानी (४) तिल आदि को धोया हुआ पानी (५) दाल वगेरे धोया हुआ पानी (६) जौ, गेहूँ वगेरे धोया हुआ पानी (७) छाछ के उपर का पानी अर्थात् छाछ का आछ (८) गर्म पदार्थों को पानी में रखकर ठ डा किया हो वैसा पानी(सोवीरोदक) (९) राख, लवि ग आदि से अचित्त बनाया हुआ पानी(शुद्धोदक) ।

प्रस्तुत में उपवास में पीने के नाम से तीन, बेले में पीने के नाम से तीन और तेले में पीने के नाम से तीन धोवणपानी कहे हैक्त तथापि इन धोवणपानी का परस्पर विचार करने से यह सहज स्पष्ट होता है कि, तीन की स ख्या के कारण यह विभाजन युक्त कथन है । वास्तव में सभी प्रकार के शुद्ध-निर्दोष पानी तपस्या में या बिना तपस्या में साधु-साध्वियाँ ग्रहण कर सकते हक्त ।

ये ९ नाम भी उदाहरणार्थ कहे गये है, वास्तव में आचारा ग सूत्र, दशवैकालिक सूत्र कथित विविध प्रकार के धोवण पानी शुद्ध निर्दोष गवेषणा युक्त एव विवेकपूर्वक साधु ग्रहण कर सकते हक्त ।

सूत्र सिद्धा तो के विपरीत मनमाने प्ररुपण करने का किसी को अधिकार नहीं होता है कि तु क्षेत्र-काल अनुसार जहाँ जब जैसी सुविधा स योग होवे तदनुसार साधु-साध्वी निर्दोष धोवण पानी या गर्म पानी शरीर की अनुकूलतानुसार ग्रहण कर सकते हक्त । दोष युक्त लेने पर शास्त्रानुसार उस-उस दोष का प्रायश्चित्त आता है । प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि करने पर आराधना हो सकती है कि तु उस दोष का प्रायश्चित्त न करके उलटा वैसा लेने की प्रश सा या प्ररुपणा करे तो स यम विराधना का कारण बनता है ।

निबंध-६०

अल्पवृष्टि-महावृष्टि कैसे होती ?

(१) स्वाभाविक रूप से जिस क्षेत्र में या प्रदेश में उदकयोनिक जीवों की और पुद्गलों की उत्पत्ति, चयोपचय वगेरे अधिक मात्रा में होवे तो अधिक वृष्टि होती है । (२) भवनपति, व्य तर या वैमानिक देव अन्यत्र रहे उदक परिणत वर्षा के योग्य पुद्गलों को वहाँ से स हरित करके ले आवे (३) वर्षा वरसने योग्य उदक परिणत बादलों को हवा नहीं बिखेरे तो अधिक वृष्टि-महावृष्टि होती है ।

इसके विपरीत (१) स्वाभाविक रूप से जिस क्षेत्र या प्रदेश में उदकयोनिक जीव और पुद्गलों की उत्पत्ति, चय-उपचय आदि न होवे (२) देवता उदकपरिणत वर्षा के योग्य पुद्गलों को अन्य देश में स हरण कर देवे (३) वरसने योग्य बादल रूप में परिणत पुद्गलों को हवा विखेर देवे तो अल्पवृष्टि या अनावृष्टि होती है । तीन की स ख्या का कथन होने से वृष्टि स ब धी ३-३ कारण कहे हक्त ।

निबंध-६१

भूकंप क्यों और कैसे ?

जिस पृथ्वी पर चराचर जीव निवास करते हक्त उस आधारभूत

पृथ्वी में क पन होना **भूकम्प** कहलाता है । वह भूकम्प दो प्रकार का कहा गया है- (१) चराचर जगत्पृथ्वी के किसी एक या अनेक विभागों में क पन होना यह एक देश भूकम्प है । (२) समस्त ज्ञात दुनिया में अर्थात् स पूर्ण विश्व में एक साथ क पन होना, सर्व भूक प कहलाता है । तीन की स ख्या का प्रकरण होने से दोनों प्रकार के भूक प के तीन-तीन कारण यहाँ दर्शाये गये हक्त ।

देश भूक प के तीन कारण- (१) पुद्गल परिणमन स ब धी-हमारी यह पृथ्वी रत्नप्रभा पृथ्वी है । **अहे रयणप्पभा** का अर्थ है- रत्नप्रभा पृथ्वी में । शास्त्रों में **अहे** शब्द अनेक जगह **'में'** अर्थ रूप में प्रयुक्त होता है । यथा- **अहे आराम सि वा**=बगीचे में । अत: इस रत्नप्रभा नामक हमारी पृथ्वी में स्वाभाविक पुद्गल परिणमन में विशाल पुद्गल स्क ध के क्षीण हो जाने से, नष्ट हो जाने से वहाँ भूमि के अ दर पोलार हो जाने से उथल-पुथल होता है, उसका असर पृथ्वी के उपरी भाग में रहे ग्राम, नगर आदि में दिखाई देता है । **(२) तिर्यंच स ब धी-** असन्नि तिर्यंच प चेन्द्रिय में उरपरिसर्प जाति के महोरग नामक सर्प विशालकाय(अनेक योजन) के भी होते हक्त । वे जन्म धारण कर अ तर्मुहूर्त में ही मृत्यु को प्राप्त करते हक्त । तब उनके शरीर के पुद्गल तत्काल क्षीण हो जाते हक्त । जिससे भूमि में पोलार(स्पेश) बन जाता है । उपर रही पृथ्वी का वजन उस पोलार वाली भूमि पर आता है, जिससे उस क्षेत्र में उथल-पुथल होता है। इस तरह तिर्यंच उरपरिसर्प की क्षणिक जन्म मृत्यु और विनाश के निमित्त से हमें भूमिकम्प का अनुभव होता है । **(३) देवों से स ब धी**-नवनिकाय के देव असुरकुमार जाति के देव हक्त, वे परस्पर किसी निमित्त से पृथ्वी को रणभूमि बनाकर स ग्राम करे और स ग्राम में बार बार भूमि पर प्रहार करे तो एक देश से पृथ्वी का क पन होता है । इस प्रकार यह देव निमित्तक देश भूक प है ।

सर्व भूक प के तीन कारण- (१) जिस तरह पाताल कलशों में वायु क्षुभित होने से लवण समुद्र में पानी ऊँचे उछलता है, वैसे ही रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे रही घनवाय के क्षुभित होने पर उसका असर क्रमश: घनोदधि में और फिर पृथ्वी में आता है जिससे स पूर्ण रत्नप्रभा पृथ्वी क पित होती है । उससे स पूर्ण विश्व में एक साथ भूक प आता है । (२)

महर्द्धिक देव(चमरेंद्र सरीखे) यदि अपनी ऋद्धि शक्ति किसी श्रमण-माहण को दिखावे, उसमें वह पृथ्वी पर प्रहार आदि करे तो स पूर्ण पृथ्वी में क पन होता है वह भी सर्व भूकम्प है । (३) हमारी इस पृथ्वी पर असुरकुमार देवों या देवेन्द्रों का और वैमानिक देवों या इन्द्रों का परस्पर युद्ध हो जाय, जिसमें उनके पाँवों के प्रहार आदि से इस पृथ्वी में सर्वक पन होता है तब समस्त भूम डल पर एक साथ में भूक प होता है। देवों में परस्पर कभी भी विशाल युद्ध होता है तो वह तिरछा लोक में ढाई द्वीप के बाहर की भूमि पर होता है ।

यहाँ पर देश भूक प के कारणों में **'महोरग'** शब्द के साथ **'देव'** शब्द नहीं है फिर भी महोरग देव(व्य तर) अर्थ करने की पर परा है । कि तु वह अर्थ यहाँ समीचीन नहीं होता है ।क्यों कि देवों के स ग्राम से भूमिक प होना आगे कहा ही है । अत: यहाँ महोरग शब्द का उरपरि-सर्प जाति का महोरग अर्थ करना ही प्रास गिक है । ऐसे उरपरिसर्प भूमि में जन्मते-मरते ही रहते हक्त । जिसके कारण देश भूक प मानव लोक में आते ही रहते हक्त । ये उरपरिसर्प अनेक किलोमीटर प्रमाण ल बाई वाले भी हो जाते हक्त और मुहूर्त मात्र में ही मर भी जाते है ।

निबंध-६२

साधु तथा श्रावक के तीन मनोरथ

प्रस्तुत प्रकरण में तीन की स ख्या का कथन है अत: साधु-श्रावक के जीवन की समस्त मनोकामनाओं को यहाँ तीन-तीन श्रेष्ठ मनोरथों के माध्यम से कहा गया है और विशेषता यह बताई गई है कि जहाँ स सार की रुचि वाले मनोरथ-लालसाएँ निरर्थक कर्म ब ध और स सार बढाने वाली होती है, वहीं ये साधु-श्रावक के मनोरथ नित्य आत्मा में भावित करने से, आत्मा को स स्कारित करते रहने से वर्तमान में मात्र भावों से ही महान कर्मों की निर्जरा होती है और भावी जीवन में यथासमय ये पुष्ट किये गये स स्कार सहज ही कार्यान्वित हो जाते हक्त।

साधु के तीन मनोरथ :- श्रमण-निर्ग्रंथ इस भावना से आत्मा को भावित करे कि- (१) वर्तमान में जितने भी शास्त्र-आगम उपलब्ध है, उनका स पूर्णत: अर्थ परमार्थ विवेचना युक्त अध्ययन करुँ ; अधिकतम श्रुत को

क ठस्थधारण करुँ; ऐसा स कल्प कर आत्म स स्कारों को पुष्ट करे। (२) श्रुत अध्ययन पूर्ण करके आत्मसाधना की विशेष प्रगति के लिये सामुहिक सगवडों से उपर उठकर एकल विहार चर्या से; स यम, तप, समिति, गुप्ति से आत्मा को अधिकतम पुष्ट करुँ। यह मनोरथ स पूर्ण स्वावल बी जीवन और एकत्व आत्म स्वरूप को तादात्म्य करने का है। (३) जब कभी भी इस मनुष्य जीवन में आयुष्य की अ तिम घडियों का आभास होने लगे; यह मानव शरीर, जीवन के आवश्यक कर्तव्यों में तथा स यम आचारों में उपयोगी न रहे, इन्द्रियाँ क्षीणता की तरफ प्रवाहित होने लगे; तब मक्त सावधानी पूर्वक एव पूर्ण उत्साह के साथ आलोचना-प्रतिक्रमण के द्वारा व्रत शुद्धि, कषाय विशुद्धि करते हुए स लेखना स थारा रूप आजीवन प डितमरण को स्वेच्छा से स्वीकार करके उसका जीवन के अ तिम श्वास तक यथार्थ पालन करुँ।

ये तीन स यम जीवन के उत्तमोत्तम मनोरथ हक्त । इनका नित्य स्मरण करना स यम साधक का मुख्य और महान लाभप्रद कर्तव्य है, इस तरह के मनोरथ करने से आत्मा में स स्कार दृढ बनते हक्त। जिससे- (१) योग्यता स पन्न साधक एक दिन अवश्य श्रुतपार गत बनता है (२) एकाकी स्वावल बी जीवन में सफल बनता है तथा (३) जीवन के अ तिम समय में एव स कट की हर घडियों में शीघ्र अप्रमत्त योग से स लेखना स थारा ग्रहण करने के स योग को सुलभ कर सकता है। यहाँ श्रमण के कथन से साधु-साध्वी दोनों को ये मनोरथ आदरणीय है ऐसा समझना चाहिये । दूसरे मनोरथ में साध्वियाँ समूह त्याग रूप एकल विहार के स्थान पर एकत्व भावनामय पूर्ण स्वावल बी जीवन बनाते हुए समूह में रहकर भी स भोग प्रत्याख्यान, सहाय प्रत्याख्यान, आदि के द्वारा एकाकीपन में आत्मा को भावित करने का मनोरथ करे, ऐसा समझ लेना चाहिये । आगमों में साध्वी के लिये विविध तप, अभिग्रह, पडिमा का वर्णन आदि इसी हेतु की सिद्धि करने वाले हक्त । अ तगडसूत्र वर्णित भगवान महावीर स्वामी के शासन में साध्वियों ने अनेक तप, दत्ती परिमाण प्रतिज्ञा युक्त सप्त-सप्तमिका आदि भिक्षु प्रतिमा का आराधन किया था। अत: ये तीन मनोरथ सभी साधु-साध्वी को नित्य स्मरण करके महानिर्जरा का लाभ प्राप्त करना चाहिये ।

श्रावक के तीन मनोरथ :- श्रमणोपासक आजीवन १२ व्रत धारण करता है, उसमें सामान्य-विशेष आर भ-परिग्रह की सीमा रखता है । क्यों कि गृहस्थ जीवन में और वर्तमान की उन परिस्थितियों में वह स पूर्ण त्याग नहीं कर सकता है, इसीलिये देशव्रती बनता है । तथापि श्रावक-श्राविकाओं को अपने नित्य-नियम के समय इन तीन मनोरथों का अवश्य चि तन करना चाहिये और आत्मा को उन भावनाओं से भावित करते रहना चाहिये । यथा- (१) पारिवारिक वारसदार पुत्र, पुत्रवधु आदि घर(कुटु ब)व्यापार की जिम्मेदारी स भालने के योग्य होने पर मक्त सा सारिक जिम्मेदारियों से मुक्त बनकर, निवृत्तिमय जीवन बनाकर अधिकतम समय स वर, पौषध, त्याग, व्रत, नियम, तपस्या आदि में व्यतीत करुँ और आत्मा को अधिकतम धर्मभावना में लगा करके, आश्रवद्वारों का अधिकतम त्याग करके, स वर निर्जरामय जीवन जीवूँ । हे भगवन् ! ऐसा शुभ स योग, शुभ अवसर, शुभ घडी मुझे यथा शीघ्र जीवन में प्राप्त होवे (२) शारीरिक शक्ति स्वास्थ्य के अनुकूल समय में सर्व स योगों को अनुकूल बनाने का प्रयत्न, अभ्यास करते हुए मानव जीवन में एक दिन सर्व विरति रूप मुनिधर्म अ गीकार करुँ, दीक्षा लेकर आत्म कल्याण साधना में पूर्णतया अवशेष जीवन को लगा दूँ । हे भगवन् ! ऐसा शुभ स योग मुझे शीघ्र प्राप्त होवे कि मक्त उत्कृष्ट वैराग्य से भावित होकर घर, कुटु ब, स पत्ति का मोह ममत्व छोडकर गुरु चरणों में जीवन अर्पित करके अणगारधर्म को स्वीकार करुँ (३) साधु के स लेखना स थारा ग्रहण करने के तीसरे मनोरथ के समान यहाँ श्रावक के लिये भी स लेखना स थारा युक्त प डितमरण की प्राप्ति का मनोरथ समझ लेना चाहिये ।

श का- श्रावक के द्वारा आजीवन-चौविहार स थारा कर लेने पर वह स पूर्ण पापों का और आहार का तीन करण, तीन योग से त्यागी हो जाता है तो उसे साधु ही क्यों नहीं समझा जाय ? **समाधान-** उसके सयम ग्रहण के परिणाम नहीं होते हक्त । उसकी लघुनीत, बडीनीत, वस्त्र परिवर्तन, शरीर की देखरेख-सारस भाल गृहस्थ करते हक्त। दीक्षा लेने पर या छट्ठा-सातवाँ गुणस्थान प्राप्त करने पर गृहत्याग, गुरुनिश्रा ग्रहण, साधु-समुदाय की स्वीकृति, गृहस्थ परिचर्या का त्याग, रात्रि में स्त्री प्रवेश

निषेध आदि विशेष स यमचर्या आवश्यक बन जाती है । जब कि श्रमणोपासक स थारा करते हुए भी अपने को श्रावक मानता है एव उसके आसपास गृहस्थ जीवनमय वातावरण होता है ।मकान, शय्या आदि भी निर्दोष गवेषणा वाला नहीं होता है कि तु उसके स्वय के लिये ही बनाया हुआ होता है । कपडे भी उसके अपने निमित्त से ही खरीदे होते हक्त, गवेषणा करके लाये हुए नहीं होते हक्त । इत्यादि सूक्ष्म-सूक्ष्म अनेक सामाचारिक भिन्नताएँ साधु जीवन की स थारा वाले गृहस्थ से समझ लेनी चाहिये । स थारा भी तीन प्रकार का है- भक्तप्रत्याख्यान, इ गिनीमरण और पादपोपगम । साधक अपनी क्षमता, क्षेत्र-काल अनुसार जघन्य भक्तप्रत्याख्यान उत्कृष्ट पादपोपगमन स थारा में से किसी भी स थारे का मनोरथ कर सकता है ।

वस्तु स्थिति- तीन मनोरथ को मन, वचन, काया से जीवन में आत्म परिणत करते रहने से कर्मों की सदा महान निर्जरा होती है और साधक शीघ्र ही इस भव, परभव में मोक्ष का अधिकारी बनता है । अ गशास्त्र में कथित यह प्रेरक विधान और सहज महान लाभकारी आचरण है और साधु श्रावक दोनों के लिये करने का यहाँ स्पष्ट स देश है । फिर भी आलस, स स्कार एव प्रेरणा के अभाव में या व्यक्तिगत प्रमाद के कारण प्राय: ९९ प्रतिशत श्रावक साधु इस लाभ से व चित रहते होंगे। अत: इस प्रेरणादायी प्रश्नोत्तर का स्वाध्यायी साधक आज से ही नियमित तीन मनोरथों का चि तन प्रार भ कर के अपने **कर्मक्षय के और मोक्षप्राप्ति के मुख्य उद्देश्य में** अधिकतम लाभान्वित बने ।

निबंध-६३

वक्ता कब बनें, परोपदेशे पांडित्यं

प्रश्न-७ : 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' इस उक्ति के विषय में इस शास्त्र में क्या कहा गया है ?

उत्तर- प्रस्तुत उद्देशक के ६२ वें सूत्र में उपदेश और उपदेष्टा की महिमा दर्शाते हुए कहा गया है कि उपदेष्टा बनने के पहले सम्यक् अध्ययन होना चाहिये, उसके बाद सम्यक् चि तन-मनन होना चाहिये फिर स यम-तप-त्याग आदि का सम्यग् आचरण भी होना चाहिये । इस प्रकार तीनों

गुणों-साधनाओं से परिपूर्ण व्यक्ति के द्वारा कहा गया उपदेश सुआख्यात-सही वस्तु तत्त्व को बताने वाला सन्मार्गदायक होता है । तीर्थंकर भगवान ऐसा सुअधीत, सुध्यात और सुतपस्वित धर्म का सु दर आख्यान, कथन, विवेचन करते हक्त । तात्पर्य स्पष्ट है कि उपदेशक का जीवन अध्ययन, चि तन-मनन युक्त एव तप-स यममय होना ही चाहिये। इस प्रकार इस सूत्र में सकारात्मक विधान के साथ प्रश्नगत उक्ति का समर्थन होता है कि 'दिया तले अ धेरा' के समान उपदेशक नहीं होना चाहिये । पहले स्वय के जीवन को पूर्ण आदर्श जीवन रूप में घडना चाहिये, फिर उपदेशक बनना चाहिये ।

निबंध-६४

मोक्षप्राप्ति में तप एवं क्रिया का मापदंड

जिस तरह स सार व्यवहार में **करोडपति शेठ** बनने के लिये किसी व्यापार या वर्ष आदि समय का अथवा परिश्रम का कोई मापद ड निर्धारित नहीं किया जा सकता है । क्यों कि कोई व्यक्ति अल्प प्रयत्न और अल्प समय में मालो-माल हो जाता है और कोई अत्यधिक प्रयत्न, रात दिन करने पर भी वर्षों तक करोडपति शेठ नहीं बन सकता है। इसके पीछे अनेक कारण रहे हुए होते हक्त । उनमें मुख्य कारण ये है- पूर्वभव के कर्मस ग्रह तथा वर्तमान सुस योग और समय पर योग्य पुरुषार्थ ।

ठीक इसी तरह मोक्ष साधना में भी प्रत्येक व्यक्ति के लिये तप और स यम की मात्रा का कोई निर्धारण नहीं कहा जा सकता । जीव के अपने पूर्वभवों की पर परा और कर्मस्टोक विभिन्न तरह के होते हक्त । इसी बात को स्पष्ट करते हुए यहाँ पर चार प्रकार के मोक्षाराधक साधकों के दृष्टा त के साथ मोक्षसाधना के तप स यम की भिन्नता स्पष्ट की गई है- (१) कम समय और कम तप-स यम से मुक्ति । यथा-मरुदेवी माता । भगवान ऋषभदेव की माता मरुदेवी को अल्प समय में स यम तप की उग्र साधना के बिना अ तर्मुहूर्त की ध्यान पराकाष्टा से ही मुक्ति प्राप्त हो गई । (२) ल बे समय से कि तु उग्र तपश्चर्या के बिना मुक्ति । यथा- भरत चक्रवर्ती को अ तर्मुहूर्त के चि तन ध्यान मात्र से केवलज्ञान की प्राप्ति और फिर दीर्घ स यम पर्याय में (१लाख पूर्व=१लाख× ८४०००००×

८४००००० वर्ष पर्यंत स यम पालन करते हुए मानव देह में) विचरण करने के बाद सुखपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हुई । (३) अल्प समय और अधिक कष्ट से मुक्ति । यथा–गजसुकुमाल मुनि । कृष्ण वासुदेव के छोटे सगे भाई गजसुकुमाल मुनि को एक दिन की दीक्षापर्याय, १६ वर्ष की मात्र उम्र में भय कर तीव्र दारुण वेदना सहन करते हुए अ तर्मुहूर्त के कायोत्सर्ग में मुक्ति की प्राप्ति। (४) ल बे समय और कष्टमय स योग के साथ घोर तप–स यम साधना से मुक्ति । यथा– सनत्कुमार चक्रवर्ती । उन्होंने ७०० वर्ष की महान तपस यम साधना और १६ महारोगों की तीव्रतम वेदना को सहन करके मुक्ति प्राप्त करी थी ।

तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग सिद्धा त की एव सभी के चलने योग्य राजमार्ग की रूपरेखा निश्चित्त की जा सकती है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप ये चारों की सुमेल युक्त साधना, यह मोक्ष मार्ग है । – ***उत्तराध्यन सूत्र अध्ययन–२८॥*** पर तु किस आत्मा को द्रव्यसाधना कितनी और किस साधक को भाव–परिणामों की कितनी साधना के बाद सफलता होगी यह निर्णय उस प्रत्येक व्यक्ति के पूर्व के कर्मस ग्रह की अवस्थाओं पर और वर्तमान स योगो तथा योग्य प्रास गिक पुरुषार्थ पर निर्भर होता है । जो उपर दिये गये चार दृष्टा तो से समझा जा सकता है । ऐसा सब कुछ होते हुए भी छद्मस्थ साधक को, उक्त दृष्टा त को ध्यान में रखकर राजमार्ग से स यम तप में, श्रावकधर्म–साधुधर्म में यथायोग्य पराक्रम करना ही श्रेष्ठ–सच्चा और एक दिन सफलता प्राप्त कराने वाला निश्चित्त मोक्ष मार्ग है । उसी में सही लक्ष्य के साथ, तल्लीनता पूर्वक पुरुषार्थ, सभी के लिये, सदा-सर्वदा उपादेय है, ऐसा समझना चाहिये ।

निबंध–६५

चार कषाय एवं १६ कषायों का स्वरूप

क्रोध, मान, माया तथा लोभ चारों कषाय चारों गति में और २४ ही द डक के जीवों में होते हक्त । कहीं सूक्ष्म रूप में और कहीं प्रगट रूप में होते हक्त । एकेन्द्रियों में स स्कार और अस्तित्व रूप में चारों कषाय होते हक्त । उदय की अपेक्षा ये चारों कषाय अ तर्मुहूर्त में बदलते रहते हक्त। अणुत्तरविमान के देवों में भी अस्तित्व के रूप में और सूक्ष्म उदय रूप में

अ तर्मुहूर्त के परिवर्तन से चारों कषाय पाये जाते हक्त । अपेक्षा से कषायों की तरतमता होती है यथा– देवों में लोभ, नारकी में क्रोध, तिर्यंच में माया और मनुष्य में मान कषाय की बहुलता होती है ।

कषायों की उत्पत्ति का आधार– (१) खुद पर–स्वय से स ब धित (२) अन्य से स ब धित (३) उभय से स ब धित (४) अनाधार से यों ही कषाय हो सकते हक्त । **कषायों के होने में कारण–** (१) जमीन (२) मकान आदि (३) उपधि, उपकरण, सामग्री (४) शरीर । इन कारणों से स्वार्थ आदि की भावना से कषाय उत्तेजित होते हक्त ।

कषायों का स्वरूप विभाग– तीव्रता, म दता की अपेक्षा या दीर्घकालीन अल्पकालीन पकड की अपेक्षा तथा आत्मगुणों की क्षति में म दता-तीव्रता की अपेक्षा चारों कषायों के चार विभाग हक्त–

(१) अन तानुब धी कषाय– यह कषाय तीव्रतम दर्जे का होता है । इस कषाय की पकड ल बी स्थिति की होती है । इस कषाय परिणति में, उदय भाव में जीव प्राय: प्रथम गुणस्थान में होता है । इस कषाय के उदय में समकित या व्रत-प्रत्याख्यान की प्राप्ति जीव को नहीं होती है । समकित आदि हो तो भी इस कषाय के उदय में आने पर व्रत या समकित गुण का विनाश होता है तब जीव अनायास मिथ्यात्व अव्रत को प्राप्त कर लेता है । इस अन तानुब धी कषाय में आयुब ध हो तो नरक का ब ध पडता है। यह कषाय उत्कृष्ट रहे तो जीवन भर भी रहे जैसा स्वभाव का होता है। भवितव्यता और काल लब्धि का जोर हो तो कभी इस कषाय वाला जीव भी पलटी खाकर उसी भव में मोक्ष जा सकता है तथापि व्यवहार स्वभाव की अपेक्षा यह कषाय छूटना कठिनाई वाला कहा गया है।

इस को दृष्टा त से समझाया गया है कि– पत्थर में पडी तिराड–दरार का मिटना मुश्किल होता है वैसे ही अन तानुब धी क्रोध कषाय से टूटे दिल जुडना मुश्किल होता है । पत्थर के स्त भ का नम जाना मुश्किल होता है वैसे ही अन तानुब धी मान का नम्रता में पलटना मुश्किल होता है । बा स की जड का वा कापन मिटना कठिन होता है वैसे ही अन तानुब धी की माया वाले स्वभाव का सरल बनना मुश्किल होता

है और वस्त्र में लगे किरमची र ग का निकलना कठिन होता है वैसे ही अन तानुब धी लोभ का मानस पलटना मुश्किल होता है । इस प्रकार यह अन तानुब धी कषाय आत्मा का अधिकतम अहित करने वाला एव आत्मउत्थान-कल्याण में अधिकतम बाधक होता है।

(२) अप्रत्याख्यानी कषाय- यह कषाय अन तानुब धी से कुछ कम तीव्र दर्जे का होता है । इस कषाय में पकड उत्कृष्ट १ वर्ष की होती है । इस कषाय के उदय में जीव के चार गुणस्थान हो सकते हक्त, पाँचवाँ गुणस्थान नहीं होता है । इस कषाय के उदय में जीव व्रत-प्रत्याख्यान नहीं कर सकता और कभी पाँचवाँ गुणस्थान या व्रत-प्रत्याख्यान हो तो भी इस कषाय के उदय में वे छूट जाते हक्त । इस कषाय में आयुब ध हो तो तिर्यंच गति की प्राप्ति होती है । यह कषाय उत्कृष्ट रहे तो स वत्सरी तक रह सकता है ।कदाचित् इसमें परिवर्तन आवे तो इस कषाय वाला जीव भी आगे बढता हुआ उसी भव में मुक्त हो सकता है तो भी व्यवहार स्वभाव की अपेक्षा इसका छूटना कुछ मुश्किल जरूर होता है ।

इसको दृष्टा त से इस प्रकार समझाया है कि- तालाब में कीचड पानी सूखने पर जो तिराड मिट्टी में पडी होती है वह पुन: बारिस आने के पूर्व मिटना मुश्किल होती है। वैसे ही इस कषाय वाले का क्रोध सम्यग् दृष्टि हो तो स वत्सरी आने पर वह उस कषाय का वमन कर देता है। अन्यथा वह कषाय अन तानुब धी में परिणत हो जाता है। हड्डी केस्त भ के समान इस अप्रत्याख्यानी कषायोदय के मान वाला कभी कि चित् नम सकता है अधिक नहीं । भेड के सि ग की वक्रता प्रयत्न विशेष से कदाचित् कि चित् मिट सकती है वैसे इस अप्रत्याख्यानी कषाय की माया वाले में कि चित् सरलता हो सकती है । कीचड से भरे वस्त्र का र ग धोने पर कि चित् साफ हो सकता है उसी प्रकार इस कषाय के उदय वाले का लोभमानस कुछ पलट सकता है। इस प्रकार यह कषाय, अन तानुब धी से कम दर्जे का होते हुए भी आत्मा का अहित करने वाला एव मोक्षमार्ग में आगे बढने में अवरोधक होता है ।

उच्चारण की अशुद्धता से इसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कह दिया जाता है कि तु समझने पर ध्यान में आ सकता है कि अप्रत्याख्यान का

आवरण नहीं होता है । इसलिये इसके साथ आवरण शब्द नहीं जोडना चाहिये कि तु **अप्रत्याख्यानी कषाय** इतना ही बोलना चाहिये ।

(३) प्रत्याख्यानावरण कषाय- पूर्व के दो कषायों से इस कषाय की तीव्रता कम होती है । इस कषाय में पकड १५ दिन से ज्यादा नहीं होती है । इस कषाय के उदय में जीव को पाँच गुणस्थान हो सकते हक्त । यह कषाय सर्वविरति रूप स यम का बाधक है । कि तु देशविरति के प्रत्याख्यान इस कषाय के उदय में प्राप्त हो सकते हक्त । इसलिये यह कषाय सर्वप्रत्याख्यान का आवरण करता है, देश प्रत्याख्यान का नहीं । इस कषाय का उदय होने पर उपर के छट्ठे आदि गुणस्थान हो तो भी छूट जाते हक्त और वह जीव पाँचवें आदि नीचे के गुणस्थानों में आ जाता है । इस कषाय में आयुब ध हो तो मनुष्य गति की प्राप्ति होती है । परिणामों में परिवर्तन आकर प्रगति करे तो इस कषाय वाला जीव भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है । तथापि स्वभाव से इस कषाय की स्थिति उत्कृष्ट १५ दिन की हो सकती है ।

इसको दृष्टा त से इस प्रकार समझाया है- बालु रेत में पडी लकीर हवा आदि से दो-चार दिन में समाप्त हो जाती है वेसे ही इस प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्रोध २-४ दिन यावत् उत्कृष्ट १५ दिन में समाप्त हो जाता है। समाप्त न होवे तो उपर के अन्य किसी कषाय में परिणत हो जाता है । लकडी को मोडने पर थोडा सा बल लगाने पर भी वह मुड जाती है वैसे ही इस कषाय के मान वाले में कुछ समय व्यतीत होने पर नम्रता हो जाती है । बैल चलते-चलते मूत्र करता है तब भूमि पर उसके मूत्र का आकार वक्रता वाला होता है, वह भी थोडे समय बाद सूखने पर या अन्य गमनागमन आदि से समाप्त हो जाता है; वैसे ही इस प्रत्याख्यानावरण कषाय वाले की माया भी अल्प समय से सरलता में परिवर्तित हो जाती है । अ जन या काजल का र ग शीघ्र साफ हो जाता है वैसे ही इस कषायोदय का लोभ मानस भी सरलता से परिवर्तित हो जाता है । यह कषाय दुर्गतिदायक नहीं है, फिर भी मोक्ष मार्ग की प्रगति में स यम प्राप्ति में बाधक बनता है ।

(४) स ज्वलन कषाय- यह कषाय म दतम होता है इसमें पकड का

अभाव सा होता है अर्थात् यह कषाय क्षणिक होता है । इस कषाय के रहते जीव १० वें गुणस्थान तक बढ सकता है । यह कषाय आत्मगुणों में खास अवरोधक नहीं बनता है । मात्र वीतरागता या केवली अवस्था प्राप्त होने में बाधक होता है तथापि कई हलुकर्मी जीव इस कषाय को दसवें गुणस्थान में पूर्ण क्षय करके वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाते हक्त । इस कषाय के उदय में आयुब ध होवे तो देवगति की प्राप्ति होती है । यह कषाय दिखने मात्र का या सिर्फ अस्तित्व रूप होता है कि तु अ तर ग में तीव्र परिणामी नहीं होता है । स्वार्थ परायणता या परसुखभ जक वृत्ति इस कषाय के उदय वाले में नहीं होती है । तथापि कषाय रूप अस्तित्व वाला होने से आत्मा के वीतराग गुण का घातक होता है । इसकी स्थिति नहींवत् होती है अर्थात् १ दिन या अहोरात्र की भी स्थिति नहीं होती है अर्थात् अल्प समय में ही इस कषाय के परिणाम सहज भाव में परिवर्तित हो जातेहक्त ।

इसको दृष्टा त से इस प्रकार समझाया है– पानी के अ दर खींची गई पतली या मोटी लकीर तत्काल मिट जाती है वैसे ही इस कषाय वाले का क्रोध दिखने में छोटा या बडा कैसा भी हो, ज्यादा नहीं रहता है; तत्काल या उसी दिन समाप्त हो जाता है । घास का तिनका या वेंत शीघ्र नम जाता है वैसे ही इस कषाय के मान वाले में नम्रता भी स्वाभाविक होती है । बा स, काष्ट वगेरे के छीलन में जो मोड होता है वह सहज सीधा हो सकता है वैसे ही इस कषाय के माया के साथ सरलता स्वाभाविक होती है । जिस तरह हल्दी का र ग धूप में रखने पर शीघ्र उड जाता है वैसे ही इस कषाय वाले का लोभ मानस भी शीघ्र पलट जाता है।

इस प्रकार अन तानुब धी आदि चारों प्रकार के क्रोध मान माया लोभ आदि के कुल १६ भेद होते हक्त । ये सभी कषाय एक ही व्यक्ति में पाये जा सकते हक्त, क्रम अक्रम से इनका परिवर्तन होता रहता है । तथापि प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान वाले के १६ कषाय, चौथे सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले में १२ कषाय(अन तानुब धी नहीं), पाँचवें श्रावक गुणस्थान में ८ कषाय(अप्रत्याख्यानी भी नहीं) और स यम के छट्ठे गुणस्थान से नवमे गुणस्थान तक ४ स ज्वलन के कषाय ही होते हक्त । दसवें गुणस्थान में

स ज्वलन का एक लोभ मात्र रहता है, क्रोध, मान, माया वहाँ नहीं रहते हक्त । उसके बाद ११ से १४ गुणस्थान में कषायोदय होता ही नहीं है, वे वीतराग कहलाते हक्त। स क्षेप में अन तानुब धी कषाय समकित घातक, अप्रत्याख्यानी कषाय देशविरति में बाधक, प्रत्याख्यानावरण कषाय सर्वविरति रूप स यम का अवरोधक तथा स ज्वलन कषाय वीतरागता में बाधक होता है । ज्ञान एव अभ्यासपूर्वक वैराग्य भावों की वृद्धि करते हुए सभी कषायों से मुक्ति प्राप्त करना ही मोक्ष साधना का मुख्य अ ग है । कषाय स ब धी यह समस्त वर्णन इस चौथे स्थान में है कि तु अलग-अलग उद्देशक या स्थलों में प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध होता है । यहाँ उन सभी का विवरण एक साथ कर दिया गया है ।

निबंध–६६

चार विकथाओं तथा धर्मकथाओं का विश्लेषण

मोक्षसाधना में अर्थात् धर्मकरणी में जो कथा-वार्ता नहीं की जाती उसे विकथा कहते हक्त । जो आत्महित में अनुपयोगी वार्ता होती है वे विकथा है, जिससे आत्मा में राग या द्वेष की परिणति होती है वैसी वार्ता-वार्तालाप विकथा है । विकथा के मुख्य ४ प्रकार हक्त– (१) स्त्री स ब धी(पुरुषस ब धी)(२)भोजनस ब धी(खान-पानस ब धी)(३)देशस ब धी (४) राजा स ब धी ।

(१) स्त्री कथा– स्त्रियों के विभिन्न स्वभावों की, आदतों की, उनके कुल-व श की, चाल-चलन की, अल कारो की, आभूषणों की, शरीर के अच्छे खराब की, अ गोपा गों की, रूप-र ग की, इन्द्रियों की, सजावट की, वेशभूषा की, वस्त्रों की, बालों की इत्यादि विषयों की चर्चा, निंदा, प्रश सा, वाद-विवाद वगेरे ये सभी वार्ता विकथा रूप है, आत्म साधना में इन चर्चा से कोई लाभ नहीं है ।

(२) भोजन-भक्त कथा– साधु को जीवन निर्वाह के लिये, आयुष्य चलाने के लिये आहार करना जरूरी है । इसलिये यथासमय भिक्षा के नियमों के पालन के साथ आहार पानी लाकर उदरपूर्ति करना जरूरी होता है उतना करना ही पडता है तथा स्वय के और अन्य साथी साधुओं के स्वास्थ्य, स यम, ब्रह्मचर्य समाधि का ध्यान रखने हेतु आहार के गुणधर्म

का ज्ञान अनुभव स्वय को रखना होता है और आवश्यक होने पर अन्य योग्य साधु को अनुभव ज्ञान देना होता है ।

भोजन स ब धी विकथा इस प्रकार है– खाद्यसामग्री के अच्छे-खराब की चर्चा, पकाने की विधि-अविधि की कुविधि की चर्चा, अपने पसद-नापस द की रागद्वेषात्मक चर्चा, खुद के स सार अवस्था के खान-पान की चर्चा, क जूसों के, धनवानों के, गरीबों के खान पान की चर्चा, खाद्यपदार्थों के मूल्य की चर्चा एव उनके स्वादिष्ट होने की चर्चा । इस प्रकार की चर्चाओं में साधना का समय व्यर्थ खर्च होता है एव रागद्वेष, आर्तरौद्र ध्यान के प्रस ग से कर्मब ध होता है ।

(३) देशकथा– देश विदेश, ग्राम नगरों के वशावट, रहन-सहन, वेशभूषा, खान-पान, व्यवस्थाओं, कुव्यवस्थाओं, दर्शनीय स्थानों, प्रथाओं, भाषाओं की चर्चा, निंदा, प्रश सा, राग-द्वेषमय वाद-विवाद, यह सब देश कथा रूप है एव कर्म ब धनकारी है ।

(४) राजकथा– राजाओं के गुणों-अवगुणों की, राज्य स चालन के अच्छे-खराब होने की, कायरता-शूरवीरता की, ठाठ-माठ की, ऐश्वर्य की, राजभ डार की, सैना-युद्ध की, हार-जीत की इत्यादि चर्चाएँ, निंदा-विकथा, वाद-विवाद, ये परस्पर रागद्वेष वर्धक होते हक्त । ऐसी कथाओं मे कभी किसी का मनदु:ख होता है, कभी क्लेश, बोलचाल, झगडे भी होते हक्त। ये सभी विकथाएँ धर्माचरण साधना में पूर्णत: वर्जन करने योग्य होती है । इन विकथाओं स ब धी विषयों की चर्चा के अतिरिक्त इन्हें अपनेचि तन-मनन का विषयभूत बनाना अर्थात् इन विषयों में व्यक्तिगत चि तन विचारणा करना भी आत्मसाधक के लिये वर्ज्य समझना चाहिये। जिसका स केत प्रश्नव्याकरण सूत्र के चौथे स वर द्वार में मिलता है ।

धर्मकथाओं का स्वरूप :– मोक्ष साधना में एव आत्मगुणों के विकास में सहायक, स्व-पर हितकारक, वार्ता-चर्चा, उपदेश, विचारणा, प्रेरणा ये सभी धर्मकथाएँ कही जाती है । इसके मुख्य ४ प्रकार है– (१) जिनमत में स्वमत में स्व आत्मा को तथा अन्यों को आकर्षित करने वाली चर्चा, उपदेश, निरूपण, प्ररूपण; वह **आक्षेपिणी** धर्मकथा कही जाती है। (२) अन्य मिथ्याधर्मों से, मिथ्या सिद्धा तों से, पर पराओं से, अ धविश्वासों से, भ्रमणाओं से आत्मा को हटाना, चित्त को उसमें से

चलित करना, सत्यासत्य का भेदज्ञान होकर असत्य से हटने को तत्पर कराने वाली कथा-वार्ता चर्चा-विचारणा; यह **विक्षेपिणी** धर्मकथा कही जाती है। (३) जीवन में वैराग्य भावों को पैदा करने वाली, स सार से अरुचि, मोक्ष में लगन पैदा करने वाली कथा-वार्ता, चर्चा, प्रेरणा, उपदेश, अनित्य आदि चार भावना वर्णन; यह **स वेगिनी** धर्मकथा कही जाती है । (४) शरीर के प्रति, सुख-भोगों के प्रति उदासीनता पैदा करने वाली, पुण्य-पाप के परिणाम की चर्चा द्वारा स यम, व्रत-प्रत्याख्यान की रुचि की वृद्धि करने वाली, कष्ट-उपसर्गों के समय सहिष्णुता पैदा करने वाली कथा- वार्ता, चर्चा, प्रेरणा, उपदेश, अशुचि भावना आदि; ये **निर्वेदिनी** धर्मकथा कही जाती है।

प्रस्तुत शास्त्र में (१) **आक्षेपिणी** धर्मकथा के ४ प्रकार कहे हक्त– १.आचार की चर्चा से अथवा आचार स ब धी विवेचना से, २. व्यवहार कुशलता से, व्यवहार की शुद्धि से, श्रेष्ठ व्यवहार से, ३. व्यक्ति के स शयों के स तोषकारक समाधान से, ४.अनेक अपेक्षाओं से दृष्टा तों से एव शास्त्रों के उद्धरणों से वस्तु तत्त्व के स्पष्टीकरण से व्यक्ति को या पर्षदा को शुद्ध–धर्म के प्रति आकृष्ट करने वाला वक्तव्य-उपदेश आक्षेपिणी धर्मकथा है ।

(२) **विक्षेपिणी** धर्मकथा के ४ प्रकार कहे हक्त– १. श्रोता या पर्षदा के समक्ष स्वसिद्धा त, सत्यदृष्टि, सत्य विचारणा की सम्यक् विवेचना के साथ अशुद्ध दृष्टि-विचारणा की असम्यकता के स्पष्टी करण से, २. अशुद्ध दृष्टि, विचारणा, अन्य सिद्धा त का कथन करके सत्य तत्त्व के स्पष्टीकरण पूर्वक उसकी महत्ता दर्शावे । ३.वाद-प्रतिवाद के प्रस ग में कभी सम्यक्वाद का क्रमबद्ध कथन करके मिथ्यावाद से तुलना दर्शावे, ४. कभी मिथ्यावाद का पहले कथन करके फिर उस कथन के तत्त्वों से सम्यक्वाद के तत्त्वों की तुलना दर्शाकर सम्यक्वाद की स्थापना करे । इस प्रकार से कथा, वक्तव्य, उपदेश एव सम्यक्वाद- चर्चा करने से परिषद, श्रोता या वादी अपनी असम्यक्दृष्टि, विचारणा से चलित होकर सम्यक् विचारणा के अभिमुख बनता है । इस प्रकार विवेक और बुद्धि के साथ निरूपण करना यह विक्षेपिणी कथा है ।

(३) **स वेगिनी** धर्मकथा के ४ प्रकार हक्त– १. इहलौकिक पदार्थों, साधनों, स योगों की असारता–विड बना का निरूपण । २. पारलौकिक(तीन गति स ब धी) असारता–विड बना का निरूपण । ३. शरीर की असारता–विडंबनाओं का निरूपण । ४. अन्य पदार्थों स योगों की विनश्वरता का निरूपण । इस प्रकार की कथा-वार्ता स्व-पर में वैराग्य वासित करने वाली होने से स वेगिनी कथा कही गई है ।

(४) **निर्वेदिनी** धर्मकथा के ४ प्रकार हक्त– इस कथा में पाप के दारूण परिणामों का दिग्दर्शन करवाकर स सार एव स सार के सुखों तथा शरीर के प्रति आसक्ति हटाकर उदासीनता पैदा की जाती है । १. इस भव में जेल की यातना, मारपीट प्राप्त करने वाले चोर, परदारगवेषी मानवों के दृष्टा तो का कथन । २. शिकार, प चेन्द्रियवध, मा साहार करने वाले, महापरिग्रही–धनस पत्ति राज्य के स्वामी मरकर नरक के अति दारुण दु:खों को भोगते हक्त, ऐसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, रावण, क स आदि के जीवन का एव दु:खविपाक सूत्रानुसारी कथाओं का निरूपण । ३. पूर्वभवों के पापफल द्वारा गर्भ से लेकर जीवनपर्यंत दु:ख दरिद्रता भोगने वालों के जीवन का दिग्दर्शन । ४. पूर्वभवों के पापोदय से कौवे, कुत्ते, गीध तथा मद्य-मा साहारी बनकर पुन: नरकादि भवों में दुर्गतियों की पर परा में दु:खी होने का निरूपण ।

इसी प्रकार पुण्य, सत्कर्म, धर्माचरण के फल का प्रतिपादन करके त्याग-तपस्या में पराक्रम भाव जागृत किये जाते हक्त, यथा–१. तीर्थंकरों को सुपात्रदान देने वाले इस भव में यशोकीर्ति, स्वर्ण मुद्राओं की वृष्टि का अपार धन प्राप्त करते हक्त । २. स यम साधना करने वाले श्रमण-निर्ग्रंथ तपस्वी साधक स सार परित्त करके आगामी भवों में भी शीघ्र मुक्तिगामी बनते हक्त। ३. पूर्व भवों में स चित पुण्यफल से जीव तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि की सुखसाहिबी और आत्मउत्थान के सुस योग को प्राप्त करता है । ४. च डकौशिक, न दमणियार का जीव मेढक तथा बलदेव मुनि को आहार की दलाली करके हिरण वगैरह तिर्यंच भव में पुण्योपार्जन कर देवगति के सुख सुविधामय जीवन को प्राप्त कर आगे भी आत्मकल्याण का मार्ग सुलभ करते हक्त ।

ये सभी दृष्टा त निर्वेदभाव को पैदा करके धर्मसाधना में, तप तथा स यम साधना में बलवृद्धि एव उत्साहवृद्धि करते हक्त; स सार और शरीर की आसक्ति से उपर उठने की प्रेरणा देते हक्त । ये दोनों प्रकार के चार-चार भ ग निर्वेदिनी कथा रूप है । तत्त्व यह है कि– साधक पूर्व प्रश्न में कथित विकथाओं से सदा निवृत्त रहे और इस प्रश्नोक्त धर्मकथाओं में तल्लीन रहे । विकथाओ से अरुचि नफरत रखे और धर्मकथाओं में रस-रुचि सेवे; यही आत्मगुण विकास का, आत्मकल्याण साधना का निष्क टक मार्ग है ।

निबंध–६७

व्रत पच्चक्खाण से गृहस्थ भारी या हल्के

प्रश्न– गृहस्थ जीवन तो स सार की अनेक खटपटों से, ज जालों से परेशानी वाला होता है, उसमें फिर धर्म के नाम से त्याग, नियम, व्रत की जिम्मेदारियाँ डाल कर विशेष भारी बनना होता है तो शास्त्र में इन व्रतों को गृहस्थ के विश्राम स्थान क्यों बताये हक्त ?

उत्तर– जिस तरह भार वहन करने वाले की बहुत ल बी म जिल है वह चलते-चलते एक हाथ से दूसरे हाथ में भार को पलटता है या एक क धे से दूसरे क धे पर उस वजन को उठाकर रखता है, तब सीधे-सीधे चलते रहने की प्रवृत्ति में यह बदलने की प्रवृत्ति भले बढती हुई दिखाई देती है फिर भी इस प्रवृत्ति में विश्राम समाविष्ट है। आगे बढते हुए भारवाहक शारीरिक श का(मलमूत्र की बाधा) होने पर कोई योग्य स्थान की गवेषणा करता है । फिर सामान को क धे पर से उतारता है, ठीक से जमाकर भूमि पर रखता है, बाधा निवृत्ति के लिये आसपास जाता है । पुन: आकर भार को उठाकर क धे पर जमाता है फिर चलता है तो सीधे चलते रहने में बीच में ये सारी प्रवृत्ति बढी तो भी उसकी थकान में विश्रा ति अवश्य मिलती है ।

ठीक इसी तरह स सार के मोहमाया भरे कर्तव्यों, आर भ-समार भ की प्रवृत्तियों से आत्मा निर तर कर्मब ध के भार से श्रमित होती रहती है, उसमें स तदर्शन, गुरुसा निध्य, वीतरागवाणी श्रवण, व्रतप्रत्याख्यान द्वारा कर्माश्रव निरोध, तप-व्रत-स यम आचरणों के द्वारा कर्मों की कमी से

आत्मा को द्रव्यभाव दोनों प्रकार से विश्रा ति मिलती है, मानसिक और शारीरिक दोनों ही सुखसमाधि प्राप्त होती है । इसी दृष्टिकोण से शास्त्र में श्रमणोपासक के जीवन में अपेक्षा से चार विश्रा तिस्थान कहे हक्त, जिसमें क्रमशः विश्रा ति की अधिकता रही हुई है ।

जैसे–(१) भारवाहक भार को हाथ या क धों में परिवर्तित करता है (२) थोडी देर के लिये कहीं रखकर शारीरिक मल-मूत्र की बाधा से निवृत्त होता है (३) बीच में म दिर या धर्मशाला आदि स्थान में रात्रि निवास या दुपहर की विश्रा ति करता है (४) घर पर या ग तव्य स्थान में पहुँचकर भार से मुक्त हो जाता है । उसी प्रकार श्रमणोपासक भी सा सारिक जीवन जीते हुए–(१) स त समागम, धर्मश्रवण तथा अनेक त्याग प्रत्याख्यान रूप कुव्यसन त्याग, रात्रिभोजन त्याग या मर्यादा, नवकारसी, पोरसी एव दयादान प्रवृत्ति आदि धारण करता है, जीवन को सुस स्कारित करता है तो यह भारवाहक की प्रथम विश्रा ति हाथ, क धे परिवर्तन जैसी कर्मस ग्रह में विश्रा तिकारक है । (२) कुछ समय निकाल कर सामायिक करना, दैनिक प्रवृत्तिओं, आवश्यकताओं की सीमा रखकर मर्यादा करना यह भारवाहक की दूसरी विश्रा ति भार नीचे रखने के समान है । (३) रात्रिभर या दिवसभर के लिये स वर-पौषधमय प्रवृत्ति युक्त उपाश्रय या पौषधशाला में व्रती जीवन से रहना यह भारवाहक की तीसरी विश्रा ति–रात्रि निवास के समान है। (४) जीवन का पिछला समय जानकर स सार के कार्यों से निवृत्तिमय जीवन बनाकर, पौषधशाला में ही भिक्षा लाकर जीवन निर्वाह करना या फिर अ तिम समय यावज्जीवन का स लेखना स थारा ग्रहण करना, यह भारवाहक की चौथी विश्रा ति ग तव्य स्थान में पहुँच कर सदा के लिये भार त्याग के समान १८ पापों के त्यागमय स थारा ग्रहण रूप विश्रा ति है ।

यह जानकर श्रमणोपासक को सा सारिक जीवन में भी हलुकर्मी, भारमुक्ति रूप विश्रा ति, आत्मसमाधि, आत्मउन्नति के लिये जिनाज्ञा अनुसार व्रत-प्रत्याख्यानों की एव स वर, सामायिक, पौषध आदि तथा निवृत्तिमय जीवन को स्वीकारने की भावनाओं को एव स स्कारों को बढाते रहना चाहिये । तो वह स सार भार का भारवाहक होते हुए भी

विश्रा ति प्राप्त करता हुआ कभी हैरान परेशान न होकर अनुपम आत्म-समाधि को प्राप्त करने वाला बन सकता है ।

निबंध–६८

गृहस्थ साधु पर माता–पिता होने का अधिकार जमावे

साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका चारों ही मोक्षमार्ग के पथिक हक्त, आत्मसाधना के साधक हक्त, परस्पर साधर्मिक छोटे बडे भाई के समान हक्त। साधु महाव्रतधारी है और श्रावक अणुव्रतधारी है अतः कोई किसी पर अधिकार जमावे या किसी का तिरस्कार करे ऐसा कुछ भी किसी को भी योग्य नहीं है । साधक-साधक परस्पर एक दूसरे के सहयोगी बन सकते हक्त, एक दूसरे के सहयोग से अपनी साधना को बलवती बना सक्तेहक्त। कदाचित् किसी की साधना अल्प बलवती या हीन सत्व वाली दिखे तो अत्य त आत्मीयता पूर्वक, परम भक्ति एव विवेक के साथ, उसकी साधना बलवती बने वैसा सहायक बनने का प्रयत्न कोई भी कर सकता है । किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि– ***मार्ग भुलेला जीवन पथिकने, मार्ग चींधवा उभो रहुँ । करे उपेक्षा ए मारगनी, तो ये समता चित्त धरुँ ॥*** शैलक राजर्षि की और पार्श्वनाथ भगवान की अनेक साध्वियों की मार्गभूलित अवस्था शास्त्र में वर्णित है तथापि वहाँ कोई साधु-श्रावक के द्वारा अधिकार जमाने की बात नहीं की गई हक्त । ५०० साधुओं के स्वामी गर्गाचार्य ने और उस समय के श्रावको ने एक-एक साधु को अधिकार जमाकर मार-मारकर सीधा नहीं किया । अपने आपको तीर्थंकर कहते हुए भी तथा अपने को साधु मानकर भी भगवान के सामने अनर्गल प्रलाप करने वाले एव दो साधु के हत्यारे गोशालक के उपर भी किसी ने अधिकार जमाने की या माँ-बाप होने का वादा करने की कोशीश नहीं की थी । गोशालक का भक्त अय पुल श्रावक भी गोशालक को मर्यादाहीन प्रवृत्ति में देख कर उस पर कुछ भी अधिकार नहीं जमाते हुए स्वय वापस घर लौटने लगा । इसलिये धर्म मार्ग में धर्मसभा में या गुरु-शिष्य के व्यवहार में भी कोई किसी पर अधिकार ठस्सा जमाने की बात नहीं समझनी चाहिये अपितु एक दूसरे साधक की साधना में हो सके जितना सहयोगी बनना चाहिये । शक्य न हो तो

उपेक्षा या आत्मसुरक्षा करनी चाहिये। कि तु घृणा, निंदा, तिरस्कार, स घ बहिस्कृति, हीन भावना, किसी के भी जीवन के साथ खिलवाड आदि प्रवृत्ति किसी भी धर्मिष्ट को करना योग्य नहीं कहा जा सकता । ऐसी प्रवृत्तियाँ जो भी साधक करते हक्त वह उनकी खुद की मानस ज्ञा, स कीर्णता, स्वार्थपरायणता एव स्व-जमावट, पर-गिरावट आदि हीन भावनाओं का परिणाम हक्त । गिरते हुए को उठाना कर्तव्य है कि तु नहीं उठे तो ठोकरें मारना, यह कोई भी धर्मी का तो क्या, सज्जन का भी कर्तव्य नहीं है। यहाँ अनेक प्रकार के लक्षणों वाले श्रावकों को ध्यान में रखते हुए शास्त्रकार ने चार प्रकार के स्वभाव, व्यवहार करने वाले श्रावक बतलाये हक्त–

(१) माता-पिता जैसी हार्दिक लगन युक्त आत्मीयता का व्यवहार करने वाले, सदा विकास में सहयोगी बनने वाले श्रावक। जिस प्रकार योग्य शिक्षित माता-पिता बच्चे को गलती करने पर थोडी उपेक्षा, थोडी शिक्षा, थोडा समझाना, थोडा स रक्षण करके प्रेम से उसे अवगुणों से बचाने का और गुणों में प्रगति कराने का प्रयत्न करते हक्त। वैसे ही कोई श्रमण साधक गुरु सा निध्य के अभाव में या सही स स्कारों के अभाव से कहीं भी मार्ग च्युत हो तो श्रावक अपनी शक्ति स जोकर, अपने समभावों की दृढता का ख्याल रखकर, गुरुभक्ति को सुरक्षित रखते हुए, विनय–विवेक और गुरु सम्मान निभाते हुए विचक्षणता से श्रमण को सन्मार्ग की प्रेरणा करे, सन्मार्ग में जोडे, तो वैसी योग्यता वाले, विवेक वाले श्रमणोपासक इस शास्त्रकथन के अनुसार माता-पिता के समान कहे जाने के योग्य होते हक्त।(२-३) उसी प्रकार भाई-भाई जैसे एक दूसरे के हितैषी सहयोगी होते हक्त;मित्र-मित्र भी एक दूसरे के सहयोगी होते हक्त, वैसा भ्रातृत्व का या मित्रता का सहयोगी व्यवहार करने वाले श्रावकों को यहाँ सूत्र में २.भाई समान और ३.मित्र समान श्रमणोपासक होना कहा है। (४) जिस तरह एक व्यक्ति की अनेक अयोग्य पत्नियाँ परस्पर शोक्य वृत्ति से रहती है उसी प्रकार जो श्रावक राग-द्वेष, मेरा-तेरा वाली वृत्ति रखते हक्त, अपने अनुराग वाले साधुओं के बडे-बडे दोष भी पेट में समा लेते हक्त, भले वहाँ बार-बार बडे बडे ओपरेशन हो; नित-नये लडाई-झगडे, ट टे फसाद होते हों; फूट-फजीति, भागना, गच्छ छोडना, गुरु वडील की अवहेलना होती हो; उन सब गलत प्रकृतियों, दूषित प्रवृत्तियों को पेट में पचा जाते

हक्त और जिन्हें पराया समझे उनके छोटे-छोटे दोष को भी अति शिखर पर चढाने का, निंदा घृणा का और हीन भावना का वातावरण बनाने का मानस रखकर व्यवहार करते हो; ऐसे श्रावकों को यहाँ शास्त्र में शोक्यवृत्ति वाले या सौत समान श्रावक की कोटी में कहा गया है ।

इस प्रकार यहाँ श्रावकों को मात्र माता-पिता के समान ही नहीं कहा गया है या मात्र माता-पिता का ठस्सा जमाने वाला ही नहीं कहा है, अपितु जैसा व्यवहार विवेक करने वाले हों उसके अनुसार चार दर्जे के श्रावक इस स सार में पाये जा सकते हक्त, ऐसा बताया गया है।

प्रस्तुत सूत्र का सही आशय समजकर श्रावक को अपने आप को कैसा बनना, यह सब कुछ शास्त्रकार की अनेका तिकता को समझकर, खुद की योग्यता और दर्जा हाँसिल कर, हो सके जितना स्व-पर की भलाई की साधना करनी चाहिये । बुरा किसी का भी नहीं करना, तिरस्कार-निंदा-घृणा का व्यवहार शास्त्र के नाम से किसी भी पामर प्राणी के साथ भी नहीं करना चाहिये । तब जिनवाणी के रसिक भूल पात्र साधकों के साथ वैसा व्यवहार कदापि न करते हुए, पूर्वोक्त कवि की कविता जो आगम के मर्म से भरी हुई है, उसी को स्मृति में रखना चाहिये कि– ***'मार्ग भुलेला जीवन पथिकने मार्ग चींधवा उभो रहुँ । करे उपेक्षा ए मारगनी तो ये समता चित्त धरुँ ॥*** आगम के इस पाठ का सार भी यही है।

यहाँ पर श्रमणोपासक के दूसरे ४ प्रकार भी कहे है । सूत्र ४५ में कहे गये श्रावक के पूर्वोक्त चार प्रकारों में बाह्य व्यवहारों की प्रधानता है और सूत्र–४६ में आगे कहे जाने वाले ४ प्रकार, व्यक्ति की अपनी आ तरिक योग्यता की अपेक्षा कहे गये हक्त । वे इस प्रकार हक्त– **(१) काच(आयना)समान श्रावक–** साधु-साध्वी द्वारा निरुपित उत्सर्ग या अपवाद परिस्थिति के आचार को, गहन तत्त्वों को, प्रवचन के यथार्थ भावों को समझने वाला श्रावक **काच के समान** कहा गया है । काच में जैसी वस्तु है वैसी ही दिखती है ।उसी तरह वह श्रावक जैसा जिस तत्त्व का, गुरु का या आगम का आशय है उसे वैसा ही यथार्थ समझता है । **(२) ध्वजापताका समान श्रावक–** जिस दिशा की हवा हो,

ध्वजा पताका उसी तरफ लहराती है, वैसे ही जो श्रावक अपने ज्ञान में स्थिर न रहे, जैसी देशना चले उसके अनुसार ही अपनी चित्तवृत्ति बना लेते हक्त, जहाँ कहीं भी झुक जाते हक्त । उन्हें यहाँ ध्वजा पताका के समान कहा गया है । **(३) खाणु-खेत के ठू ठे के समान श्रावक-** जो श्रावक कोई भी पूर्वाग्रह में, हठाग्रह में या पर परा की पकड में जकडे रहते हक्त, ज्ञानी गीतार्थ बहुश्रुत के द्वारा सत्य तत्त्व समझाने पर भी नहीं स्वीकारते हक्त । खुद को विशाल ज्ञान है नहीं और ज्ञानी की बात माने नहीं, खोटी पकड छोडे नहीं, वैसे श्रावकों को यहाँ पर पका हुआ अनाज काट लेने पर खेत में खडे छोटे छोटे ठू ठे (डींटिये) समान कहा गया है । वैसे श्रावक नम्रता रहित स्वभाव वाले होते हक्त। (४) **खरक टक के समान श्रावक-** जो दुराग्रही श्रावक समझाने वाले गुरु के साथ भी दुर्वचनों का व्यवहार करे, खुद की मूर्खता को समझे बिना गुरु पर दोषारोपण करे; जिस प्रकार क टकाकीर्ण बाड के का टे एक तरफ से निकाले जाय तो दूसरी तरफ चुभते रहते हक्त ऐसे क टक समान पीडाकारी व्यवहार करने वाले श्रावकों को यहाँ पर खर(तीक्ष्ण) क टक समान कहा गया है । इस तरह अपनी-अपनी मानसिकता और क्षयोपशम अनुसार कोई श्रावक काच समान और कोई क टक समान भी होते हक्त । यह जानकर श्रावकों को किस कोटि में आना है उसका निर्णय स्वय करके सु दर क्षयोपशम प्राप्त कर और सु दर प्रकृति एव मानस बनाकर काच के सदृश उत्तम श्रावक बनने का प्रयत्न करना चाहिये ।

निबंध-६९

चिकित्सा-चिकित्सक-व्याधि का प्रज्ञान आगम से

शरीर में उत्पन्न समस्त व्याधियाँ मूल में चार प्रकार की है- (१) वातजन्य-वायुविकार से उत्पन्न (२) पित्तजन्य-पित्तविकार से उत्पन्न (३) कफजन्य-कफ के विकार से उत्पन्न (४) सन्निपातिक- तीनों के विकार से उत्पन्न अर्थात् उपलक्षण से वात-पित्त, वात-कफ, पित्त-कफ और वात-पित्त-कफ यों चारों विकल्प इस चौथे भेद में समझ लेना चाहिये ।

चिकित्सा-उपचार की सफलता के चार अ ग हक्त- **(१) कुशल**

वैद्य- इसके ४ गुण हक्त- १.चतुराई से कार्य करने वाला २. आयुर्वेद शास्त्रों का पारगामी ३. निदान करने में अनुभवी ४. शरीर से और विचारों से पवित्र अर्थात् स्वच्छ शरीर, वस्त्रादि वाला एव रोगी के प्रति अनुक पा भाव वाला तथा स्वार्थ या द्वेष रहित । **(२) औषध-** योग्य गुणस पन्न, सुविधि से निष्पन्न, दोष(ग दगी) रहित, योग्य मात्रा में सेवन । **(३) रोगी-** इसके चार गुण हक्त- १. उपचार योग्य स पत्ति स पन्न २. वैद्य पर विश्वास करने वाला ३. रोग स ब धी हकीकत स्पष्ट करने वाला अर्थात् वैद्य के सामने सही बात कहने वाला ४. योग्य धैर्य रखने वाला अर्थात् स्थिरता से उपचार कराने वाला **(४) योग्य सेवा- परिचर्या करने वाले-** १. रोगी के प्रति हितैषी ।२. स्वय के और रोगी के वस्त्र, शय्या, शरीर को स्वच्छ रखने वाले ।३. सेवा करने में चतुर ।४. रोगी के चित्त की आराधना करने में, उसे प्रसन्न रखने में बुद्धिशाली ।

चिकित्सक की प्रथम चौभ गी- (१) कोई व्यक्ति अपने किसी भी रोग की चिकित्सा कर सकता है (अपना अनुभवी) । (२) कोई मात्र दूसरों को दवा बता सकता है खुद के लिये घबरा जाता है कुछ नहीं कर सकता । (३) कोई सावधानी पूर्वक स्व-पर दोनों की चिकित्सा कर सकता है । (४) कोई रोगग्रस्त या अतिवृद्ध हो जाने से रिटायर चिकित्सक होता है, वह स्व-पर किसी की चिकित्सा नहीं कर सकता । **दूसरी चौभ गी-** (१) कोई मात्र शल्य चिकित्सा करने वाला डोक्टर होता है । (२) कोई मात्र घाव के खून आदि की सफाई करने वाला क पाउन्डर होता है ।(३) कोई दोनों काम स्वय करता है ।(४) कोई मात्र परामर्श देता है, करने वाले आसिस्टन्ट उसके अलग होते हक्त । **तीसरी चौभ गी-** शल्य चिकित्सा और उसकी मरहमपट्टी स ब धी है । **चौथी चौभ गी-** शल्य चिकित्सा और घाव भरने तक की प्रक्रिया स ब धी है । तात्पर्य यह है कि कहीं अलग-अलग कार्य करने वाले अलग-अलग व्यक्ति होते हक्त और कहीं अल्प काम होने से सभी कार्य एक ही व्यक्ति कर लेता है ।

घाव-घूमडे भी कोई चमडी से बाहर पीडा करने वाले और कोई चमडी के अ दर पीडाकारी होते हक्त, इसके ४ भ ग हक्त । कोई में अ दर

खराबी सडान होती है, कोई में बाहर दिखती है, इसके भी ४ भ ग हक्त । ऐसे अनेक विकल्पों से यहाँ इस विषय का वर्णन किया गया है ।

इसके अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में भी चिकित्सा स ब धी वर्णन प्राप्त होते हक्त, यथा- (१) **आचारा ग सूत्र-**श्रु.२, अध्य.१५ में सचित्त अचित्त जडीबूटियों स ब धी औषध उपचार का वर्णन है । वहाँ पर शुद्ध-अशुद्ध म त्रबल से भी उपचार की चर्चा की गई है । (२) **व्यवहार सूत्र** में सर्प काटने पर, झाडा-झपटा(मंत्र विधि) कराने का स केत किया गया है । वैसा करना स्थविरकल्पी-सामान्य साधुओं को कल्पता है । जिनकल्पी-पडिमाधारी भिक्षु को वैसा कराना निषिद्ध है । वहाँ यह भी स्पष्ट किया गया कि स्थविरकल्पी साधु को सर्पद श का झाडा-झपटा कराने का कोई भी प्रायश्चित्त नहीं आता है । (३) **बृहत्कल्प सूत्र** में रोग उपशा ति के लिये स्वमूत्र चिकित्सा रूप में मूत्र को पीने का एव उससे मालिस करने का तथा जरूरी होने पर साधु-साध्वी को आपस में स्वमूत्र लेने-देने का भी कथन है । इस तरह वहाँ स्वमूत्र के पीने और लगाने रूप दोनों उपयोग कहे हक्त ।

(४) **निशीथ सूत्र** में रसोई घर के जमे हुए धूँए से भी औषध उपचार किये जाने का निर्देश है तथा इसी शास्त्र में गोबर स ब धी चिकित्सा की चर्चा भी है। (५) विशिष्ट रोगात क में उपवास चिकित्सा भी **उत्तराध्ययन** आदि सूत्रों से फलित होती है । अनेक असाध्य रोगों में उपवास रामबाण औषध है कि तु उसमें पूर्ण धैर्य युक्त पुष्ट स स्कारित मानस होना अत्य त आवश्यक है । उपवास चिकित्सा में उपवास की स ख्या २१, ३१ या ४१ तक जाने पर उम्र ल बी हो तो असाध्य से असाध्य बिमारी (केन्सर आदि) भी जडमूल से समाप्त हो जाती है । छोटे-मोटे रोग प्राय: खान-पान की अशुद्धि से या विमात्रा से होते हक्त, वे तो १,२ या ३ उपवास से ही चले जाते हक्त । इस उपवास चिकित्सा में गर्मपानी के सिवाय सभी खाद्य और पेय पदार्थों का एव औषध का त्याग आवश्यक होता है । कमजोरी, श्रम की थकान आदि हो तब उपवास चिकित्सा करना निषिद्ध है । पेट की खराबी या ज्वर-बुखार में भी उपचार रूप से १, २ या ३ उपवास करना बहुत होता है ।

सभी प्रकार के रोगों की उपवास चिकित्सा में उपवास समाप्ति पर खान-पान का विवेक रखना आवश्यक होता है । जितने उपवास किये हों उतने दिन अति तीखा, अति खारा, अति मीठा, अति गरिष्ट, अति लूखा नहीं खाने का ध्यान रखना होता है, भूख से कम और प्रत्येक चीज एकबार में अल्प मात्रा में ली जाती है । औषध भेषज का भी यथाशक्य परहेज ही रखना होता है । थोडा बहुत कष्ट आवे तो भी धैर्य और अल्पाहार से उसे पार करना होता है । इस प्रकार ध्यान रखने पर तपस्या युक्त चिकित्सा पारणे में भी सफल सुखदायी बन जाती है । इसी शास्त्र के नवमें स्थान में नव की स ख्या का वर्णन करते हुए रोगोत्पत्ति के ९ कारण कहे हक्त । जीवन में उन बातों का ध्यान रखा जाय तो रोगोत्पत्ति से बचा जा सकता है ।

निबंध-७०

शुभ कर्म दुखदायी : अशुभ कर्म सुखदायी

शुभ कर्मोदय के नशे में जीव विविध पापाचरण करके उसके परिणाम स्वरूप दु:खों की प्राप्ति करता है तो इस अपेक्षा से वे शुभ कर्म दु:खों की पर परा को बढाने वाले होने से परिणाम में दु:खकारक बनते हक्त । उसी प्रकार अशुभ कर्मों के उदय में उस निमित्त से जीव बोध प्राप्त कर पुण्यकर्म या धर्माचरण करके दु:खपर परा का विनाश करके सुखों का भागी बनता है । इस प्रकार विभिन्न अपेक्षाओं से अनेक विकल्प कर्मों के बनते हक्त, यथा- १. कोई शुभ कर्म के उदय में शुभ ब ध करे । २. शुभ कर्म के उदय में कोई अशुभ कर्मब ध करे । ३. अशुभ कर्म के उदय में कोई शुभ कर्मों का ब ध करे और ४. कोई अशुभ कर्म के उदय में अशुभ कर्मब ध करे ।

(१) कोई शुभ कर्म तत्काल सुखदायी होता है यथा- शाता वेदनीय । (२) कोई शुभ कर्म तत्काल दु:खदाई होता है यथा-घ्राणेन्द्रिय का सु दर क्षयोपशम होने पर दुर्गंध के ज्ञान से तत्काल दु:खानुभव होता है । (३) अशुभ कर्म के उदय से तत्काल सुख होता है यथा- पाप प्रकृति निद्रा के उदय से नींद आने पर शा ति मिलती है। (४) अशुभ कर्म के उदय से तत्काल दु:ख होता है यथा- अशातावेदनीय कर्म के उदय होने पर ।

१. पुण्यानुब धी पुण्य २. पुण्यानुब धी पाप ३. पापानुब धी पुण्य और ४. पापानुब धी पाप इन चार विकल्पों की निष्पत्ति भी यहाँ के इन उपरोक्त विकल्पों से होती है । जीव महार भी महापरिग्रही भी पुण्योदय से होता है कि तु उसी अवस्था में लीन रहने पर नरक गति का भागी बनता है तो वह पुण्य भी पापानुब धी पुण्य कहा जाता है। इस प्रकार अन्य विकल्प भी समझ लेने चाहिये ।

निबंध–७१

अवधिज्ञान की उत्पत्ति एवं विनाश कैसे ?

छद्मस्थों का ज्ञान क्षायिक नहीं होता कि तु क्षायोपशमिक ज्ञान होता है तो अवधिज्ञान भी क्षायोपशमिक ज्ञान है । क्षयोपशम की विविध मर्यादाएँ होती है जैसे रटा हुआ श्रुतज्ञान सुबह याद किया शाम को विस्मृत हो जाता है। कोई ठीक याद किया है और पुनरावर्तन नहीं किया तो २, ४ या १० दिन में भी विस्मृत या विकृत हो जाता है । मिथ्यात्व आदि विशेष पाप प्रकृतियों के उदय से, परिणामों की कलुषता वगैरह से भी क्षायोपशमिक ज्ञान देश या सर्व से विनष्ट हो सकता है । ऐसे ही कुछ कारणों से यहाँ अवधिज्ञान के तत्काल विनष्ट होने का निरूपण किया गया है । जिसमें व्यक्ति की ग भीरता की कमी और कुतूहल मानसता के मुख्य कारण दर्शाये हक्त– (१) साधक अवधिज्ञान के माध्यम से विशाल पृथ्वी, द्वीप-समुद्र भी देख सकता है जिसमें चौतरफ अपनी कल्पना से अत्यधिक जल, जलाशय, नदियाँ, समुद्र देखकर आश्चर्यान्वित, अत्यधिक आश्चर्यान्वित या भयभीत हो जाता है तो उसका उत्पन्न हुआ वह अवधिज्ञान तत्काल नष्ट हो जाता है । उसी तरह (२) सूर्योदय-सूर्यास्त के समय या चातुर्मास काल में इस पृथ्वी को जिधर देखो उधर जिस र ग की पृथ्वी होती है उसी र ग के छोटे छोटे स ख्यात-अस ख्यात कु थुए, कु थुओं की राशि कल्पनातीत रूप से देखकर आश्चर्यान्वित आदि होने से । (३) बहुत बडे-बडे सर्प, अजगर १,२,५ या २५ कि.मी. जितने ल बे देखकर कुतूहल में आ जाने से या भयभीत हो जाने से । (४) महर्द्धिक, महासुखी, देवों की महान ऋद्धि को देखकर विस्मित आश्चर्यान्वित हो जाने से । (५) इस जमीन के अ दर अमाप कल्पनातीत धन, स पत्ति,

निधान, रत्नजवाहरात, सोना चा दी, गडा-पडा देखकर विस्मित हो जाने से; इसप्रकार ग भीरता रहित विस्मित होने वाले व्यक्ति का अवधिज्ञान नष्ट हो जाता है ।

यहाँ आगे के सूत्र १७ में बताया है कि केवलज्ञान–केवलदर्शन उत्पन्न होने पर उपरोक्त पाँचों दृश्य देखने पर भी नष्ट नहीं होता है क्यों कि वह क्षायिकज्ञान उत्पन्न होने के बाद अविनाशी होता है तथा केवली के मोहनीय कर्म क्षय हो जाने से आश्चर्य-विस्मय-भय वगैरह उनके नहीं होतेहक्त । वे 'सागरवर ग भीरा' होतेहक्त । तात्पर्ययह कि साधक को साधना की सफलता के साथ तथा तप-स यम में घोर पराक्रम के साथ ज्ञानमय ग भीरता भी हासिल करना चाहिये । यह ग भीरता गुण ज्ञान अध्ययन एव स स्कार वृद्धि से पुष्टतर बन सकता है, इस बात का साधक को ज्ञान एव लक्ष्य भी रखना चाहिये ।

निबंध–७२

गच्छ में विघटन एवं संगठन के कारण

प्रस्तुत प्रकरण में स गठन और विघटन के ५-५ कारण इस प्रकार बताये हक्त– (१) आचार्य-उपाध्याय अपने गच्छ में आज्ञा एव धारणाओं का सम्यग् स चालन नहीं करे, आलस, प्रमाद, उपेक्षा करे या डरपोक वृत्ति से चले । (२) गच्छ में छोटे बडे का आपस में विनय व दन व्यवहार का सम्यग् स चालन नहीं करे । (३) सूत्र-अर्थ परमार्थ की यथासमय यथायोग्य शिष्यों को वाचना देने की सम्यग् व्यवस्था न करे अन्य कार्यों में व्यस्त रहे, योग्य जिज्ञासु शिष्यों की जिज्ञासा, चाहना, अध्ययन लागणी की स तुष्टी नहीं करे । (४) गच्छ में बिमार, नवदीक्षित साधुओं की सेवा, सार-स भाल की सम्यग् व्यवस्था नहीं करे । (५) विचारणा करने योग्य ग भीर या विवादास्पद विषयों में गच्छ के अन्य गीतार्थ बहुश्रुत स्थविर आदि से सम्यग् सलाह-विचारणा किये बिना स्वेच्छा से ही निर्णय कर ले ।

इस प्रकार से आचार्य,उपाध्याय आदि पदवीधरों की कर्तव्यनिष्ठा की कमी के कारण एव विचक्षणता–विवेक के चूक जाने से गच्छ के स गठन में, शा ति-समाधि में ठेस पहुँचती है । परस्पर क्लेश विवाद

पक्ष-विपक्ष की स्थितियों का निर्माण और क्रमशः वृद्धि होती है और एक दिन गच्छ छिन्न-भिन्न हो जाता है ।

इसके विपरीत यदि– (१) आचार्य उपाध्याय अपने गच्छ में आज्ञा धारणाओं का सम्यग् स चालन करने का लक्ष्य रखे । (२) छोटे बडे में विनय व दन व्यवहार का सम्यग् पालन करावे । (३) सूत्र-अर्थ-परमार्थ की वाचना देने-लेने की यथासमय सम्यग् व्यवस्था रखे । (४) नवदीक्षित की यथार्थ सारस भाल लेवे तथा बिमार, वृद्ध श्रमणों की सम्यग् सेवा-आराधना की व्यवस्था का ध्यान रखे । (५) कभी कोई ग भीर प्रस ग, उलझन उपस्थित हो तब गच्छ में जिम्मेदारी निभाने वाले जो भी श्रमण, स्थविर हो उन्हें पूछताछ करके, सलाह-विमर्श करके विवेक पूर्वक निर्णय करे । इस प्रकार गच्छ के पदवीधरों की बुद्धिमत्ता, विचक्षणता, सम्यग् स चालन व्यवस्था से गच्छ में सुस गठन, शा ति- समाधि एव परस्पर प्रेम-मैत्रीभाव, आत्मीयता सहानुभूति आदि की वृद्धि होती है और गच्छवासी साधकों की साधना का प्रसन्न भावों के साथ सम्यग् आराधन होता है । जिससे गच्छ का बहुमुखी विकास होता है एव जिनशासन की महती प्रभावना होती है ।

उपलक्षण से गच्छ में आचार्य-उपाध्याय के सिवाय भी अन्य पदवीधर या प्रभुत्व रखने वाले स त मनमानी करे, उपरोक्त व्यवस्था-अध्ययन, विनय व्यवहार, जिनाज्ञा का ध्यान न रखे तो भी स घ में विघटन की स्थिति पैदा होती है । अतः गच्छ में आचार्य उपाध्याय के सिवाय अन्य पदवीधर या जिम्मेदार श्रमणों को भी सूत्रोक्त व्यवस्था स चालन की सूचनाओं का सम्यग् पालन करके अपने गच्छ की, जिन-शासन की प्रतिष्ठा रखने का कर्तव्य पालन करना जरूरी बनता है ।

निबंध–७३

साधु–साध्वी एक मकान में ठहरे ?

ब्रह्मचर्य की बाढ(सुरक्षा-नियम) अनुसार साधु-साध्वी सदा अलग-अलग ही विचरण करते हक्त और अलग-अलग मकानों में अमुक सीमा मर्यादा से दूरी पर ही ठहरते हक्त, यही ध्रुव मार्ग हक्त तथापि विशेष परिस्थिति वश स यम, शील एव अन्य सुरक्षा के निमित्त से एक रात्रि या

अमुक समय तक योग्य विवेक के साथ अर्थात् योग्य साक्षी या सूचन पूर्वक एक स्थान में या एक मकान में रह सकते हक्त । प्रस्तुत प्रकरण में सूत्र–१० में उन परिस्थितियों का विवरण दिया है, यथा– (१) यदि कभी कोई अनिवार्य प्रस गवश साधु-साध्वी का निर्जन, ल बे मार्गवाली अटवी में विहार का स योग बन गया हो तो वहाँ एक ही स्थान–मकान में विवेक पूर्वक रहा जा सकता है । (२) कोई भी ग्राम-नगर या कोई भी छोटी बडी बस्ती में दोनों पहुँच गये हो तब वहाँ एक को रहने को मकान मिला हो और एक को प्रयत्न करने पर भी मकान नहीं मिला हो तो ऐसे समय में एक ही स्थान में दोनों साथ में रह सकते हक्त । (३) विहार में कभी सूर्यास्त के समय ग्रामादि निकट में नहीं हो कि तु ज गल में ही कोई भी म दिर, प्याऊ, धर्मशाला, स्कूल आदि एक ही स्थान हो और वहाँ पर एक के बाद दूसरे भी स ध्या समय पहुँच गये हों तो उस एक स्थान में दोनों साथ में रह सकते हक्त । (४) चोर लुटेरों के उपद्रव की पूर्ण शक्यता दिख रही हो तो साध्वियों के स रक्षणार्थ दोनों एक साथ ठहर सकते हक्त । (५) गु डे, बदमाशों की साध्वियों को हैरान करने की या शीलभ्रष्ट करने की शक्यता दिखती हो तो ऐसे समय साध्वियों के स रक्षणार्थ दोनों एक साथ ठहर सकते हक्त ।

ये उपरोक्त परिस्थितियाँ अनायास उपस्थित हो जाय, अशक्य अपरिहार्य स्थिति खडी हो जाय तभी की अपेक्षा समझनी चाहिये । ऐसी घटना का फिर कभी भी अनावश्यक अनुकरण या ढर्रा–पर परा नहीं चलाना चाहिये । जहाँ तक शक्य हो ध्रुवमार्ग अनुसार साधु-साध्वी को अलग-अलग ही विहार और निवास करना चाहिये ।

सूत्र–११ में कहा है कि– खेदखिन्नता युक्त चित्त से, उन्मत्तचित्त से; यक्षाविष्ट पागलपन इत्यादि से युक्त श्रमण वस्त्ररहित बनकर परेशान हो रहा हो तो ऐसे समय में निर्ग्रंथी उस निर्ग्रंथ को अ कुश में रखे, स रक्षण करे और ऐसा करते हुए उस साधु को अपने पास-साथ रखना भी पडे तो जिनाज्ञा का उल्ल घन करने वाली नहीं कहलाती । छोटी वय के बालक को साध्वी ने दीक्षा दी हो तो उसे भी साध्वी अपने साथ रख सकती है ।

यदि चित्तविभ्रम आदि से साध्वी हैरान परेशान हो तो श्रमण भी

उसका स रक्षण आदि करके उस साध्वी को अपने पास रखकर सार-स भाल कर सकते हक्त । इस प्रकार साधु-साध्वी दोनों ही प्रस ग आने पर पूर्ण हिम्मत के साथ एक दूसरे के पूरक-सहयोगी बन सकते हक्त ।

आगे सूत्र-६१ में कहा गया है कि- (१) कोई पशु-पक्षी साध्वी पर आक्रमण कर रहा हो तो साधु उस साध्वी को पकडकर या सहारा देकर बचा सकता है । (२) ऊँचे-नीचे विषम स्थान से साध्वी फिसल जाय या गिर पडे वैसे समय में साधु उसे सहारा देकर या पकडकर स भाल सकता है । (३) कीचड में या पानी में गिरती-पडती साध्वी को (४) नावा में चढती-उतरती साध्वी को साधु सहारा दे सकता है, पकडकर स भाल सकता है ।

इन आपवादिक विधानों से स्पष्ट है कि जैन स यम साधना के नियम-उपनियम दृढता वाले एव अनुशासनबद्ध होते हुए भी परिस्थिति आने पर विवेक से परिपूर्ण भी है । अव्यवहारिक से लगने वाले नियमों से भी समय पर परिपूर्ण व्यवहारिकता जुडी हुई है । साधु-साध्वी का जीवन परस्पर निकटता की अत्यधिक परहेजी वाला है , वह भी ब्रह्मचर्य की वाड रूप हितावह है । फिर भी समय प्रस ग आने पर एक दूसरे के प्रति पूर्ण आत्मीयता से भरा हुआ है। यथा- नदी में, जल प्रवाह में उतर कर बहती साध्वी को पकडकर नीकालना, का टे की तीव्र वेदना के समय परस्पर एक दूसरे के पाँव में से कुशलता पूर्वक का टा निकाल देना। पागलता से या प्रेतात्मा से पराभूत साध्वी को अग्लानभावसे पूर्ण स रक्षण देना, निय त्रण में रखना आदि व्यवहार परम पवित्रता युक्त विवेक के द्योतक हक्त।

निबंध-७४

संयम में उपकारी दस(गुरु शिष्य सिवाय)

यहाँ सूत्र-२४ में पाँच की स ख्या में विस्तार की अपेक्षा स यम में १० का उपकार, निश्रा, सहायकता स्वीकार की गई है- **(१) पृथ्वी-** खडे रहे बैठने-चलने(गौचरी-विहार आदि) में उपयोगी होती है । **(२) पानी**- वस्त्र धोना, तृषा शा त करना, शरीर की शुद्धि वगैरह, इनमें जल की उपयोगिता है । **(३) अग्नि-** खाद्यपदार्थ अग्नि पक्व ही अधिकतम

उपयोगी होते हक्त। **(४) वायु-** श्वास रूप में और गर्मी की शा ति में वायु की अत्य त आवश्यकता होती है । **(५) वनस्पति-** घास, पाट, वस्त्र, औषध आदि अनेक आवश्यक पदार्थों को देनेवाली वनस्पति भी अत्य त उपयोगी है। **(६) त्रसकाय-** पशुओं से प्राप्त दूध दही आदि, ऊन के वस्त्र, रजोहरण आदि में प चेन्द्रिय त्रसकाय उपयोगी है तथा देव मनुष्य भी स यम साधना में प्रवचन प्रभावना में उपयोगी बन्ते हक्त। **(७) गण-** गच्छ के साधु-साध्वी, शिष्य-शिष्याएँ तथा पदवीधर श्रमण, ये सभी स यम में सहयोगी एव उपकारी बनते हक्त । **(८) राजा-** जिस राज्य में राजा स यम पालन करते हुए विचरण करने देते हक्त वह राजा का उपकार गिना गया है । **(९) गृहस्थ-** श्रावक-श्राविका एव अन्य गृहस्थ भी आहार, मकान, वस्त्र आदि के प्रदाता होने से स यम में उपकारी स्वीकारे गये हक्त। **(१०) शरीर-** अपना यह मनुष्य शरीर भी स यम साधना का प्रमुख उपकारी गिना गया है, अन्य गतियों में स यम साधना का अभाव है । इस प्रकार १० की निश्रा से, आल बन से, सहकार से स यम की सफलता सुलभ बनती है ।

निबंध-७५

श्रुत अध्ययन के उद्देश्य एवं लाभ

सूत्र-५३,५४ में क्रमश: सूत्रार्थ वाचना देने के और सूत्रार्थ ग्रहण करने के ५-५ लाभ-उद्देश्य दर्शाये गये हक्त- (१) जिनशासन में श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञानियों की पर परा अविच्छिन्न चालु रहे । (२) ज्ञान और ज्ञानी की अपनी स पदा वृद्धि के लिये अर्थात् अधिकतम शिष्य ज्ञान स पन्न बने, बहुश्रुत बने एव जिससे स्व-पर तथा स घ के उपकारक बने। (३) शिष्यों के प्रति कर्तव्यपालन के साथ सहज उपकार की भावना से । (४) स्वाध्याय आदान-प्रदान में आभ्य तर तप द्वारा कर्मों की निर्जरा के हेतु से। (५) वाचना देने से अपने ज्ञान की स्मृति ताजा रहेगी एव परस्पर चर्चा विचारणा से अपना श्रुतज्ञान पुष्ट पुष्टतर बनेगा । ये वाचना देने के शुभ हेतु कहे गये हक्त। साधकों को वाचना देने में ऐसे आगमिक पवित्र हेतु अ तरमानस में रखने का लक्ष्य रखना चाहिये ।

वाचना लेने के अर्थात् श्रुत अध्ययन करने के मुख्य हेतु- (१)

अपने आगमज्ञान की वृद्धि एव पुष्टि के लिये । (२) ज्ञान की वृद्धि से सम्यग् श्रद्धा की परिपक्वता पुष्टि होगी इसलिये । (३) ज्ञानमय आचार शुद्धि हेतु अर्थात् चारित्र की सम्यग् आराधना में आगमज्ञान अत्य त उपकारक होता है । अत: चारित्राराधनार्थ भी सदा अध्ययनशील रहे । (४) शास्त्रों का विशाल ज्ञान करके उसे सम्यग् परिणमन करने वाला स्व-पर को कदाग्रह, व्युद्ग्रह से सुरक्षित करने में समर्थ बनता है और सही मार्ग का, सही तत्त्व का, आगमाधार से युक्तिपूर्वक निर्णय करने वाला बनता है ।अत: व्युदग्रह-कदाग्रह से सुरक्षित रहने के लिये एव अन्य को रख सकने की योग्यता हाँसिल करने के लिये । क्यों कि आगमज्ञान वृद्धि, अनुभव वृद्धि से व्यक्ति अनेक उलझनों को सुलझाने में समर्थ बनता है । (५) आगमों का बार बार स्वाध्याय, वाचना, विचारणा से वास्तविक गूढार्थ रहस्यों की उपलब्धि होती है । इसलिये साधक को निर तर श्रुत अध्ययन में लगे रहना चाहिये । इस प्रकार इन दो सूत्रों से १० बोलों में श्रुत अध्ययन के उद्देश्य एव अनुपम लाभ के अनेक मुद्दे स ग्रहित किये गये हक्त ।

निबंध-७६

महीनों में ६ तिथि का घट-वध होना

प्रस्तुत सूत्र-८८, ८९ में बताया है कि वर्ष में ६ तिथियाँ घटती है और ६ तिथियाँ बढती है ।

आगम में स वत्सर, महीने पाँच प्रकार के कहे हक्त उनमें से ३० दिन का महीना और ३६० दिन का वर्ष ऋतु स वत्सर की अपेक्षा होता है। इस ऋतु स वत्सर की अपेक्षा सूर्य स वत्सर में ६ दिन बढते हक्त और चन्द्र स वत्सर में ६ दिन कम होते हक्त अर्थात् सूर्य स वत्सर ३६६ दिन का होता है और चन्द्र स वत्सर ३५४ दिन का होता है । यह स्थूल गणित से समझना । सूक्ष्म गणित से कुछ मिनट आदि न्यूनाधिक हो सकते हक्त उसे परिपूर्ण ६ दिन स्वीकार लिया जाता है ।

यह तिथि घट-वध का यहाँ स क्षिप्त कथन है । लौकिक प चा ग में च द्र स वत्सर में तिथि स कलना की विधि कुछ भिन्न है । उसमें वर्ष में १४ तिथि घटाई जाती है और ८ तिथि बढाई जाती है । सरवाला

मिलाकर ६ तिथि घटना आगम से सुमेल हो जाता है । अर्थात् लौकिक प चा ग अनुसार भी आगमोक्त ३५४ दिन का च द्र स वत्सर हो जाता है । सूर्य स वत्सर की अपेक्षा प चा ग में तारीख लिखी जाती है। उसमें भी वर्ष में ६ दिन ऋतु स वत्सर की अपेक्षा अधिक होते हक्त। जनवरी से दिसम्बर तक ३६६ दिन हो जाते हैक्त। इस तरह आगमोक्त ६ तिथि बढने का भी सुमेल हो जाता है ।

प्रस्तुत सूत्र में किस महीने के किस पक्ष में तिथि घटती-बढती है उनका भी खुलाशा किया गया है, यथा- भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन, वैशाख और आषाढ महीनों के कृष्ण पक्ष में च द्र स वत्सर में तिथि घटती है और सूर्य स वत्सर में इन्हीं महीनों के शुक्ल पक्ष में तिथि बढती है । यहाँ पर तिथि का नाम स्पष्ट नहीं किया गया है । तिथि बनाने स ब धी सूक्ष्म गणित विवरण जैनागमों में उपलब्ध नहीं रहा है । जो भी ज्योतिष स ब धी वर्णन उपलब्ध है वह प्रकीर्ण रूप से है परिपूर्ण विस्तृत सूक्ष्म-आ तरसूक्ष्म गणित फलावट विच्छिन्न है तथा लौकिक प चा गके प्राय: विधान आगम के स केत विधानों के पूरक ही है, विरोधी नहीं है । आज से १२००-१३०० वर्ष पूर्व भी यही स्थिति थी; अनेक आचार्योंने विचारणा करके पर्व-तिथियों के निर्णय में लौकिक प चा ग को स्वीकार्य, मान्य किया था । जिसकी आधारित गाथा इस प्रकार है- ***विसमे समय विसेसे, करण गह चार वार रिक्खाण । पव्व तिहीण य सम्म , पसाहग विगलिय सुत्त ॥१॥ तो पव्वाइ विरोह नाऊण, सव्वेहिं गीय सूरिहिं । आगम मूलमिण पि य, तो लोइय टिप्पणय पगय ॥२॥***

प्रस्तुत गाथाओं का हार्द यह है कि समय की विषमता के कारण पर्व तिथियों का सम्यक् निर्णायक आगमश्रुत विच्छिन्न(कम) हो गया अर्थात् अपूर्ण रह गया है । जिससे आगमाधार से पर्वादि के स योजन में बराबर सुमेल नहीं हो पाता । अत: लौकिक प चा ग भी आगम के मौलिक सिद्धा तो के पूरक ही है ऐसा मान कर अनेक गीतार्थ, बहुश्रुत आचार्यों ने मिलकर लौकिक प चा ग को ही अपने पर्व तिथियों वगैरह के निर्णय के लिये स्वीकार्य किया है । इसीलिये आज भी लौकिक प चा ग अनुसार ही तिथियों का स्वीकार किया जाता है । मात्र गुजरात प्रा तीय

श्रमण अपना जैन प चा ग अज्ञात समय से स्वत त्र बनाने लगे हक्त । वे भी मौलिक आधार सहयोग तो लौकिक प चा ग का लेते ही हक्त ।

निबंध-७७

आयुष्य कर्म में घट-वध संभव

आयुष्य कर्म दो प्रकार का बा धा जाता है-सोपक्रमी और निरुपक्रमी । (१) सोपक्रमी का मतलब ही यही के कि जो कभी भी निमित्त मिलने से टूट सकता है और कोई निमित्त नहीं मिले तो पूरा भी चल सकता है । (२) निरुपक्रमी का मतलब स्पष्ट है कि उसमें कोई भी निमित्त से उपक्रम से घट-वध नहीं होती है, जितना आयुष्य बा धकर जीव लाया है उतना पूरा चलेगा । वास्तव में आयु टूटने की, टूट सकने की बात सत्य है, सोपक्रमी आयुष्य टूट सकता है । वह कब टूटता है, इसकी एक सीमा है कि जितना सोपक्रमी आयु जीव बा ध कर लाया है उसका दो तृतीयाँश भोग लेने के, व्यतीत हो जाने के बाद ही कभी भी आयु टूट सकता है, उसके पहले नहीं टूटता है । यथा- कोई व्यक्ति ९० वर्ष का सोपक्रमी आयुष्य बा धकर लाया है तो वह ६० वर्ष की उम्र तक नहीं टूटेगा । उसके बाद कभी भी कोई भी निमित्त मिले तो टूट सकता है और निमित्त नहीं मिले तो वह सोपक्रमी आयुष्य भी पूरा ९० वर्ष तक चल जाता है । यहाँ सूत्र में सोपक्रमी आयुष्य के टूटने के ७ कारण दर्शाये हक्त- (१) परिणामों से- भय से या तीव्र रागद्वेष के परिणामों से । तीव्र हर्ष-शोक के परिणामों से । (२) शस्त्र आदि के निमित्त से, आत्मघात करने के प्रयत्न से । (३) आहार से- अतिआहार से या आहार त्याग से । (४) रोग की तीव्र वेदना से । (५) गिरने पडने या टक्कर लगने से । (६) सर्प काटने से या अन्य हिंसक पशु के भक्षण आदि से । (७) श्वास निरोध करने से । अन्य भी अनेक प्रकार हो सकते है उनका इन ७ में समावेश समझ लेना चाहिये।

निरुपक्रमी आयुष्य बा धकर लाने वाले का आयुष्य ऐसे किसी भी निमित्तों से नहीं टूटता है । कभी काकताली न्याय लग सकता है यथा गजसुकुमाल मुनि । यहाँ विशेष यह ज्ञातव्य है कि चरम शरीरी जीव, चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि ६३ श्लाघा पुरुष, युगलिक मनुष्य, देवता,

नारकी ये सभी निरुपक्रमी आयुष्य वाले ही होते हक्त । उसके सिवाय के जीव दोनों प्रकार के आयुष्य वाले होते हक्त । उनमें कौन कैसा आयुष्य लाया है यह छद्मस्थ के जानने का विषय नहीं है, विशिष्ट ज्ञानी, केवलज्ञानी ही उसे जान सकते हक्त ।

विशेष-ओघ प्रवाह के कथन से, रूढ शब्दप्रयोग से आयुष्य में घट-वध होना कहा जाता है परंतु वास्तव में सत्य यह है कि आयुष्य में कम होना संभव है अधिक नहीं होता । अर्थात् आयुष्य कभी बढ नहीं सकता है।

निबंध-७८

सात निह्नवों के सिद्धांत और समाधान

जो तीर्थंकरों द्वारा प्ररुपित तत्त्व को अपने मिथ्याभिनिवेष के वशीभूत होकर नहीं स्वीकारे, उसे मिथ्या कहे या उसमें अपनी बुद्धि तर्क के अह से हीनाधिक प्ररूपण करे, तीर्थंकर की या आगम गु थन करने वाले गणधरों की या आचार्यों की भूल होना कहे और अपने मनमानी प्ररुपण, प्रचार, मतप्रवर्तन एव स्वच्छ द आचरण करे, ऐसे लक्षणों वाला निह्नव कहा जाता है । इस स्थान के सूत्र-१३१ में ऐसे ७ निह्नवों के नाम, उनकी मान्यता और उनमें निह्नवता उत्पत्ति का या प्रवर्तन स्थल का नाम सूचित किया है । व्याख्या में उन सातों निह्नवों की घटना कथा का विस्तृत वर्णन है ।

सात निह्नव-

नाम	विषय	समय
१ जमाली	कार्यप्रतिक्षण नहीं होता	भगवान महावीर के केवलज्ञान के १४ वर्ष बाद
२ तिष्यगुप्त	जीव के चरम प्रदेशमें ही जीवत्व	वीरनिर्वाण १४ वर्ष बाद
३ आषाढ	सबकुछ अव्यक्त	वीरनिर्वाण २१४ वर्ष बाद
४ अश्वमित्र	सबकुछ क्षणिक विनाशी	वीरनिर्वाण २२० वर्ष बाद
५ ग ग	एक समय में दो क्रिया का अनुभव	वीरनिर्वाण २२८ वर्ष बाद

६ षडुलूक (रोहगुप्त)	जीव, अजीव, मिश्र तीन राशि	वीरनिर्वाण ५५४ वर्ष बाद
७ गोष्ठामाहिल	कर्मबद्ध नहीं, स्पृष्टमात्र	वीरनिर्वाण ५८४ वर्ष बाद
वीरनिर्वाण और गणधरों के निर्वाण के बाद हुए श्रमणों के ये नाम देवर्द्धिगणि द्वारा किये गये लेखन के समय इस शास्त्र में सपादित हुए होंगे, ऐसा समझ लेना चाहिये ।		

सातों के मत और समन्वय-समाधान- (१) कार्य मात्र अ त में होता है करते समय कार्य नहीं होता है, पूर्ण हो जाने पर कार्य होता है, यथा- वस्त्र बनाना चालु है तब तक वस्त्र नहीं होता है पूरा बनने पर वस्त्र कहा जाता है, अत: अ त में ही कार्य होता है यह सत्य है । जब कि भगवान का सिद्धा त है किये जाने के प्रत्येक क्षण देशत: वह कार्य होता ही है उस लक्षित स पूर्ण कार्य की पूर्णता अ त में होती है तो अन्य समयों में भी कार्य का अ शत: होना स्वीकारना ही चाहिये । अ शत: होगा तभी पूर्णता को प्राप्त होगा । (२) जीव के अ तिम प्रदेश शरीरमें से निकलते हक्त तब तक उसमें हलन-चलन जीवत्व देखने में आता है उसे देख कर कोई मान ले कि वास्तव में अ तिम प्रदेशों में ही जीवत्व है अन्य में नहीं, क्यों कि उनके निकल जाने पर भी अ तिम प्रदेशों के अस्तित्व से जीवत्व लक्षण दिखतेहक्त; तो यह प्ररूपणा मात्र एका तिक और मूर्खता पूर्ण एव अज्ञान-मिथ्यात्व के नशे का कथन है ।सभी आत्मप्रदेशों में और स पूर्ण शरीर में व्याप्त जीव में सर्वत्र चेतनत्व जीवत्व शक्ति होती है इसलिये कोई भी चरम मध्यम आदि के प्रदेश हों, वे जब तक शरीर में रहेंगे तब तक उन सभी से चेतनत्व गुण हलन-चलन आदि रहेंगे ।

(३) सब कुछ स देहशील है, कौन साधु है और कौन देवता आकर साधु के शरीर में है, इसका निर्णय नहीं हो सकता । अत: कोई किसी को साधु समझना व दन करना योग्य नहीं है । इसका समाधान यह है कि कभी कोई घटना घटित हो जाय, धोखा हो जाय तो भी सावधानी वर्ती जाती है कि तु सारा व्यवहार ब द नहीं कर दिया जाता है । यथा- कभी कोई भोजन से विष परिणमन हो जाय या कोई व्यापार में नुकशान धोखा हो जाय तो सारे मानव सभी व्यापार या खाना ब द नहीं करेंगे । एक नौकर विश्वास जमाकर धोखेबाजी करके भाग जाय तो कभी कोई नोकर रखे

ही नहीं ऐसा नहीं होता कि तु सावधानी अनुभव बढाकर सभी कार्य यथायोग्य किये जाते हक्त। अत: एक देव साधु रूप में ६ महीना शरीर में रह गया तो सभी साधुओं का व्यवहार ब द कर देना, सदा स देहशील ही बने रहना, ऐसा करना उचित नहीं है ।

(४) प्रत्येक वस्तु की पर्याय क्षण विनाशी होती है, परिवर्तित होती रहती है, उसे उतने रूप में ही न मान कर प्रत्येक द्रव्य को ही क्षण विनाशी मान लेना कि पर्याय भी तो द्रव्य की ही है, अत: सभी द्रव्य (पदार्थ)क्षणविनाशी है और दूसरे नूतन उत्पन्न हो जाते है । यह भी मिथ्यात्व-अज्ञान के उदय के जोर से भ्रमित मान्यता है । वास्तव में पर्याय का स्वरूप अलग है, द्रव्य का अस्तित्व अलग है । यथा- सोने के एक आभूषण से दूसरा तीसरा आभूषण बना लेने पर भी सोना विनष्ट नहीं होता है । वैसे ही पर्याय के बदलने पर, नष्ट होने पर भी द्रव्य शाश्वत या दीर्घ पर्याय में रह सकता है, उसका क्षण में नष्ट होना एका त रूप से मान लेना योग्य नहीं है । यथा- कोई साधु बना तो एक समय बाद उसका साधुत्व नष्ट नहीं होगा, जीवनभर भी उसका साधुत्व रहता है कि तु उसकी पर्याय, स्वरूप परिवर्तित होते रहते हक्त । इस निह्नव की मान्यतानुसार तो दूसरे समय कोई साधु ही नहीं रहता है । वास्तव में वैसा मानना अनुभव या व्यवहार से विरूद्ध होता है ।

(५) एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव होता है । भगवान का सिद्धा त यह है कि स्थूल रूप से भले एक समय में अनेक क्रिया होती दिखती है तथापि सूक्ष्म १ समय में आत्मा एक ही क्रिया का अनुभव करता है । एक समय में एक ही उपयोग होता है । अपना क्षायोपशमिक ज्ञान अस ख्य समय के अ तर्मुहूर्त का होता है अर्थात् हमारी ग्रहणशक्ति सूक्ष्म समय की नहीं होती है, अस ख्य समय के अ तर्मुहूर्त प्रमाण ही हमारी उपयोग क्षमता होती है । स्वय तीर्थंकर भी अपने अवधिज्ञान से अपने वाटे वहेता के १, २, ३ समय के काल की क्रिया का अनुभव नहीं करते है, अ तर्मुहूर्त का गर्भ स हरणकार्य जो देव द्वारा क्षण मात्र में किया जाता है उसे अवधिज्ञानी तीर्थंकर जानते देखते हक्त क्यों कि वह हमारी दृष्टि से देव क्षणभर में करता है कि तु वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से अस ख्य समय

देव को भी लग जाता है । अत: सार यह है कि १ समय में अनेक क्रियाएँ साथ में हो सकती है कि तु जीव को एक समय में अनुभव या उपयोग एक ही क्रिया का होता है । पानी में धूप के स्थान पर खडे व्यक्ति को गर्मी-ठ डी दोनों का अनुभव स्थूल दृष्टि से एक साथ होता है, लगता है कि तु सूक्ष्म दृष्टि से आत्मउपयोग परिवर्तित होता रहता है। अनेक सूक्ष्म अस ख्य समय के अ तर्मुहूर्त इकट्ठे होने पर १ सेक ड होता है ऐसा समझ लेने पर यह सहज समझ में आ सकता है कि गर्मी के आत्म अनुभूति का(उपयोग का) अ तर्मुहूर्त अलग होता हक्त और सर्दी के आत्म अनुभूति का (उपयोग का) समय अलग होता है । यथा– हम कुछ सुनने में या देखने में या बोलने में तल्लीन है तब कोई वहाँ आकर चला जावे या कुछ बोलकर रुक जावे तो हमारा ध्यान अन्य में होने से वे रूप आँखों से पसार होने पर भी, वे शब्द कान में पडते हुए भी हमें उनका कुछ भी ज्ञान नहीं होता है । वैसे ही जीव के उपयोग सूक्ष्म अस ख्य समय के अ तर्मुहूर्त के एक-एक वस्तु में, क्रिया में ही रहते हक्त । क्रियाएँ शरीर में, आत्मा में भले एक साथ अनेक भी चलती रहे। यथा– हम जब बोलते हक्त तब लिखते भी है, देखते भी है, सुनते भी है; इन्द्रियाँ कोई ब द नहीं हो जाती है, उस समय मु ह में खाद्यपदार्थ है तो उसका रसास्वाद भी ले रहे हक्त; फिर भी आत्मउपयोग कोई तरफ मुख्य, कोई तरफ गौण होता रहता है, जो सूक्ष्म अ तर्मुहूर्त प्रमाण १-१ विषय का ही होता है । यह स्पष्ट ध्रुव सिद्धा त जिनमत का है ।

(६) छिपकली पू छ टूट जाने पर छिपकली अपना जीव लेकर भाग जाती है तो भी पू छ में हलनचलन दिखता है, वह अजीव भी नहीं है, जीव भी नही है अत: तीसरी वस्तु **नोजीव नोअजीव** भी है । इस तरह लोक में तीन पदार्थों की राशि है– जीवराशि, अजीवराशि और नो जीव नो अजीव राशि । यह छट्ठे निह्नव का मत है । जैन मतानुसार राशि दो ही है–जीवराशि और अजीव राशि ।अजीवराशि में जीव रहित समस्त पुद्गल और धर्मास्तिकाय आदि तत्त्व ग्रहित होते हक्त । जीव राशि में शरीर युक्त स सारी और शरीर मुक्त सिद्ध सभी का समावेश है तथा छिपकली के आत्मप्रदेश, कटी हुई पू छ में भी स लग्न ही रहते है । जब

तक वे स लग्न आत्मप्रदेश पूंछ में रहते हक्त तब तक वह हिलती है । थोडे समय बाद वे समस्त आत्मप्रदेश छिपकली के मूलशरीर में चले जाते है तब वह विभाग पूर्ण जीवरहित अजीव राशि में गिना जाता है, अत: तीसरी राशि कहना योग्य नहीं है ।

(७) जिस तरह १. सूखी दिवाल पर सूखी रेत लग जाय वह शीघ्र हवा लगने आदि से दूर हो जाती है वैसे ही कुछ कर्म आत्मा को अल्प स्पर्श करते हक्त वे शीघ्र नष्ट हो जाते हक्त । २. गीली दिवाल पर सूखी रेत लग जाय तो थोडे समय बाद या थोडे श्रम से निकल जाती है वैसे कुछ कर्म आत्मा को स्पर्श करते हुए ब धते है वे थोडे समय बाद काला तर से क्षय हो जाते हक्त । ३. जिस प्रकार गीली मिट्टी गीली दिवाल पर जोर से फेंकने पर चिपक जाती है और सूखने पर दिवाल से सहज नहीं निकलती है वैसे ही कुछ कर्म आत्मप्रदेशों को स्पर्श करते हुए गाढ रूप से ब ध जाते है वे दीर्घकाल के बाद स्थिति पूर्ण होने पर क्षय होते हक्त । इस प्रकार सभी तरह के कर्म, स्पर्श मात्र से आत्मा के साथ लगते हक्त । आत्मा के सभी प्रदेशों में एकमेक रूप से ब धते नहीं हक्त, यह सातवें निह्नव का कथन है । वास्तव में कर्म आत्मा के साथ सभी प्रदेशों में एकीभूत रूप में ब ध कर रहते है तथापि उनका अपना अस्तित्व अलग रहता ही है, यथा– लोहे का गोला अग्नि में तपाकर लाल-चोल कर दिया हो, लोहे के कण-कण में अग्नि एक-मेक हो गई हो फिर भी यथासमय लोहा और अग्नि अलग हो सकते हक्त । लोहपिंड में से अग्नि समाप्त हो जाती है वैसे ही कर्म आत्माप्रदेशों में एकमेक होकर रहते हुए भी एक समय स्थिति पूर्ण होने पर अलग हो जाते हक्त और एक दिन स पूर्ण कर्मों का क्षय होकर कर्म रहित आत्मा सिद्ध स्वरूपी बन जाती है; जिस तरह कि स पूर्ण अग्नि शा त हो जाने पर शुद्ध लोहे का गोला अपने अस्तित्व में अग्नि रहित दशा में हो जाता है । इन सात निह्नवों में से जमाली, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल ये तीनों क्रमश: पहले छट्ठे सातवें निह्नव जीवनभर अपने आग्रह युक्त मत में रहे थे । शेष चार निह्नवों ने किसी के द्वारा बोध पाकर आलोचना-प्रायश्चित्त करके भगवान के शासन का स्वीकार कर लिया था ।

आज भी जो लोग अपनी बुद्धि का या तर्क का अह करते हुए

जिनेश्वर भाषित आगमानुमत कोई भी तत्त्व या सिद्धा त को अपनी स्वच्छ द मति से अस्वीकार करते हक्त और तदनुसार प्ररूपण करते हक्त, वे भी निह्नव की कोटी में गिने जाने के योग्य बनते हक्त । यथा- १. कोई कहे कि- पानी, अग्नि को जीव कहना अयथार्थ है । २. कोई निर्जीव पानी आदि पुनः सचित्त होने की उपेक्षा करते हुए कहे कि मुर्दे भी कभी जीवित होते हक्त ? अर्थात् नहीं होते । तो अचित्त पानी कभी भी सचित्त नहीं हो सकता । उसे सचित्त कहना गलत है । ३. कोई कहते हक्त कि स यम साधना से केवली बन जाने पर उनको सभी धर्म तत्त्वों का ज्ञान भले मानो पर तु सारी दुनिया के कीडों को देखने गिनने की बात व्यर्थ है, सारे जगत के पापियों को देखने से क्या मतलब है, ऐसा सब खराब अच्छा जानने देखने से केवली को कोई मतलब नहीं है और वैसा सर्वज्ञ का अर्थ करना वह भी मात्र अतिशयोक्ति है, इत्यादि । आज के अपने को ज्यादा विद्वान मानने वाले आगम तत्त्वों की उपेक्षा करके स्वमति के अह से ज्यों त्यों प्ररूपणा करे तो वह उनकी अज्ञानदशा ही समझनी चाहिये, वे लोग निह्नव की कोटि में गिने जावेंगे । वास्तव में आगम तत्त्वों को सर्वोपरी प्रामाणिक मानकर श्रद्धापूर्वक समझने का ही प्रयत्न करना चाहिये पर तु खोटी मनमानी प्ररूपणा के मीठे लुभावने चक्कर में नहीं आना चाहिये । सात निह्नवों की घटनाओं का कथानक अन्यत्र से जानना चाहिये ।

निबंध-७९

आयुर्वेद के आठ शास्त्र

यहाँ सूत्र-३० में बताया गया है कि आयुर्वेद के आठ शास्त्र होते हक्त-(१) कुमारभृत्य शास्त्र- इसमें बालकों की सार-स भाल और बालरोगों की चिकित्सा बताई गई है । (२) कायचिकित्सा शास्त्र- इसमें बुखार, कोढ वगेरे शारीरिक रोगों का, कान, नाक, मुख के रोगों का अनेकविध इलाज बताया गया है । (३) शालाक्य शास्त्र- इसमें लोह शलाका गर्म करके उसके द्वारा इलाज करने का विधान है । (४) शल्यहत्या शास्त्र- इसमें शरीर में लगे तीर, भाला आदि का उपचार एव ओपरेशन वगेरे शल्य चिकित्सा का वर्णन है । (५) ज गोली शास्त्र-इसमें सर्प, बिच्छु आदि के विष स ब धी चिकित्सा का वर्णन है । (६) भूतविद्या शास्त्र- इसमें

प्रेतात्मा के कष्ट स ब धी चिकित्सा, उपसर्ग के उपशमन शा तिकर्म आदि का वर्णन हक्त । (७) क्षारत त्र शास्त्र- इसमें भस्म, पिष्टी आदि द्वारा शारीरिक बलवृद्धि की चिकित्सा बताई है । (८) रसायन शास्त्र- इसमें रसधातु या कल्प, परपटी आदि चिकित्सा का वर्णन हक्त । ये ग्र थ वैद्यों के पास, बडे पुस्तक विक्रेताओं के पास एव विशाल सार्वजनिक पुस्तक भ डारों में मिल सकते हक्त ।

निबंध-८०

चैत्यवृक्ष और कल्पवृक्ष का ज्ञान

आगमों में दो प्रकार से चैत्यवृक्ष का वर्णन है- (१) तीर्थंकरों को जिस वृक्ष के नीचे केवलज्ञान-केवलदर्शन की उत्पत्ति होती है उसे चैत्यवृक्ष कहा गया है, ये २४ तीर्थंकरों के २४ चैत्यवृक्ष अलग-अलग जाति के समवाया ग सूत्र में बताये हक्त । (२) प्रस्तुत में दूसरे प्रकार के चैत्यवृक्ष व्य तर देवों की अपेक्षा कहे गये हक्त । ये वृक्ष देवों के चित्त को प्रसन्न करने वाले, उनकी अपनी पस द के अलग-अलग प्रकार के होते हक्त। यथा- १. पिशाच के कदम्ब वृक्ष, २. यक्ष के वट वृक्ष, ३. भूत के तुलसी, ४. राक्षस के क डक, ५. किन्नर के अशोकवृक्ष, ६. कि पुरुष के च पक, ७. महोरग के नागवृक्ष, ८. ग धर्व देवों के तिंदुकवृक्ष । इस प्रकार यहाँ आठ व्य तर जाति के देवों के प्रिय वृक्षों को चैत्यवृक्ष कहा गया है । ये देव मनुष्य लोक में भ्रमण करते हुए इन वृक्षों पर अल्प कालीन निवास करते हक्त और मानव लोगों से अपनी कुतूहल प्रकृति का पोषण करते रहते हक्त । जैसे बच्चे कुछ समयसर खेलकूद मनोर जन के लिये क्रीडास्थानों में जाते हक्त, भ्रमण करते हक्त, मनोविनोद करते हक्त और फिर अपने घर आ जाते हक्त वेसे ही ये देव भी मानव लोक में पुनः पुनः आते रहते हक्त । इन सभी देवों को अवधिज्ञान तो होता ही है कि तु अल्प सीमा वाले अवधिज्ञानी और अल्प उम्र वाले देव ही कुतूहल वृत्ति से मानवलोक में भ्रमण करते हक्त अर्थात् १०-२०-४०-५०-६०-८० हजार वर्ष की उम्र वाले । अधिक उम्र वाले और अधिक सीमा के अवधिज्ञान वाले निष्कारण यहाँ मानवलोक में नहीं भटकते हक्त । जैसे कि बालवय के बाद व्यक्ति खेलकूद मनोर जन से निवृत्त हो जाते हक्त और अपने

स सार व्यवहार में लग जाते हक्त । वैसे ही प्रौढ उम्र के देव ग भीरता से अपने स्थान में प्राप्त सुखभोगों में लीन रहते हक्त ।

देवलोक में देवों के चैत्यवृक्ष या कल्पवृक्ष :- इस सूत्र के आठवें स्थान में आठ व्य तर देवों के आठ चैत्यवृक्ष कहे हक्त और दस भवनपति देवों के दस चैत्यवृक्ष प्रस्तुत दसवें स्थान के सूत्र-७४ में कहे हक्त ।तीसरे स्थान के सूत्र-२३ में कहा है कि अपने कल्पवृक्ष की का ति फीकी-झा खी लगने से देवों को अपने च्यवन(मृत्यु) होने का ज्ञान हो जाता है ।

इन वर्णनों से ऐसा ज्ञात होता है कि देवों की सुधर्मासभा के बाहर पृथ्वीकाय के चबूतरे सहित रत्नमय वृक्ष होते हक्त । भवनपति एव व्य तर जाति के देवों के इन वृक्षों को चैत्यवृक्ष कहा गया है। ये वृक्ष देवों के चित्त को आन दित करने वाले होने से चैत्यवृक्ष कहे जाते हक्त । भवनपति व्य तर देवों में इन सभी चैत्यवृक्षों के नाम जो पीपल आदि कहे गये हक्त वे उन देवों के अपने पस दगी को प्रगट करते हक्त । वहाँ उन जाति के वे वृक्ष पृथ्वीकाय के होते हक्त और शाश्वत होते हक्त । तथा उन-उन देवों के मुकुट में एव वस्त्रों में भी अपने उस पस दगी के वृक्ष चिन्हित होते हक्त ।

ज्योतिषी वैमानिक देवों के चैत्यवृक्षों का कथन यहाँ नहीं आया है । उन देवों के च्यवन होने के ज्ञानस ब धी सूत्र में कल्पवृक्ष का कथन है । **च्यवन** रूप मरण शब्द प्रयोग शास्त्र में ज्योतिषी वैमानिक के लिये ही होता है ।अत: यह स्पष्ट हुआ कि चारों जाति के देवों के ये वृक्ष होते है उसमें भवनपति-व्य तर देवों के वृक्ष को चैत्यवृक्ष कहा गया है और उनकी एक-एक वृक्षजाति(पीपल आदि) नाम भी होता है । ज्योतिषी वैमानिक के इन वृक्षों को मात्र कल्पवृक्ष कहा गया है, अत: उन सभी के एक ही जाति के कल्पवृक्ष रूप वृक्ष होते है । ये भी रत्नों की अद्भुत का ति शोभा से युक्त होते है और उन देवों को परम आह्लादकारी होते हक्त । स्थान ३-१-३२ में चैत्यवृक्ष चलित होना कहा है। ३-३-२३ में **कप्परुक्खग मिलायमाण** कहा है, यहाँ की व्याख्या-टीका में लिखा है कि **कप्प रुक्खग ति चैत्यवृक्ष =कल्पवृक्ष का मतलब चेत्यवृक्ष । अर्थात् ये दोनों एक ही है । भवनपति व्यंतर देवों के वृक्षों की चैत्यवृक्ष संज्ञा है और ज्योतिषी वैमानिक देवों के वृक्षों की**

कल्पवृक्ष संज्ञा है ।

मृत्यु समय में देवों के अपने अपने इन वृक्षों की, शरीर की और वस्त्राभरणों की का ति-शोभा मुरझाई हुई दिखती है अर्थात् चमक फीकी लगने लगती है । दश भवनपति के दश चैत्यवृक्षों के नाम क्रमश: इस प्रकार है-(१) अश्वस्थ(पीपल) (२) सप्तपर्ण (३) शाल्मली (४) उम्बर (५) शिरीष (६) दधिपर्ण (७) अशोक(ब जुल) (८) पलाश (९) लाल एर ड (व्याघ्र) (१०) कनेर ।

निबंध-८१

रोग उत्पन्न होने के ९ कारण

स्वय मानव की गलती से, विवेक ज्ञान एव योग्य आचरण नहीं रखने से रोगोत्पत्ति हो जाती है, इसके लिये प्रस्तुत स्थान के सूत्र-१२ में नव कारण कहे हक्त । यथा-

(१) भोजन की अधिकता से- भोजन की अधिकता अनेक प्रकार से हो सकती है- एक ही बार में मनपस द वस्तु या होडाहोड में अत्यधिक खाना; शरीर, पेट की तरफ से अनेक स केत मिलने पर भी खाते रहना; जरुरत बिना, भूख बिना, इच्छा मात्र से या अन्य की इच्छा से बार बार खाना; एक साथ अनेकों पदार्थ-द्रव्य खाना कि जिससे कभी कोई पदार्थ विरोधी स्वभाव के भी खाने में आ जाय । अत: सीमित द्रव्य, कम मात्रा में एव कम बार, भूख लगने पर या शरीर की आवश्यकता लगने पर खाना, यह निरोग-रोग रहित रहने का सु दर उपाय है ।

(२) अधिक बैठने से या अधिक खडा रहने से- शरीर के सम्यग् स चालन के लिये अ गोपा गों का हलन-चलन होते रहना चाहिये । किसी भी एक आसन से घ टो तक ज्यों का त्यों रहने से कभी शरीर की प्रक्रियाओं का सम्यग् स चालन न होने से अर्थात् उसमें अवरोध पैदा होने से अ गोपा गों में, नशों में, हड्डियों के जोडों में परेशानी उत्पन्न हो सकती है, अत: आसन का विवेक रखना चाहिये ।

(३-४) अति निद्रा, अति जागरण- स्वस्थ रहने के लिये विश्राम-निद्रा की आवश्यकता होती है, कि तु उसकी भी मर्यादा रखनी जरूरी होती है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने श्रम-जीवन के अनुकूल एव अवस्था के अनुकूल समय प्रमाण सोने का विवेक रखना चाहिये । २-३ वर्ष तक के बच्चों के लिये कोई नियम नहीं बनता है । विद्यार्थी जीवन में सामान्यतया ६ घ टे न्यूनतम एव १० घ टे अधिकतम समझना चाहिये । युवा–प्रौढ अवस्था में ६ घंटे न्यूनतम एव ८ घंटे अधिकतम सोना स्वास्थ्यप्रद रहता है । आत्म साधना में रत साधकों के लिये उनके निर तर के अभ्यास और मानस परिणति के अनुसार एक प्रहर तीन घ टे की निद्रा-शयन से भी विशिष्ट साधकों का काम चल सकता है, सामान्य तौर से दो प्रहर छ घ टे की निद्रा–शयनरूप विश्राम भी अनेक साधकों के लिये पर्याप्त होता है। अतिश्रम, विहार आदि कारणों से अधिकतम आठ घ टे शयन–निद्रा कदाचित्क हो सकते हक्त । खास करके साधनाशील साधकों को अधिकतम अप्रमत्त दशा में स्वाध्याय ध्यान में लीन रहना होता है तथापि न्यूनतम तीन घ टे विश्राम-निद्रा करना औदारिक शरीर स्वभाव से उनको भी योग्य होता है । तीर्थंकर सरीखे विशिष्ट साधकों के लिये निद्रा लेने का कोई न्यूनतम नियम भी नहीं होता है ।

सामान्य मानव को कभी १–२ दिन-रात निद्रा न करके जागरण करना आवश्यक हो जाय तो भी शरीर स चालन चल सकता है अति जागरण भी निर तर हो जाने से अनेक रोगोत्पत्ति के कारण बन सकते हक्त। अति निद्रा लेने से भी शरीर के आवश्यक स चालनों में अधिक अवरोध होता है वह भी स्वास्थ्य के लिये क्षम्य नहीं होता है । पाचन शक्ति के व्यवस्थित स चालन के लिये शरीर के हलनचलन आदि की अनेक प्रक्रियाएँ आवश्यक होती है, अधिक सोने से उनमें अव्यवस्था होती हक्त, जो रोगोत्पत्ति में निमितभूत बनती है । अत: सार यह है कि विवेक युक्त योग्य मर्यादा का ध्यान रखते हुए ही निद्रा एव जागरण किया जाना निरोग रहने के लिये श्रेयस्कर होता है ।

(५–६) मल-मूत्र की बाधा को रोकने से– स्वस्थ शरीर में पाचनत त्र की सु दरता से मलमूत्र का विसर्जन स केत स्वत: हो जाता है उसमें कुछ सीमित समय अवधारण की सहज क्षमता शरीरावयवों की होती ही है। शरीर बाधा को अधिक रोकने से अनेक विचित्र रोग उत्पन्न हो सक्तेहक्त,

अत: व्यक्ति को अपने शरीर स्वभाव और समयानुसार शौच निवृत्ति की या लघुश का निवृत्ति की सुविधा का ध्यान अवश्य रखना चाहिये । साधुजीवन में गमनागमन के कार्य प्राय: दिन में करने के होते हक्त तथापि शारीरिक बाधा कहाँ कब हो जाय इसके लिये शास्त्र में पहले से ही स्पष्ट सूचना की गई है कि साधु जहाँ भी रहे, वहाँ आसपास में मल-मूत्र विसर्जन की, परठने की जगह का आवश्यक रूप से निरीक्षण-प्रतिलेखन कर लेवे ।

(७) अति चलने से– शरीर की अपनी क्षमता होती है उसका ध्यान रखकर मर्यादा युक्त ही चलना चाहिये । इसकी मर्यादा प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता अभ्यास के अनुसार होती है । अत: बिना विचारे कभी कोई भी निमित्त से मर्यादातीत ३०-४०-५०-७०कि.मी. चलने से परेशानी हो सकती है, अत: चलने में विवेक युक्त निर्णय करना चाहिये ।

(८) भोजन की प्रतिकूलता से– रात्रि भोजन आदि किसी कारण से गलत पदार्थ भोजन में खाने में आ जाने से, खाद्यपदार्थ की समय मर्यादा अधिक हो जाने से उसमें विकृति हो गई हो, सड गये हो या लीलन-फूलन उत्पन्न हो गई हो, कीडी-मक्खी आदि जीवयुक्त हो या विषयुक्त हो ऐसे पदार्थ खाने में आ जाय तब अनेक प्रकार की बिमारियाँ उत्पन्न हो सकती है । समय पर खाना न मिले, भूख से स तप्त रहना पडे या खुद की आदत-प्रकृति अनुसार अथवा शरीर की आवश्यकतानुसार आहार-पानी, औषध-भेषज आदि न मिले; इत्यादि भोजन की प्रतिकूलताओं से भी रोगोत्पत्ति होती है । अत: सामान्यतया व्यक्ति को अपने भोजन की व्यवस्था का, समय का, मात्रा का एव पदार्थों का विवेक पूर्वक ध्यान रखना चाहिये ।

(९) इन्द्रियों का, शरीर के अवयवों का अति उपयोग या गलत ढ ग से उपयोग-दुरुपयोग करने से– अति वाजि त्र श्रवण, अति नाटक, सिनेमा, टी.वी. देखना, अति सुग धी पदार्थों का प्रयोग, अति भाषण, अति मात्रा में प खा-कूलर, ए.सी. का उपयोग, अति अग्नितात अति कामभोग सेवन, अति मानसिक चि ता-शोक आदि ये सभी इन्द्रियों के अति उपयोग और दुरुपयोग भी रोगोत्पत्ति के कारण बनते हक्त, अत: इन

सभी प्रवृत्तियों में विवेक ज्ञान और मर्यादित व्यवहार का ध्यान रखना चाहिये । सामान्यतया ९ की स ख्या के अ तर्गत ये कारण कहे गये हक्त, अन्य अनेक कारणों का समावेश इनमें यथायोग्य कर लेना चाहिये । विशेष में व्यक्ति के अपने शुभ-अशुभ कर्मोदय ही इसमें मुख्य कारण बनते हक्त । जिससे कभी ये गलतियाँ करने पर भी रोग न होवे और कभी ये गलतियाँ नहीं करने पर भी रोग हो जावे, ऐसा शक्य है । तथापि सामान्यतया शरीर स्वभाव की अपेक्षा से कही गई इन बातों का ध्यान रखने से व्यक्ति अनेक रोगों से सुरक्षित रह सकता है । व्यवहार सापेक्षता की अपेक्षा ये निमित्त कारण भी महत्त्वशील है, इसीलिये शास्त्र में यथाप्रस ग इनका स केत किया गया है । साधक के साधना जीवन में स्वस्थ रहना साधना की सफलता में अत्य त महत्त्व रखता है । इसलिये आत्म साधकों को भी इन बातों का अपने क्षयोपशम प्रमाणे अवश्य विवेक रखना चाहिये ।

निबंध-८२

पुण्य संबंधी विविध विचारणा

प्रस्तुत स्थान के सूत्र-२४ में नव प्रकार के पुण्य कहे हक्त । पुण्य शब्द का प्रयोग जैन साहित्य में तीन प्रकार से अर्थात् तीन अर्थ में हुआ है, यथा-पुण्य प्रकृति, पुण्य प्रवृत्ति, पुण्य ब ध । **(१) पुण्य प्रकृति**- कर्मों की १४८ प्रकृतियों में जो शुभ फलदायी है वे पुण्यकर्म प्रकृति रूप गिनी गई है और जो अशुभ फलदायी है वे पाप प्रकृति गिनी गई है । चार घातीकर्मों की सभी प्रकृतियाँ पाप प्रकृति रूप गिनी गई है, ४ अघातीकर्मों की प्रकृतियें दोनों प्रकार की है अर्थात् १. शाता-अशाता वेदनीय २.देवायु-नरकायु ३.शुभनाम-अशुभनाम ४.ऊँचगोत्र-नीचगोत्र । **(२) पुण्य प्रवृत्ति**- जिस प्रवृत्ति में दूसरों को सुख पहुँचाने का उद्देश्य होता है, आत्मा के परिणाम शुभ होते हक्त एव जिस प्रवृत्ति से आत्मा में शुभ कर्मब ध की अर्थात् पुण्य प्रकृति ब ध की मुख्यता होती है वे सभी प्रवृत्तियाँ पुण्य प्रवृत्तियाँ कही जाती है । अपेक्षा से यहाँ उन पुण्य प्रवृत्तियों को ९ भेदों में समाविष्ट करके ९ प्रकार के पुण्य अर्थात् ९ प्रकार की पुण्य प्रवृत्तियाँ कही गई है ।

(३) पुण्यब ध- जीवों को प्रत्येक समय, प्रत्येक प्रवृति से कर्मब ध होता रहता है । प्रथम गुणस्थान से लेकर नवमें गुणस्थान तक के सभी जीवों के सात कर्म का ब ध निर तर होता ही रहता है और आयुष्य कर्म का ब ध तो प्रत्येक जीव को एक जीवन में एक बार ही होता है । इस अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि श्रमणोपासक और नवमें गुणस्थान तक के श्रमणों के कर्मप्रकृति के ब ध की अपेक्षा पुण्य प्रकृति ब ध और पाप प्रकृति ब ध सभी प्रवृत्तियों में कुछ न कुछ होता ही रहता है अर्थात् ९ प्रकार की प्रस्तुत सूत्रोक्त पुण्य प्रवृत्ति, १८ प्रकार के पापों की प्रवृत्ति तथा व्रत प्रत्याख्यान युक्त श्रावक साधु की स वर निर्जरा की प्रवृत्तियों के समय में भी दोनों प्रकार का ब ध होता रहता है । तथापि उसमें अलग-अलग विशेषता होती है, यथा- (१) प्रस्तुत ९ पुण्य कार्यों में पुण्य प्रकृतिब ध की अधिकता-मुख्यता होती है, पापप्रकृति ब ध की न्यूनता-गौणता-नगण्यता होती है । (२) १८ पाप की प्रवृत्तियों में पाप प्रकृति ब ध की मुख्यता-अधिकता होती है, पुण्य कर्म प्रकृतिब ध की न्यूनता-गौणता होती है । (३) धार्मिक अनुष्ठानों में व्रत-महाव्रत, त्याग-तप में कर्मनिर्जरा(कर्मक्षय)की मुख्यता-अधिकता होती है, साथ ही ब ध विभाग में पुण्य प्रकृतिब ध की अधिकता और पाप प्रकृति ब ध की न्यूनता होती है । इस प्रकार प्रकृति ब ध की अपेक्षा पुण्य का स्वरूप समझना चाहिये।

प्रतिप्रश्न- पुण्य के कार्य में पाप प्रकृति का ब ध क्यों एव पाप कार्यों में पुण्य प्रकृति का ब ध क्यों और धर्म की प्रवृतियों में स वर निर्जरा के साथ पुण्य और पाप प्रकृतियों का ब ध क्यों होता है ? **समाधान**- नवमें गुणस्थान तक जीव के सूक्ष्म या स्थूल रूप में कषाय उदय चालु रहता है, योग प्रवृत्ति भी चालु रहती है जिससे कितने ही जीवों को सुख-दु:ख पहुँचता रहता है । स सार की पाप प्रवृत्तियाँ करते हुए भी जीव पारिवारिक, कर्मचारी जीवों को सुख पहुँचाता रहता है और पुण्य की प्रवृत्तियाँ करते हुए भी जीव उन प्रवृत्तियों से कितने ही जीवों को कष्ट भी पहुँचाता है । आर भ-समार भ की प्रवृत्तियाँ एव योगजन्य गमनागमन आदि प्रवृत्तियों में सूक्ष्म स्थूल रूप से हिंसा भी होती है । इसीलिये

उपरोक्त सापेक्ष कथन किया गया है कि पुण्य आदि तीनों प्रकार की प्रवृत्तियों में भी दोनों प्रकार के कर्म प्रकृतिब ध होते रहते हक्त।

प्रस्तुत में पुण्य प्रवृत्तियाँ ९ प्रकार की कही हक्त, यथा- **(१) अन्न पुण्य**-आहार की इच्छा वाले जीवों को भोजन सामग्री देना । यथा- प्रदेशीराजा के समान दानशाला-भोजनशाला चलाना, हमेशा पक्षियों को दाना डालना, पशुओं को घास डालना, गाय, कुत्ते को रोटी देना इत्यादि अन्नपुण्य की प्रवृत्तियाँ है । **(२) पानपुण्य**- प्राणियों को पानी पिलाना, प्याउ चलाना, पशुओं के लिये जगह-जगह पानी की कु डिया भरवाना, दुष्काल के समय घरों में पानी पहुँचाना; इत्यादि **पानपुण्य** की प्रवृत्तियाँ है । **(३) लयनपुण्य**- मकान का दान, बेघरबार लोगों के लिये घर बनवाना या उसमें मदद करना । राहगीरों के लिये मार्ग में, ज गल में विश्रामस्थान बनाना । सामाजिक पौषधशाला या धर्म स्थानक वगैरह बनाना या उसमें मदद करना । **(४) शयनपुण्य**- बैठने सोने के साधनों का दान करना । बिस्तर, रजाई, क बल, चादर, पल ग आदि का दान करना, गरीबों को बा टना । **(५) वस्त्र पुण्य**- पहनने ओढने के कपडे का दान, स्कूल ड्रेस, सर्दी में स्वेटर आदि का वितरण करना या घर पर मा गने आये गरीब भिखारी लोगों को नया-पुराना वस्त्र देना । **(६-८) मन, वचन, काया पुण्य**-जीवों के प्रति शुभ पवित्र भाव, अनुक पाभाव, आदरभाव, अहोभाव रखना मनपुण्य है । प्राणियों को आन द होवे वैसे मनोज्ञ एव अनुकूल वचन प्रयोग करना । आओ, पधारो वगैरह सन्मानसूचक शब्दों का प्रयोग करना **वचनपुण्य** है । शरीर से रोगी, अशक्त, वृद्ध को सहयोग करना तथा मार्ग भूले हुए को साथ चलकर ग तव्य मार्ग या स्थान बता देना आदि **कायपुण्य** है । **(९) नमस्कार पुण्य**- माता, पिता, वडील को नमस्कार करना; घर में आग तुक को, रास्ते में मिलने वाले स्नेही परिचित को नमस्कार करना, जय जिनेन्द्र कहना, सन्मान देना **नमस्कारपुण्य** ह्क।

इन नव प्रकार के कार्यों में अनुक पा भावों की, नि:स्वार्थ भावों की, नम्र भावों की तथा प्रेम-मैत्री भावों की आत्मा में पुष्टी होती है । ये कार्य अन्य जीवों को सुख पहुँचाने वाले हक्त । जिससे मुख्य रूप से शुभ

कर्मों का ब ध होता है, अत: उन्हें पुण्य कार्य कहा गया है ।

निबंध-८३

भ॰महावीर शासन के ९ जीव तीर्थंकर

भगवान के शासन में ९ जीवों ने तीर्थंकर गोत्र नामकर्म का ब ध किया था । वे सभी एक भव करके दूसरे भव में तीर्थंकर बनेंगे । उनके नाम- (१) श्रेणिक राजा (२) सुपार्श्व-भगवान के काका (३) उदायी राजा-श्रेणिक के पौत्र और कोणिक के पुत्र (४) पोट्टिल अणगार- ज्ञाता सूत्र में वर्णित । (५) दृढायु- सर्वानुभूति नामक पाँचवाँ तीर्थंकर बनेंगे । इनका परिचय अप्राप्त है । (६) श ख-यह भी अज्ञात है, सातवाँ तीर्थंकर बनेंगे । भगवान के प्रमुख श्रावक श ख थे, वे तो महाविदेह क्षेत्र से मुक्ति प्राप्त करेंगे । (७) शतक- इनके विषय में टीका में स्पष्ट किया है कि पुष्कली श्रावक का ही अपर नाम शतक था । ये शतकीर्ति नामक दसवाँ तीर्थंकर बनेंगे । (८) सुलसा- सारथी पत्नि थी । उसके सम्यक्त्व की परीक्षा करके देव ने उसे ३२ गुटिका दी थी, एक साथ खाने से उसके ३२ पुत्र हुए थे, वह आगामी चोवीसी में **निर्मम** नामक सोलहवाँ तीर्थंकर बनेगी । (९) रेवती- भगवान के लिये बीजोरापाक वहोराने वाली श्राविका थी, चित्रगुप्त नामक सत्रहवाँ तीर्थंकर बनेगी ।

श्रेणिक राजाने तीर्थंकर नाम कर्म बा धने योग्य दो मुख्य कार्य किये थे- (१) जीवों की दया पाली थी अर्थात् अपने राज्य में प चेन्द्रिय जीवों के वध का निषेध कर दिया था । (२) दीक्षा की दलाली प्रेरणा करी और खुद की २३ पत्निएँ दीक्षित हुई तो भी सहर्ष स्वीकृति दे दी थी । वे नरकायु बा ध चुके थे, अत: प्रथम नरक से निकल कर आगामी चौवीसी सें प्रथम तीर्थंकर महापद्म बनेंगे । उम्र, दीक्षापर्याय वगैरह सभी भगवान महावीर के समान होगी । ग्यारह गणधर, ९ गण आदि भी भगवान महावीर के समान होंगे । दीक्षा के पहले राजा होंगे, यह विशेषता होगी । तब उनके दो देव पूर्णभद्र और मणिभद्र सेवा में रहते हुए सेनाकर्म करेंगे ।छद्मस्थ काल और केवलज्ञान पर्याय भी भगवान महावीर के समान होगी । परीषह-उपसर्गों की, गौशालक-जमाली की समानता नहीं कही गई है । उत्सर्पिणी के दूसरे आरे के ३ वर्ष साडे आठ

महीने बीतने पर महापद्म तीर्थंकर का जन्म होगा और ७५ वर्ष साडे आठ महीने पूर्ण होने पर निर्वाण होगा ।

इन नौ भावी तीर्थंकरों के सिवाय भी अन्य कुछ (९) जीवों का कथन सूत्र-५३ में हक्त वे सभी जीव आगामी भव में मनुष्य बनकर चातुर्याम धर्म की प्ररूपणा करके मोक्ष जायेंगे । वे इस प्रकार हक्त- (१) कृष्ण वासुदेव-आगामी उत्सर्पिणी में १३ वाँ तीर्थंकर होंगे ।(२) कृष्ण-वासुदेव के भाई बलराम १४ वा तीर्थंकर होंगे ।(३) उदक पेढालपुत्र-सूयगडा ग सूत्र में इनका वर्णन है । (४-५) पोट्टिल और शतक- ये मध्यम तीर्थंकर बनकर चातुर्याम धर्म का निरूपण करेंगे । (६) दासक- यह भी अज्ञात है । कृष्ण के पुत्र दासक मुनि तो मोक्ष गये हक्त । (७) सत्यकी- यह विद्याधर राजा था । (८) अ बड- ये महाविदेह क्षेत्र में चातुर्याम धर्म का निरूपण करके मोक्ष जायेंगे, तीर्थंकर नहीं बनेंगे । अत: तीर्थंकर बनने वाले अ बड अन्य समझना जो आगामी उत्सर्पिणी में तीर्थंकर बनेंगे ।(९) सुपार्श्वा आर्या- पार्श्वनाथ भगवान के शासन की साध्वी थी । यहाँ ९ की स ख्या मात्र से ये ९+९=१८ जीवों के भावी का कथन है । जीवन वर्णन या परिचय सभी का नहीं मिलता है । कुछ का वर्णन अन्यान्य शास्त्रों में मिलता हक्त । टीकाकार के समय भी उनके जीवन वर्णन की पर परा प्राप्त नहीं थी । शास्त्र लेखन के ६०० वर्ष बाद टीकाकार हुए थे ।

निबंध-८४

आगम शास्त्रों के दस-दस अध्ययन

दस की स ख्या को आधार बनाकर जिनशास्त्रों में १० अध्ययन है उन शास्त्रों का यहाँ नाम निर्देश किया गया है साथ ही उन सभी (दसों ही) शास्त्रों के अध्ययनों के नाम भी दर्शाये गये हक्त । वे शास्त्र इस प्रकार है- (१) कर्मविपाक दशा- इस शब्द से दु:खविपाक सूत्र का कथन किया गया है ।सुखविपाक के अध्ययनों का कथन यहाँ कोई भी कारण से नहीं है । क्यों कि दस अध्ययन वाले दस ही शास्त्र यहाँ दस की स ख्या के अनुरुप कहे गये हक्त । अत: दस अध्ययन वाले अन्य दशवैकालिक, सुखविपाक सूत्र वगैरह शास्त्र भी होते ही हक्त । (२-५)

उपासक, अ तगड, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण सूत्र ये चारों अ गशास्त्र है ।(६) आचारदशा- यह दशाश्रुतस्क ध का अपरनाम है । (७) ब धदशा (८) दोगिद्धिदशा (९) दीर्घदशा (१०) स क्षेपिक दशा ।

अध्ययनों के नाम :- दशों शास्त्रों के दस-दस अध्ययनों के नाम सूत्र-१०३ से ११२ तक में स्पष्ट है । जिसमें- (१) उपासकदशा सूत्र (२) दशाश्रुत स्क ध के नाम विवाद रहित आज भी उपलब्ध है ।(३) दु:खविपाक सूत्र के नामों में से अ तिम तीन नामों में भिन्नता है, यह भिन्नता अनेक नामों के कारण या अध्ययन के नामकरण के आशय की भिन्नता से है, ऐसा व्याख्याकारों ने स्पष्ट किया है । (४) अ तगड सूत्र के दस नाम पूर्णत: अन्य ही है । उसका कारण अज्ञात है । (५) अनुत्तरोपपातिक सूत्र-इसमें २-३ नाम में साम्यता है, शेष नाम अन्य है । वर्तमान में उपलब्ध इस शास्त्र में तीन वर्ग है । पहले, तीसरे वर्ग में दस-दस अध्ययन है, दूसरे वर्ग में १३ अध्ययन है, कुल ३३ अध्ययन है, जब कि प्रस्तुत प्रकरण में मात्र १० अध्ययनों के नाम हक्त और वर्ग विभाग का कथन नहीं है । इस विभिन्नता का कारण भी अज्ञात है । (६) प्रश्नव्याकरण सूत्र के दस नाम जो लिखे है, वे स पूर्णत: अन्य है, वर्तमान में ५ आश्रव, ५ स वर स्थान रूप अध्ययन नाम है और नाम के अनुरूप ५ पाप और ५ महाव्रतों का वर्णन है । प्रस्तुत सूत्र कथित १० अध्ययन नाम वाला प्रश्नव्याकरण सूत्र देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के समय तक उपलब्ध रहा होगा । बाद में विद्याओं के कारण इस शास्त्र के मौलिक अध्ययनों को हटाकर नये १० अध्याय रखे गये हक्त ऐसा उपलब्ध आगम से इतिहास चि तकों का मार्गदर्शन मिलता है । ये दस अध्ययन के नाम जो यहाँ है वे न दी में तथा समवायाँग सूत्र में भी मिलते हक्त । अत: वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण सूत्र स पूर्ण नया है, जिसे पूर्वधरों ने मिलकर निर्णित किया है ऐसी पर परा मान्य है । पूर्व में रहे प्रश्नव्याकरण के विद्याओं सिवाय के विषयों के स कलन से दो शास्त्र बने हक्त- (१) उत्तराध्ययन सूत्र (२) ऋषिभाषित सूत्र । इन दोनों सूत्रों के नाम न दी सूत्र में मिलते हक्त । ऋषिभाषित सूत्र भी प्रकाशित उपलब्ध होता है । जिसमें ४५ उपदेशी अध्ययन हक्त । उत्तराध्ययन में ३६ उपदेशी अध्ययन हक्त । किसी कारणवश या अनुपलब्धि के कारण ऋषिभाषित सूत्र को आगम

स ख्या ३२ या ४५ में नहीं स्वीकारा गया है । (७-१०) ये चार सूत्रों के नाम अन्य किसी शास्त्र में नहीं है । न दीसूत्र में दसवें सा क्षेपिक दशा सूत्र के दस अध्ययनों के नाम दस स्वत त्र शास्त्र के नाम से आज भी मिलते हक्त । उसी प्रकार उपा गसूत्र नामक शास्त्र के ५ वर्गों के नाम भी ५ शास्त्र रूप में न दी में मिलते है, न दी की कोई प्रतो में ६ वर्ग के नाम से ६ शास्त्र नाम भी मिलते हक्त ।

तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत में कथित सातवाँ आठवाँ नववाँ तीन शास्त्र न दी सूत्र में नहीं है, दशवें सूत्र के १० अध्ययनों के नाम न दी में है, शास्त्र का नाम नहीं है । सातवें **ब धदशा शास्त्र** के सातवें आठवें अध्ययन का नाम **भावना और विमुक्ति** है । वे दोनों अध्ययन लेखनकाल में या उसके पूर्व में कभी भी आचारा ग के अ तिम अध्ययन रूप में रख दिये गये हक्त। जो आज भी आचारा ग सूत्र में उपलब्ध है।

इस प्रकार यहाँ वर्णित ये दश शास्त्र और उनके अध्ययनों के नामों की गहन विचारणा से यह फलित होता है कि शास्त्र लेखन समय में पूर्वधरों की पारस्परिक विचारणा से, योग्य स शोधन-स पादन भी अधिकार पूर्वक किया गया है । कुछ शास्त्र विच्छिन्न भी हुए हक्त और कुछ के नामों में मतिभ्रम और लिपिदोष भी हुआ है ।

निबंध-८५

१० अच्छेरों का स्पष्टीकरण

लोक स्वभाव से जो कृत्य प्राय: नहीं होने योग्य होते है वे अन त काल से कभी कदाचित् हो जाय, उन्हें अच्छेरे कहा गया है । लोक व्यवहार में भी कभी अनहोनी घटनाएँ बन जाती है उन्हें आश्चर्यकारी घटना कहा जाता है । प्रस्तुत अध्ययन में भी अन तकाल से कभी-कदापि होने वाली अनहोनी घटना-बनाव को आश्चर्य-अच्छेरे के नाम से कहा गया है और यहाँ १० की स ख्या के प्रास गिक ऐसे १० अच्छेरों का निरूपण स क्षिप्त शब्दों में किया गया है । उन घटनाओं का विस्तृत स्पष्टीकरण व्याख्याकारों ने स कलित स पादित किया है । जिनका भावार्थ इस प्रकार है-

(१) उपसर्ग- सामान्यतया पुण्यशाली केवली तीर्थंकरों को उपसर्ग

नहीं आते हक्त तथापि भगवान महावीर स्वामी को १४ वर्ष की केवली पर्याय होने पर भी गौशालक द्वारा उपसर्ग हुआ था । जो पूर्व प्रश्न-१० में दर्शायी गई दसवीं आशातना और उसके परिणाम रूप बनाव बना था । जिससे गौशालक स्वय अपनी ही फेंकी गई लेश्या के पुन: अपने शरीर में प्रवेश करने पर सातवें दिन मर गया था और तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ६ महीने तक उस लेश्या की झापट से तनिक रुग्ण बने रहे थे । ६ महीने बाद स्वस्थ होकर फिर साडे प द्रह वर्ष विचरण किया था । उस विस्तृत घटना का वर्णन भगवती सूत्र, शतक-१५ में है । **(२) गर्भहरण-** भगवान महावीर दसवें देवलोक से आयुष्य पूर्ण कर देवान दा ब्राह्मणी के गर्भ में आये थे । वहाँ ८२ रात्रि व्यतीत होने के बाद ८३ वें दिन हरिणेगमेषी देव ने वहाँ से भगवान का स हरण करके त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ में रखा था । यह कथन आचारा ग सूत्र के भावना अध्ययन में है । **(३) स्त्री तीर्थंकर-** उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ भगवान स्त्रीशरीर में थे । मल्लिभगवती का विस्तृत जीवन वर्णन श्री ज्ञातासूत्र के आठवें अध्ययन में उपलब्ध है । शास्त्र के इस स्पष्ट वर्णन को भी दिग बर जैन विद्वान अस्वीकार करके मल्लिनाथ भगवान को पुरुष मानते हक्त यह उनकी आगम स ब धी उपेक्षा है ।

(४) अभावित परिषद्- तीर्थंकर प्रभु के प्रवचन में कोई भी व्रत-प्रत्याख्यान या दीक्षा प्रस ग अवश्य होता है कि तु भगवान महावीर की प्रथम देशना-प्रथम प्रवचन में मात्र देव ही पहुँचे थे और देव कोई व्रत धारण नहीं कर सकते । अत: उसे **अभावित परिषद्** कहा गया है । **(५) दो वासुदेवों का** श ख द्वारा मिलन या कृष्ण वासुदेव का अन्य वासुदेव के राज्य की अमरक का नगरी में जाना । यह वर्णन ज्ञातासूत्र के १६ वें अध्ययन में विस्तार से किया गया है । **(६) चद्र-सूर्य अवतरण-** भगवान महावीर स्वामी के स थारे की अचानक ज्ञात हो जाने से व्यग्रता के कारण सम्यग्दृष्टि च द्र-सूर्य दोनों इन्द्र अपने भ्रमणशील शाश्वत विमान सहित पृथ्वी पर पहुँच गये थे । सामान्यतया देव मनुष्यलोक में आने के लिये अपने यान-विमान से या विकुर्वित विमान से आते हक्त कि तु सूर्य-च द्र दोनों इन्द्र कार्तिक वदी अमास को एक साथ आकाश में

परिक्रमा करते हुए भरतक्षेत्र की सीमा को उपर से पार करते हुए भगवान महावीर के स थारे की नगरी के सीध से निकल कर शाम को आगे बढ रहे थे कि उनके शरीर में अ ग स्फुरणा होने से, अवधिज्ञान का उपयोग लगाने से, भगवान के स थारे की जानकारी होने पर, अत्य त निकट में ही होने से, व्यग्रता और उपयोग शून्यता से, देव विधि को भूलकर च द्र-सूर्य दोनों अपने मूल विमान सहित उस नगरी के उपर आकाश में विमान को रोककर, स्वय दोनों अपने अपने विमान से उतर कर भगवान के समवसरण में उपस्थित हुए थे। स ध्या का समय था कुछ समय भगवान की पर्युपासना की, पर्षदा में बैठे, प्रवचन सुना और पुनः विमानों को लेकर यथास्थान पहुँचकर पुनः पूर्ववत् परिक्रमा में चलने लगे। नगरी से जाने के समय उस क्षेत्र का सूर्यास्त समय हो चुका था। विमानों का नगरी में उपर ही स्थित रहने से दिन जैसा बना रहा और चले जाने पर अचानक शीघ्र अमावश की रात्रि का स ध्या समय प्रार भ हो गया था। उस समय मृगावती आर्या भी अपने साध्वी समूह के साथ समवसरण में थी। सूर्य विमान के वहाँ होने से सूर्यास्त का ज्ञान नहीं हो सका। अचानक स ध्या समय हुआ जानकर मृगावतीजी आर्या शीघ्र वहाँ से निकलकर अपने उपाश्रय में च दना आर्या के सा निध्य में पहुँच गई थी। देरी से आने के कारण उपाल भ भी सुनना पडा था। उसी उपाल भ और भूल की विचारणा में रात्रि के समय सभी के निद्राधीन हो जाने पर भी मृगावती धर्म जागरणा करती रही थी। उसी जागरणा में अमावश की अ धेरी रात्रि में उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया था। च दना आर्या के पास से सर्प को जाते हुए ज्ञान से देखा और उनका हाथ सर्प के चलने के रास्ते में होने से मृगावती ने हाथ उठाकर ठीक से रख दिया, सा प चला गया कि तु च दना आर्या की निद्रा भ ग हो गई, वह उठ गई; हाथ उठाने का कारण पूछा। मृगावती के सत्य उत्तर-प्रत्युत्तर से मालुम पडा कि इसे केवलज्ञान हो गया है, तब च दना आर्या को भी शुभ अध्यवशायों से क्रमशः आगे बढते हुए केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी रात्रि में अ तिम प्रहर के अ तिम विभाग में भगवान महावीर स्वामी निर्वाण पधारे और गौतम स्वामी को भी उसी दिन केवलज्ञान केवल-दर्शन उत्पन्न हुआ। कार्तिक सुदी एकम के दिन ६४ ही इन्द्र अपने देव देवी समूह के साथ

आये। भगवान के पार्थिव देह का अ तिम स स्कार, दाह स स्कार, निर्वाण महोत्सव मनाकर चले गये। उपरोक्त समस्त वर्णन व्याख्या ग्र थों, इतिहास ग्र थों में अन्य अन्य तरह से मिलता है। उन सभी का परिप्रेक्षण कर स क्षिप्त सार रूप में यहाँ सूचित किया है।

(७) हरिव शकुलोत्पत्ति– सामान्यतया युगलिक मनुष्यों की व श पर परा, व श विस्तार नहीं होता है। हम दो और हमारे दो की व्यवस्था ही चलती है अर्थात् प्रत्येक युगलिक के उम्र के ६ महीना शेष रहने पर दो स तान पुत्र-पुत्री होते हक्त और वे ही बडे होने पर पति-पत्नि रूप व्यवहार करते हक्त। फिर वे भी दो स तान को जन्म देकर ६ महीने बाद मर जाते हक्त। इस प्रकार व श-विस्तार नहीं होकर दो की पर परा ही चलती है। एक बार हरिवर्ष क्षेत्र के हरि-हरिणी नामक युगलिक को एक वैरी देव ने उठाकर भरत क्षेत्र में च पानगरी में रख दिया और उन्हे राजा-राणी बनाने की व्यवस्था करके चला गया। फिर उस राजा के अन्वेक स तति पर परा चली। उसका व श हरिव श रूप में विख्यात हुआ। देव ने पूर्वभव के वैर के फलस्वरूप युगलिक को दुःखी करने के लिये यह तरीका अपनाया था। क्यों कि युगलिक क्षेत्र स्वभाव से वहाँ उसे दुःख नहीं पहुँचाया जा सकता था और वहाँ से मरकर भी वह युगलिक मनुष्य देव बनेगा तो अपने से बडा देव बनने से उसे वहाँ भी दुःख नहीं पहुँचा सकूँगा। ऐसा जानकर शत्रु देव ने युक्ति निकाली और शरीर की अवगाहना छोटी करके भरत क्षेत्र में लाकर राजा बना दिया और मद्य-मा साहारी भी बना दिया, जिससे वह राजा मरकर नरक में गया। इस प्रकार देव ने अपना वैर पूर्ण किया। कि तु लोक में यह अनहोनी घटना बन गई कि युगलिक का इस प्रकार परिवर्तन हुआ, हरिव श पर परा चली। यह समस्त वर्णन भी व्याख्याग्रंथों में मिलता है।

(८) चमर उत्पात– चमरेन्द्र ने देव रूप जन्म धारण करते ही शक्रेंद्र के साथ द्वेषभाव रखकर अकेला ही उनका अपमान करने के लिये पहले देवलोक में पहुँच गया। उसके सामानिक देवो ने मना भी किया कि तु वह जन्मते ही अपनी ऋद्धि के गर्व में नशे में चूर हो गया और भगवान महावीर स्वामी का शरण लेकर गया। कि तु शक्रेंद्र के बल के सामने हार खाकर वापिस आना पडा। इस प्रकार चमरेंद्र ने प्रथम देवलोक में जाने

के लिये महान उत्पात किया था। १ लाख योजन का राक्षसी रूप बनाया था। इस घटना को यहाँ सूत्र में **चमरोत्पात** कहा गया है। इसका विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र शतक-३ में है। यह भी अनहोनी घटना हुई थी इसलिये यहाँ १० आश्चर्य में इसे कहा गया है।

(९) **एक समय में उत्कृष्ट अवगाहना ५०० धनुष वालों का एक साथ १०८ सिद्ध होना**- भगवान ऋषभदेव के निर्वाण के समय यह घटना बनी थी। भरत-ऐरावत दोनों क्षेत्र के तीर्थंकर, भरत-बाहुबली को छोडकर शेष ९८ भाई तथा ऋषभदेव भगवान के ८ पौत्र ये कुल २+९८+८=१०८ एक सूक्ष्म समय में साथ में मोक्ष पधारे। इन सभी की अवगाहना सरीखी थी, उम्र हीनाधिक थी जो एक साथ समाप्त हो गई थी। यह गणित भी पर परा से प्राप्त है। सामान्यतया ५०० धनुष की अवगाहना वाले एक समय में उत्कृष्ट २ ही सिद्ध हो सकते हक्त।

(१०) **अस यमी पूजा**- नववें तीर्थंकर से लेकर प द्रहवें तीर्थंकर के शासन में तीर्थ का विच्छेद हुआ अर्थात् उनके शासन काल में साधु-साध्वी की पर परा अविच्छिन्न नहीं चली, बीच-बीच में विच्छिन्न हुई थी। यों कुल सात तीर्थंकरों के शासन में साधु-साध्वी के अभाव में अस यतियों द्वारा धर्म चलाया गया। तब उन अस यतियों को स यती जैसा मान-सन्मान पूजा-प्रतिष्ठा का व्यवहार प्राप्त हुआ था। सामान्य रूप से हमेशा २४ तीर्थंकरों का शासन अविच्छिन्न रूप से चलता है। इस अवसर्पिणी में ही शासन विच्छेद की घटनाएँ बनी थी। इसी के अ तर्गत भगवान महावीर के शासन में भी मध्यकाल में अस यती पूजा का माहोल अनेक वर्षों तक रहा था। उसके लिये कहा जाता है कि कल्पसूत्र अनुसार भगवान के निर्वाण समय में भगवान के जन्म नक्षत्र पर **भस्मराशि** नामक ग्रह का स योग था, जिसके प्रभाव से दो हजार वर्ष पर्यंत भगवान का शासन अवनतोवनत चला। फिर दो हजार वर्ष बाद पुनः उन्नतोन्नत धर्मशासन प्रवहमान हुआ था। इस अपेक्षा से दसवें अच्छेरे का प्रभाव भगवान के शासन में भी कुछ समय रहा ऐसा स्वीकार किया जा सकता है।

कहा जाता है कि ऐसी अनहोनी घटनाएँ अन तकाल में कभी अवसर्पिणी काल में हो जाती है। सदा सभी अवसर्पिणी काल में नहीं

होती है तथा जब होवे तब १० ही होवे ऐसा भी नियम नहीं है। एव इन १० में से ही होवे वैसा भी नियम नहीं है, अन्य भी कोई नई घटनाएँ भी हो जाती है। इन घटनाओं स ब ध ी निरूपण में वक्ताओं के समझभ्रम से कुछ-कुछ भिन्नताएँ प्राप्त होती है। वैसे तो कथानकों में वक्ता की वक्तव्यशैली से अ तर होना स्वाभाविक है तथापि विद्वान पाठक उपर निर्दिष्ट आगम स्थलों को ध्यान से पढकर सही तत्त्व समझने का प्रयत्न करेंगे। जिन घटनाओं के लिये आगम प्रमाण नहीं होकर व्याख्या ग्र थों का आधार है उनके लिये व्याख्याकारों आदि के कथनशैली से यहाँ भिन्नताएँ नजर आवे तो विद्वान पाठक अपनी तर्क बुद्धि से सही आशय समझने का प्रयत्न करेंगे एव सत्य निर्णय करने में अपनी स्वत त्रता समझेंगे। क्यों कि आगम प्रमाण के अभाव में छद्मस्थ जिज्ञासुओं को अपने बुद्धि एव क्षयोपशम अनुसार ही समझना अवशेष न्याय से यथोचित होता है। जिस विषय में आगम अध्ययन स्पष्ट होवे वहाँ पर परा का या अपनी तर्कबुद्धि का आग्रह नहीं रखकर आगम अध्ययन अनुसार ही समझना, स्वीकारना चाहिये।

निबंध-८६

नक्षत्र संयोग में ज्ञान वृद्धि

प्रस्तुत स्थान के १५६ वें सूत्र में शास्त्रकार ने निरूपण किया है कि १० नक्षत्र ज्ञान की वृद्धि करने वाले होते हक्त।

नक्षत्र २८ हक्त, उनकी भ्रमणगति च द्र से कुछ अधिक है। अतः क्रमशः एक-एक नक्षत्र च द्र की सीध में साथ में भ्रमण करते हुए आगे निकल जाते हक्त। यों एक महीने में सभी नक्षत्र च द्र के साथ योग करके उसे पार कर जाते हक्त। दूसरे महीने में पुनः क्रमशः सभी का वही क्रम चलता है। जिस दिन आकाश में जो नक्षत्र च द्र के साथ गमन करता है वह लौकिक प चा ग में बताया होता है।

कई लोग **नेगेटीव पोइ ट** से चलते हुए अपने को होशियार और धर्मज्ञ समझते हक्त। कि तु जैनागम अधिकतम पोजिटीव पोइ ट वाले हक्त। वे भूतप्रेत भी मानते है, उनके द्वारा मानव को उपद्रव होना भी स्वीकारते हक्त। तेला करके देव को बुलाया जाना भी स्वीकारते हक्त। आगम सा प,

बिच्छु के ड क के समाधान के लिये झाडा-फू कना भी स्वीकारते हक्त । मत्र-त त्र, वशीकरण आदि भी जगत में होना जैनागम मानते हक्त । निमित्त ज्ञान का भी अपने स्थान पर महत्त्व होता ही है। आगम उनका भी अस्तित्व स्वीकारते हक्त । सूयगडा ग सूत्र में कहा गया है कि **कई निमित्तज्ञान के कथन सत्य भी होते हक्त और किसी का निमित्तज्ञान विपरीत भी निकल जाता है**। अत: मुनि इस निमित्त ज्ञान में न पडे क्यों कि उसे तो अध्यात्म साधना ही करना होता है । आगमों में ज्योतिष शास्त्र को भी स्थान प्राप्त है । भगवान महावीर के जन्म नक्षत्र पर भस्मग्रह स योग से २००० वर्ष तक जिनशासन पर असर हुआ था और उस स योग के हटने पर लोकाशाह द्वारा पुन: सत्य आचार उजागर हुआ था ।

इसी कारण प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि दस नक्षत्रों के च द्र स योग के दिन प्रार भ किया गया शास्त्र-अध्यनन श्रेष्ठ-सफल रहता है । ज्ञान के वृद्धिकारक नक्षत्र इस प्रकार है– (१) मृगशीर्ष (२) आर्द्रा (३) पुष्य (४) पूर्वाषाढा (५) पूर्वाभाद्रपद (६) पूर्वाफाल्गुनी (७) मूल (८) अश्लेशा (९) हस्त (१०) चित्रा । आगम निर्देश अनुसार नया अध्ययन इन नक्षत्र योग के समय प्रार भ करना चाहिये । निमित्त का अपना महत्त्व है, फिर भी पुरुषार्थ एव कर्म क्षयोपशम आदि अनेका तिक स्वीकृति भी आवश्यक है ।

निबंध–८७

१० मिथ्यात्व और समकित के आगार

दस मिथ्यात्व– जीव को अजीव समझे, अजीव को जीव समझे, इसी तरह धर्म-अधर्म, साधु-असाधु, मोक्षमार्ग-स सारमार्ग, सिद्ध-असिद्ध के विषय में विपरीत समझ मिथ्यात्व है । फोटो तसवीर, मूर्ति आदि निर्जीव पदार्थों को कुल पर परा से धूप-दीप, पूजा-भक्ति करना यह मिथ्या प्रवृति है, इसका गृहस्थ श्रावक को आगार होता है । ये प्रवृत्तियाँ अजीव को जीव मानने रूप मिथ्यात्व की प्रेरक होने से त्याज्य है, क्यों कि सावधानी के अभाव में इन प्रवृत्तियों में धर्म मानने के स स्कार प्रवेश कर सकते हक्त । अत: श्रावक आगार सेवन लाचारी से करे तो

उपरोक्त १० प्रकार की मिथ्या समझ से दूर रहे । कुल पर परा के इन कार्यों को करते हुए फोटो, मूर्ति को जीव नहीं समझे, अजीव समझे; धूप-दीप को धर्म प्रवृत्ति नहीं समझे, अधर्म प्रवृत्ति समझे । तात्पर्य यह है कि आगारों का सेवन भी कमजोरी है ऐसा मानना चाहिये । विशिष्ट दर्जे के साधक कमजोरी हटाकर आगारों का भी त्याग करते हक्त, वे श्रेष्ठ श्रावक होते हक्त । कि तु वे आगार सेवन करने वालो की निंदा या तिरस्कार करे तो वह उनकी अयोग्यता है ।

निबंध–८८

सात भय का विश्लेषण

आवश्यक सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र तथा प्रस्तुत सातवें समवाय में सात भय स्थान कहे हक्त–

(१) इहलोक भय– मनुष्यको चोर, डाकू और उद्द ड मनुष्यों का तथा अनेक स्वार्थी, कपटी और अनार्य, क्रूर लोगों का भय होता है ।

(२) परलोक भय– मानव को सर्प, बिच्छु, शेर, चीता आदि हिंसक पशु-पक्षियों का, भूत, प्रेत आदि देवों का भय रहता है ।

(३) आदान भय– जमीन, जायदाद, धन, स पत्ति, कुटु ब, परिवार आदि अपने परिग्रह स ग्रह की सुरक्षा का भय रहता है ।

(४) अकस्मात् भय– दुष्काल, अतिवृष्टि, जलप्रलय, अनावृष्टि, भूक प, एक्सीडेंट का, गिरने पडने का तथा अनधारी आपत्ति रोग-महारोग का भय ।

(५) आजीविका भय– व्यापार-नौकरी, आवक-इन्कम का, खानपान आदि जीवन निर्वाह का भय होता है।

(६) मरण भय– मरने का भय, इन्द्रिय क्षीणता, शक्ति क्षीणता का भय सभी प्राणियों को रहता है ।

(७) अश्लाघा भय– अपयश, अकीर्ति का भय । मानव को मान-सन्मान, यश-कीर्ति की अभिलाषा बनी रहती है । उसी कारण अपयश, बदनामी, निंदा से वह घबराता रहता है ।

शास्त्र में स यम को **अभय** कहा है । स यम की आराधना में दत्त

चित्त साधक को कहीं भय रहता नहीं है । वह सदा सर्वदा सर्वत्र निर्भय बना रहता है एव स सार के समस्त छोटे बडे प्राणियों को भी वह अभयदान देकर अपने से निर्भय बना देता है । मन, वचन या काया से किसी भी जीव को स त्रस्त–भयभीत नहीं करता है ।

निबंध–८९

दस यतिधर्म आदि विश्लेषण

दस यति धर्म– यति, मुनि, श्रमण, भिक्षु, साधु ये एकार्थक शब्द है। यहाँ यति शब्दप्रयोग से श्रमणों के १० मुख्य धर्म–मुख्य गुण धारण करने योग्य दर्शायेहक्त–

(१) ख ति– मुनि सहनशील बनकर अपार क्षमाभाव धारण करे; स्वपर के कर्मोदय स्वभाव की विचारणा को सदा उपस्थित रखे । किसी के कोई भी अशुभ व्यवहार की कषाय भावों में समीक्षा न करे, उपेक्षा भावों से अपनी समता में लीन रहे । मन, वचन, काया तीनों को समता में स तुलित रखे । विषमता के भावों को, व्यवहारों को, उत्पन्न नहीं होने देवे, उत्पन्न होने लगे तो तत्काल ज्ञाना कुश से वैराग्यवासित अ त:करण की विचारणा पूर्वक उस विषमता को विफल बना देवे ।

(२) मुत्ति– निर्लोभता । मुनि परिग्रह का सर्वथा त्यागी ही होता है, उसे स यम के अति आवश्यक मर्यादित उपकरण एव शरीर निर्वाहार्थ अल्प आहार, वस्त्र-पात्र ग्रहण करना होता है । मकान स स्तारक अल्प कालीन ग्रहण करके छोड देना होता है । समय प्रभाव से रखी जाने वाली अध्ययन सामग्री भी विहार में भारवृद्धि न हो उतनी ही सीमित रखना होता है । अत: मुनि अल्पेच्छा, अल्प आका क्षा वाला बनकर लोभ-लालच से मुक्त रहे, इच्छाओं को सीमित रखकर द्रव्यभाव से निष्परिग्रही बना रहे । **(३) अज्जवे–** आर्जव, सरलता । मुनि का मन वचन काया स ब धी समस्त योग व्यवहार सरलता, निष्कपटता से युक्त होना चाहिये । मुनि के अ दर-बाहर और कथनी-करणी सरलता से ओतप्रोत होने चाहिये । माया, कपट, प्रप च, वक्रता, धूर्ताई आदि सरलता का नाश करने वाले अवगुणों से मुनि को दूर रहना चाहिये ।

(४) मद्दवे– मार्दव, नम्रता । मुनि जीवन में विनय-नम्रता गुण का होना

अत्य त आवश्यक है । शास्त्र में विनय को सब गुणों का मूल कहा गया है । विनय गुण से स पन्न व्यक्ति समस्त गुणों को हाँसिल कर सकता है । विनय-नम्रता के विकास के लिये जीवन में से मान कषाय, अह भाव, घम डभावों को तथा जाति, कुल, तप या ज्ञान के मद को छोडना जरूरी है और उसके लिये सदा आत्मा में अभ्यास, जागृति और स स्कारों को पुष्ट करते रहना चाहिये । अह कार व्यक्ति की नम्रता को नष्ट करने वाला है, अत: मार्दवगुण को धारण करने के लिये मुनि को मानकषाय से हमेशा दूर रहना चाहिये ।

(५) लाघवे– लघुभूत । मुनि स सार के भार से तो मुक्त हो गया होता है । उसे चाहिये कि वह स यम जीवन में भी मानसिक विचारणाओं ए व कायिक प्रवृत्तियों से अभ्यासपूर्वक मुक्त होता जाय । अन्यत्र **लाघवे** के स्थान पर 'सोए' शौच शब्द है, जिसका अर्थ भी यही है कि विचारों से पवित्र रहे, शुद्ध-निर्मल भावों में रहे । इस तरह मानसिक बोझ से और कर्मब ध से मुनि हल्का फूल सा लघुभूत रहे । **(६) सच्चे–** मुनि सत्यनिष्ठ रहे। प्रत्येक आचरण में, वाणी में सत्यता ईमानदारी को धारण करे । झूठ–असत्य का सेवन कदापि नहीं करे । हास्य, भय से भी झूठ न बोले, झूठे कर्तव्य नहीं करे । हित, मित एव मर्यादित वचन बोले । **(७) स यमे–** महाव्रत, समिति, गुप्ति, इन्द्रिय निग्रह में पूर्ण सावधान रहे । स यम समाचारी का सम्यक् परिपालन करे ।

(८) तवे– उपवास आदि तथा विनय, स्वाध्याय आदि बाह्य एव आभ्य तर सभी प्रकार के तप में आत्मा को भावित करे । स यम जीवन के आवश्यक कार्य, गुरु आज्ञा तथा सेवा के अतिरिक्त अवशेष समय स्वाध्याय-अध्ययन में व्यतीत करे । **देह दुक्ख महाफल** इस सूत्र को लक्ष्य में रखकर शक्य हो जितना त्याग-तप अवश्य बढाते रहना चाहिये । किसी से उपवास न भी होता हो तो धीरे-धीरे अभ्यास से, वैराग्य से, मानस स स्कारित करने से तथा लगन धगस रखने से कुछ भी दुष्कर नहीं समझना चाहिये । इस प्रकार मुनि जीवन बाह्य आभ्य तर तप युक्त होवे ।

(९) चियाए– त्याग । इसमें कषायों का त्याग, खान पान के द्रव्यों का त्याग, प्राप्त आहारादि में से अन्य श्रमणों का दान-प्रदान समर्पण रूप त्याग वगैरह का समावेश होता है । स क्षेप में द्रव्यभाव–ऊणोदरी और

व्युत्सर्ग तप में वृद्धि करना, गण-समूह, उपधि का त्याग करना, स यमी सहवर्तियों के लिये सदा उदारता रखना आदि गुणों का इसमें, त्याग में समावेश होता है। इसके स्थान पर 'अकि चनत्व' शब्द के द्वारा भी मूर्च्छा या स ग्रह के त्याग का ही कथन है।

(१०) ब भचेरवासे– सब तपों में उत्तम तप ब्रह्मचर्य है। मुनि तीन करण तीन योग से शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करे। उसकी सुरक्षा के नियम रूप नववाड या दस ब्रह्मचर्य समाधिस्थान जो शास्त्र में कहे गये हक्त उनका पूर्णतया ध्यान रखे। तत्स ब धी स्पष्टीकरण स्थाना ग सूत्र स्थान-९, प्रश्न-३ में किया गया हक्त, उन्हें लक्ष्य पूर्वक आत्मशात करके, ब्रह्मचर्य गुण को धारण करना चाहिये। यति के (मुनियों के) इन गुणों का धारण करना, पालन करना यह मुनियों का यतियों का धर्म है, कर्तव्य है। अत: इन्हें १० यति धर्म कहा गया है।

श्रमणों के बारह स भोग व्यवहार– स्वधर्मी, समान समाचारी, एव एक गण के श्रमणों में परस्पर भोजन व्यवहार की प्रमुखता वाले १२ व्यवहार होते हक्त, उन्हें बारह स भोग व्यवहार कहा गया है। वे इस प्रकार है– **(१)** उपधि– वस्त्र-पात्र आदि उपयोगी उपकरणों का परस्पर आदान प्रदान। **(२)** श्रुत– शास्त्रों की वाचना देना-लेना। **(३)** भक्तपान– परस्पर आहार-पानी, औषध-भेषज का आदान प्रदान। **(४)** अ जलि- प्रग्रह– रत्नाधिक के सामने हाथ जोडकर खडे रहना अथवा सामने मिलने पर हाथ जोडकर मस्तक झुकाना। **(५)** दान– शिष्य का देना-लेना। **(६)** निम त्रण– शय्या-मकान, स स्तारक, उपधि, वस्त्र-पात्र आदि का निम त्रण करना। **(७)** अभ्युत्थान– रत्नाधिक श्रमण के आने पर खडे होना, आदर देना, सन्मान सूचक शब्द–आओ पधारो आदि बोलना। **(८)** कृतिकर्म– अ जलिकरण, आवर्तन, हाथ जोडकर मस्तक झुकाना, एव सूत्रोच्चारण पूर्वक विधि सहित व दन करना। **(९)** वैयावृत्य– आवश्यक होने पर परस्पर शारीरिक सेवा-परिचर्या करना, भिक्षा लाकर देना, वस्त्र प्रक्षालन, मल-मूत्र आदि परिष्ठापन रूप विविध सेवा-सुश्रूषा करना एव करवाना। **(१०)** समवसरण– एक ही उपाश्रय में निवास करना। साथ में रहना, बैठना आदि प्रवृत्ति करना। **(११)** सन्निषद्या– एक ही आसन, पाट

आदि पर बैठना, बैठने के लिये परस्पर आसन का आदान-प्रदान करना। **(१२)** कथाप्रब ध– साथ में प्रवचन देना। सभा में एक साथ बैठना।

एक ही गच्छ के साधुओं में परस्पर ये सभी व्यवहार आवश्यक होते हक्त। परिहार तप, प्रायश्चित्त वहन करने के समय तथा विशिष्ट अभिग्रह-प्रत्याख्यान वाले श्रमण गुरु आज्ञा से ये अनेक व्यवहार भी परस्पर नहीं करते हक्त; वह उनका विशिष्ट तप रूप आचार होता है।

एक गच्छ के श्रमण और श्रमणियों में भी परस्पर ये १२ व्यवहार (प्रतिपक्षी लि ग होने से) पूर्णत: नहीं होते हक्त। सामान्यत: उत्सर्ग विधि से केवल ६ व्यवहार होते हक्त और शेष ६ व्यवहार पहला, तीसरा, छट्ठा, नववाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ अपवादिक विशेष परिस्थिति से होते हक्त। समाज में या क्षेत्र में प्रतिष्ठित श्रमणों के साथ ११ व्यवहार (आहार को छोडकर) ऐच्छिक विवेकपूर्वक गुरु आज्ञा से हो सकते हक्त। श्रद्धाहीन, स्वेच्छाचारी, जिनशासन की हीलना करने या कराने वाले, शिथिल आचार वालों के साथ ये व्यवहार नहीं रखे जाते। कि तु मानवोचित सभ्यता का व्यवहार किया जा सकता है।

निबंध–९०

सत्रह प्रकार का स यम

(१-५) पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर।

(६-९) तीन विकलेन्द्रिय और प चेन्द्रिय इन ९ प्रकार के जीवों की मन वचन काया से हिंसा नहीं करना, इनकी यतना करना। इन जीवों को किसी भी प्रकार से बाधा-पीडा नहीं पहुँचाना।

(१०) अजीव– पदार्थों का उपयोग यतनापूर्वक करना, उनको फेंकना, गिराना, टकराना आदि रूप से अयतना नहीं करना; यह अजीवकाय स यम कहलाता है।

(११) प्रेक्षा– प्रत्येक वस्तु लेने, रखने में पहले देखना, खाने पीने की वस्तुएँ भी पहले देखना फिर उपयोग में लेना, यह प्रेक्षा स यम है। **(१२)** उपेक्षा स यम– मित्र-शत्रु, इष्ट-अनिष्ट, राग-द्वेषात्मक स योगों में तटस्थ भाव, उपेक्षा भाव रखना, कर्मब ध कारक अध्यवसाय नहीं करके उसे

भुला देना, देखा अनदेखा, सुना अनसुना, जाना अनजाना कर देना, यह उपेक्षा स यम है।

(१३) अपहृत्य स यम–वस्तु का ग्रहण धारण और परित्याग विवेकपूर्वक करना अर्थात् चौथी-पाँचवीं समिति का सम्यग् पालन करना, यह अपहृत्य स यम कहा गया है ।

(१४) प्रमार्जना स यम– पात्रों को उपयोग में लेते समय उनका प्रतिलेखन, प्रमार्जन करना, रात्रि में बैठना, चलना, सोना हो तब भूमि, आसन का प्रमार्जन करना एव कोई भी उपकरण रात्रि में पूँजकर काम में लेना तथा सोने के समय शरीर का प्रमार्जन करना, यह प्रमार्जना स यम है ।

(१५–१७) मन को शुभ रखना, अशुभ में न जाने देना । वचन से हित-मित-असावद्य वचन बोलना या अल्पभाषी होना। काया की प्रवृति यतना से एव विवेकपूर्वक करना, सावद्य एव अयतनाकारी प्रवृत्ति नहीं करना। यह मन स यम वचन स यम और काय स यम है। इस तरह यह १७ प्रकार का स यम है । इसके विपरीत आचरण को ही १७ प्रकार का अस यम समझ लेना चाहिये ।

निबंध–९१

सत्तावीस अणगार गुण

(१-१४) पाँच महाव्रत पालन, पाँच इन्द्रिय निग्रह, चार कषाय त्याग । **(१५-१७)** भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य अर्थात् इन तीनों को निष्पाप असावद्य रखना । **(१८-१९)** क्षमाव त तथा वैराग्यव त रहना अर्थात् वैराग्यभावों को सदा ताजे रखना । **(२०-२२)** मन, वचन और काया का सम्यक् रूप से अवधारण–उपयोग करना। असम्यक् मन वचन काया का त्याग करना । **(२३-२५)** ज्ञान, दर्शन, चारित्र से स पन्न रहना अर्थात् अध्ययन, अनुभव, अभ्यास से रत्नत्रय का विकास करना । **(२६)** असाता वेदना को सम्यक् सहन करना, समभाव रखना, विषमभाव नहीं करना। कष्ट के समय में भी प्रसन्न रहना, यह वेदना सहनशीलता गुण है । **(२७)** मरण समय में भी कष्ट आपत्ति में परिपूर्ण सहनशील रहना, वह मारणा तिक वेदना सहनशीलता गुण है अर्थात् मारणा तिक कष्ट

आने पर घबराना नहीं कि तु सावधानी पूर्वक आजीवन अनशन–स थारा धारण करना । इन गुणों को धारण-अवधारण करने वाला अणगार अपने स यम की सु दर आराधना कर सकता है ।

निबंध–९२

बत्तीस योग संग्रह

साधक के अभ्यास और विकास करने योग्य आचरण, आदर्श कर्तव्य बत्तीसवें समवाया ग में कहे गये है, यथा– (१) **आलोचना–** अपने प्रमाद का गुरु आदि के समक्ष निवेदन कर प्रायश्चित्त ग्रहण करना। (२) **निरपलाप–** अन्य के आलोचित प्रमाद का अप्रकटीकरण। (३) **आपत्काल में दृढधर्मता–** दृढधर्मी बने रहना। (४) **अनिश्रितोपधान–** दूसरों की सहायता लिए बिना तपस्या करना । (५) **शिक्षा–** सूत्रार्थ का पठन-पाठन तथा क्रिया का आचरण । (६) **निष्प्रतिकर्मता–** शरीर की सार-स भाल या चिकित्सा का वर्जन। (७) **अज्ञातता–** अज्ञात रूप में तप करना, उसका प्रदर्शन या प्रख्यापन नहीं करना अथवा अज्ञात कुल की गोचरी करना । (८) **अलोभ–** निर्लोभता का अभ्यास करना । (९) **तितिक्षा–** कष्ट सहिष्णुता का और परीषहों पर विजय पाने का अभ्यास करना । (१०) **आर्जव–** सरलता । साफ दिल सरल होना । (११) **शुचि–** पवित्रता– सत्य, स यम आदि का आचरण। (१२) **सम्यग्दृष्टि–** सम्यग्दर्शन की शुद्धि । (१३) **समाधि–** स्वस्थ चित्त रहना, चित्त की प्रसन्नता बनाये रखना । (१४) **आचारोपगत–** आचार का सम्यग् प्रकार से पालन करना। (१५) **विनयोपगत–** विनम्र होना, अभिमान न करना । (१६) **धृतिमति–** धैर्ययुक्त बुद्धि रखना, दीनता नहीं करना, धैर्य रखना। (१७) **स वेग–** वैराग्यवृद्धि अथवा मोक्ष की अभिलाषा । (१८) **प्रणिधि–** अध्यवसाय की एकाग्रता, शरीर की स्थिरता रखना । (१९) **सुविधि–** सदनुष्ठान का अभ्यास । (२०) **स वर–** आश्रवों का निरोध । (२१) **आत्मदोषोपस हार–** अपने दोषों का उपस हरण, निष्कासन। (२२) **सर्वकाम-विरक्तता–** सर्व विषयों से विमुखता । (२३) **प्रत्याख्यान–** मूलगुण विषयक त्याग अथवा पाप त्याग । (२४) **त्याग–** उत्तरगुण विषयक त्याग अथवा नियमोपनियम बढाना ।

(२५) **व्युत्सर्ग–** शरीर, भक्तपान, उपधि तथा कषाय का विसर्जन। (२६) **अप्रमाद**– प्रमाद का वर्जन, अप्रमत्त भाव का अभ्यास । (२७) **लवालव**– समाचारी के पालन में सतत जागरूक रहना । (२८) **ध्यानस वरयोग**– ध्यान, स वर, अक्रियता की वृद्धि करना । (२९) **मारणा तिक उदय**– मारणा तिक वेदना में क्षुब्ध न होना, शा त और प्रसन्न रहना । (३०) **स ग परिज्ञा–**आसक्ति का त्याग । शरीर, उपकरण, शिष्यादि में अनासक्त भाव का अभ्यास । (३१) **प्रायश्चित्तकरण**– दोषों की विशुद्धि करना, विशुद्धि में लिये हुए प्रायश्चित्त का अनुष्ठान करना । (३२) **मारणा तिक आराधना**– मृत्युकाल में आराधना करना । स लेखना स थारा करने के स स्कारों को दृढ करना।

निबंध–९३

२८ आचार कल्प

इस शब्द के विविध अर्थ हक्त– (१) आचार स ब धी विशेष कल्प अर्थात् नियम, उपनियम, मर्यादाओं का वर्णन करने वाला शास्त्र– 'आचारांग सूत्र' । (२) आचार और प्रायश्चित्त का कथन करने वाला 'निशीथ अध्ययन सहित आचारा ग सूत्र' । (३) आचारा ग सूत्र का प्रकल्प अर्थात् निकालकर अलग किया हुआ अध्ययन विभाग रूप 'निशीथ सूत्र' । (४) आचार अर्थात् स यमाचरण में लगे दोषों का प्रकल्प अर्थात् प्रायश्चित्त विकल्प । इन चार अर्थों में से प्रथम के दो अर्थ से २८ आचार प्रकल्प अध्ययन रूप होते है– आचारा ग सूत्र के क्रमशः २३ अध्ययन+निशीथ के ५ अध्ययन– लघु, गुरुमासिक, लघु, गुरुचौमासिक, आरोपणा । अथवा क्रमशः २५ अध्ययन+निशीथ के तीन अध्ययन लघु, गुरु, आरोपणा ।

चतुर्थ अर्थ से २८ प्रकार के आरोपणा प्रायश्चित्त स्थान है, यथा–(१) पाँच दिन का प्रायश्चित्त (२) दस दिन का (३) प द्रह दिन का (४) बीस दिन का (५) पच्चीस दिन का (६) एक मास का (७) एक मास पाँच दिन (८) एक मास दस दिन (९) एक मास १५ दिन (१०) एक मास बीस दिन (११) एक मास पच्चीस दिन (१२) दो मास (१३) दो मास पाँच दिन (१४) दो मास दस दिन (१५) दो मास प द्रह दिन (१६) दो मास

बीस दिन (१७) दो मास पच्चीस दिन (१८) तीन मास (१९) तीन मास पाँच दिन (२०) तीन मास दस दिन (२१) तीन मास प द्रह दिन (२२) तीन मास बीस दिन (२३) तीन मास पच्चीस दिन (२४) चार मास । (२५) लघु(अल्पतम) (२६) गुरू (महत्तर) (२७) स पूर्ण प्रायश्चित्त आरोपणा (२८) कुछ कम प्रायश्चित्त आरोपणा (रियायत) यथा– एक मास की १५ दिन आरोपणा और दो मास की बीस दिन आरोपणा ।

निबंध–९४

१७ प्रकार के मरण

शास्त्रों में अनेक जगह विभिन्न अपेक्षा से मरण के प्रकार कहे गये हक्त । यहाँ सत्रहवें समवाय में उन्हें मिलाकर अपेक्षा से १७ प्रकार के मरण का एक साथ कथन है, यथा– **(१) आवीचि मरण**– प्रतिक्षण आयुष्य कर्म दलिक उदय में आकर क्षय होते हक्त यह देश आयुक्षय रूप निर तर मरण ही आवीचिमरण कहा गया है । **(२) अवधि मरण**– कुछ काल के लिये मरकर काला तर से उसी योनि में पुनः जन्म-मरण करना है तो उसे अवधि मरण कहा गया है । **(३) आत्य तिक मरण**– भविष्य में उस आयुष्य को कभी प्राप्त नहीं करने रूप मरण अर्थात् मोक्षपर्यंत जहाँ पुनः जन्म-मरण नहीं करना है तो वह आत्य तिक मरण है । **(४) वलय मरण**– गले को दबाकर या मोडकर मरने या मारने को वलय मरण कहते हक्त । स यम छोडकर या व्रती जीवन का त्याग कर अव्रत में मरण, यह **भाववलय मरण** है । **(५) वशार्त मरण**– कोई वस्तु की या इन्द्रिय विषय की आसक्ति के कारण, उसकी अप्राप्ति से दुःखी होकर आर्तध्यान में मरना । कोई व्यक्ति के मोह में उसके मरने के पीछे दुःखी होकर मरना, ये वशार्त मरण कहे गये हक्त । **(६) अ तोशल्य मरण**– भाला, तलवार आदि शस्त्र से मरना । अथवा माया, निदान, मिथ्यादर्शन रूप शल्य युक्त मरना या व्रत के दोषों की आलोचना प्रायश्चित्त किये बिना मरना, ये सभी अ तोशल्य मरण कहे गये हक्त । **(७) तद्भव मरण**– जो जैसा पशु या मानव रूप में है, मरकर वैसाही बन जाय उसी योनि– गति पर्याय में उत्पन्न होवे उस मरण को तद्भव मरण कहा गया है । यह मरण

नारकी देवता के नहीं होता है । अथवा इस भव स ब धी कोई भी इच्छा रखकर काशी करवत लेकर मरना भी तद्भवमरण है । **(८) बाल मरण–** सम्यग् दृष्टि या मिथ्यादृष्टि अव्रती का मरण **(९) बाल प डित मरण–** देशविरति श्रावक अवस्था का, पाँचवें गुणस्थान का मरण । **(१०) प डित मरण–** स यम अवस्था में, छट्ठे या उससे आगे के स यत गुणस्थानों में मरना, वह प डित मरण है अथवा स लेखना स थारा आलोचना शुद्धिपूर्वक मरण को व्यवहार से, सामान्य रूप से पडित मरण कहा जाता है । **(११) छद्मस्थ मरण–** केवलज्ञान हुए बिना ग्यारवें गुणस्थान तक मरना । **(१२) केवली मरण–** केवलज्ञानी का चौदहवें गुणस्थान में मरना । **(१३) वैहायस मरण–** गले में फा सा लगाकर मरना, फा सी की सजा से मरना वैहायस मरण है । **(१४) गिद्ध स्पृष्ट मरण–** जिसके मृत शरीर को गिद्ध आदि पक्षी खावे ऐसा मरण अथवा जीवित ही गीध आदि पक्षियों से या सि ह आदि पशुओं से खाया जाकर मरना, गिद्ध स्पृष्ट मरण है ।**(१५-१७)** भक्तप्रत्याख्यान, इ गिनी मरण एव पादपोपगमन स थारा, आजीवन अनशन स्वीकार कर मरना । इन तीनों का वर्णन आचारा ग सूत्र अध्ययन–९ में है । इसके अतिरिक्त आचारा ग एव निशीथ सूत्र में गिरिपडण, तरुपडण, अग्नि-फ दण, जलप्रवेश, विषभक्षण आदि द्वारा बाल मरणों का कथन है उन सभी का यहाँ आठवें बालमरण में समावेश कर लेना चाहिये ।

निबंध–९५

सिद्धों के ३१ गुण

पर परा में सिद्धों के आठ गुण गिने जाते है पर तु शास्त्रों में अनेक जगह सिद्धों के ३१ गुण कहे गये हक्त । प्रचलित आठ गुण– (१) अन त-ज्ञान (२) अन तदर्शन (३) अन त सुख–अव्याबाध सुख (४) क्षायिक समकित (५) अक्षय स्थिति(अटल अवगाहना) (६) अमूर्ति (७) अगुरु-लघु (८) अन तवीर्य । ये भी शास्त्रानुसारी है, आचार्यों द्वारा गिनाये गये हक्त । शास्त्रोक्त ३१ गुण– (१-५) क्षीण मतिज्ञानावरण आदि । (६-१४) क्षीण चक्षुदर्शनावरण आदि ।(१५-१६) क्षीण शाता-अशाता

वेदनीय।(१७-१८) क्षीणदर्शन-चारित्र मोहनीय ।(१९-२२) क्षीण नरकायु आदि । (२३-२४) क्षीण शुभ-अशुभ नाम । (२५-२६) क्षीण ऊँच-नीच गोत्र।(२७-३१) क्षीण दाना तराय आदि; इन सभी कर्मप्रकृतियों से मुक्त होना, ये ही सिद्धों के गुण माने गये हक्त , कहे गये हक्त ।

निबंध–९६

संवत्सरी ५०–७० दिन का विश्लेषण

स वत्सरी के लिये आगम निशीथ सूत्र में पर्युषणा शब्द का प्रयोग किया गया है । स वत्सरी शब्द वर्तमान प्रचलित शब्द है । जिसका अर्थ है– पूरे स वत्सर में विशिष्ट धर्म आराधना का एक दिन, वह स वत्सरी पर्व दिन । इस पर्व दिन के लिये निशीथ सूत्र उद्देशक १९ में विशिष्ट विधान है जिसके भाष्यादि प्राचीन व्याख्याओं में भादवा सुदी प चमी का उल्लेख मिलता है, जिसमें प्राचीन सभी व्याख्याएँ एक मत है । उनमें अधिक मास या तिथि घट-वध से प चमी या भादवा के परिवर्तन की कोई चर्चा-विवाद की ग ध मात्र भी नहीं है । प्रस्तुत सूत्र के ७० वें समवाय में एक सूत्र में यह निरूपण है कि ''श्रमण भगवान महावीर वर्षाकाल का १ महीना २० दिन बीतने पर और ७० दिन शेष रहने पर वर्षावास पर्युषित करते थे ।''

विचारणा– भगवान महावीर के ४२ चातुर्मास का वर्णन जो भी प्राप्त होता है उसके अनुसार उन्होंने सभी चातुर्मास चार महीनों के ही किये थे । तो भी यहाँ भगवान के नाम से जो कुछ कहा गया है वह स देहपूर्ण है । क्यों कि इसमें अनेक प्रश्नचिह्न अ कित होते हक्त, यथा– यह विषय सित्तरवें समवाय में ही क्यों कहा ? बीसवें या पचासवें समवाय में क्यों नहीं कहा ? चातुर्मास का कथन है या पर्युषण का कथन है ? वगैरह..। वास्तव में कल्पसूत्र में ऐसा एक पाठ है जो बहुत ल बा एव तर्क से अस गत सा है, उसी का यह प्रथम वाक्याँश है । कल्पसूत्र के उस कल्पित से पाठ को प्रामाणिकता की छाप के वास्ते उसके एक अ श को यहाँ अ गसूत्र में कभी भी किसी ने लगा दिया हो, ऐसी स भावना लगती है । अत: प्रस्तुत सूत्र से स वत्सरी के निर्णय की कल्पना करना सही नहीं है । इस सूत्र के नाम से ४९–५० दिन की कल्पना करना और मूल में

स्पष्ट लिखित ७० दिन की उपेक्षा करना भी योग्य नहीं है ।

प्रश्न– ज बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में ५० वें दिन स वत्सरी करना कहा है ?
उत्तर–उस सूत्र में स वत्सरी स ब धी एक भी वाक्य नहीं है । उत्सर्पिणी काल के वर्णन में प्रथम तीर्थंकर के जन्म से हजारों वर्ष पहले कुछ मा साहारी मानव वनस्पतियों को विकसित सुलभ देखकर परस्पर मिलकर मा साहार नहीं करने की मर्यादा बा धेंगे, ऐसा वर्णन है । उस समय प्रथम तीर्थंकर का शासन भी चालु नहीं हुआ होगा, साधु-साध्वी भी कोई नहीं होंगे । तब स वत्सरी का तो वहाँ प्रस ग भी नहीं है । तो भी लोग आग्रह में पडी बात के लिये ज्यों त्यों करके कुछ भी लगा देने का श्रम करते है, कि तु– 'मिल गया चाबुक का तोडा, घटे फिर लगाम और घोडा' वाली कहावत चरितार्थ करते हक्त । अत: ज बूद्वीप प्रज्ञप्ति की बात तो उक्त कहावत के समान नासमझी की होती है । श्रावक-साधुपन भी नहीं है तो स वत्सरी का वहाँ कोई अर्थ नहीं है ।

सार यह है कि स वत्सरी स ब धी कुछ स्पष्ट कथन निशीथ सूत्र के उन्नीसवें उद्देशक में है और उसी की व्याख्या में भादवा सुदी प चमी कही है । पर परा भी जिसकी साक्षी है तथा कालकाचार्य की जो घटना प्रचलित है उसमें उन्होंने भी राजा को अपनी स वत्सरी मनाने के कथन में भादवा सुदी प चमी का ही निरूपण किया था । फिर राजा के आग्रह से एक दिन पहले भादवा सुदी चौथ को परिस्थितिवश राजाज्ञा से उस राजधानी के चातुर्मास के लिये ही की थी । यह वर्णन भी ग्र थों में है । इससे भी भादवा सुदी प चमी की प्राचीनता एव महत्ता सिद्ध होती है । इस घटना में भी अधिकमास स ब धी या तिथि घट-वध स ब धी या प्रतिक्रमण के समय के घडी पल स ब धी कोई चर्चा विचारणा नहीं है । अत: लौकिक प चा ग में लिखी भादवा सुदी पंचमी (ऋषि प चमी) तर्क विना स्वीकार कर स वत्सरी पर्व मनाना श्रेयस्कर होता है । आगम काल से जिस निश्चित तिथि का नामोल्लेख प्राप्त हो रहा है, उससे अन्य कोई भी तिथि को अर्थात् (पहले या पीछे) स वत्सरी करने पर उस निशीथ सूत्र के पाठ से प्रायश्चित्त आता है । फिर भले अपने गुरु या पर परा के नाम से या बहुमति के नाम से कोई कभी भी करके सच्चाई का स तोष माने तो वह स्पष्ट ही आगम भावों की उपेक्षा और आत्मव चना बनती है । यह सिद्धा त की बात है।

सामान्यतया **'सोही उज्जुय भूयस्स'** शुद्धि सरल आत्मा की होती है और शुद्धात्मा में धर्म टिकता है, अत: चर्चाविवाद में जो अपनी पहुँच नहीं हो तो सरलता के साथ धर्म भावों की एव त्याग-तप की वृद्धि करना ही कल्याण का मार्ग है । अत: सामान्य जन के लिये विवाद में पडे बिना शा त-प्रशा त भावों से हृदय की पवित्रता से स वत्सरी पर्व की आराधना करने में **स योग अनुसार** प्रवृत्त रहना चाहिये ।

निबंध–९७

विनय वैयावच्च के ९१ प्रकार

यहाँ ९१ वें समवाय में इस विषय में निरूपण किया गया है । जिसमें 'पर' अर्थात् अन्य के लिये **सेवा** या सुख रूप जो **कर्म**–कर्तव्य पालन रूप **पडिमा**–विशिष्ट आचार है उन्हें **'पर वैयावृत्य कर्म प्रतिज्ञा'** इस वाक्य से कहा गया है । इनकी स ख्या ९१ कही गई है । जिसमें अन्य के लिये किया गया सद्व्यवहार, सन्मान, विनय व्यवहार एव सेवा शुश्रूषा का समावेश है, उन ९१ की गणना इस प्रकार है–

शुश्रूषा विनय के १० प्रकार– (१) ज्ञान, दर्शन, चारित्र यों रत्नत्रय की अपेक्षा रत्नाधिक पुरुषों का सन्मान सत्कार करना । (२) उनके आने पर खडे होना । (३) वस्त्रादि देकर सन्मान करना । (४) आसन लाकर उसे बैठने के लिए कहना । (५) आसन का अनुप्रदान करना– उनके आसन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना । ६) कृतिकर्म करना अर्थात् सविधि व दन करना । (७) अ जलि करना । (८) गुरुजनों के आने पर उनके सामने जाकर स्वागत करना । (९) गुरुजनों के जाने पर थोडा उनके पीछे चलना। (१०) वे बैठे उसके बाद बैठना । ये दस प्रकार के शुश्रूषा विनय है ।

महापुरुषों के विनय स ब धी ६० प्रकार–(१) तीर्थंकर (२) केवली प्रज्ञप्त धर्म (३) आचार्य (४) उपाध्याय (५) स्थविर (६) कुल (७) गण (८) स घ (९) सा भोगिक श्रमण (१०) आचारवान (११-१२) विशिष्ट मति-श्रुत ज्ञानी (१३) अवधिज्ञानी (१४) मन:पर्यवज्ञानी (१५) केवल ज्ञानी । इन १५ महापुरुषों के लिये १. आशातना नहीं करना २. भक्ति करना ३. बहुमान करना और ४. वर्णवाद (गुणगान करना) ये चार

कर्तव्य पालन करने से १५×४=६० भेद होते है ।

औपचारिक विनय के ७ प्रकार– (१) अभ्यासन– वैयावृत्य योग्य गुरु आदि के पास बैठना । (२) छ दानुवर्तन– उनके अभिप्राय के अनुसार कार्य करना । (३) कृत प्रतिकृति– प्रसन्न आचार्य मुझे सूत्रज्ञान देंगे ऐसे भाव से उनको आहारादि देना । (४) कारित निमित्तकरण– शास्त्र ज्ञान मिलने से शिक्षा देनेवाले का विशेष रूप से विनय करना । (५) दु:ख से पीडित जनों को खोजकर उनके दु:खों को जानना । (६) देश काल को जानकर उनकी अनुकूल सेवा करना । (७) रोगी को उसके स्वास्थ्य के अनुकूल अनुमति-आज्ञा देना ।

आचार्यादि की सेवा के १४ प्रकार–(१-५) पाँच प्रकार के आचार्य होते हक्त, यथा– प्रव्राजनाचार्य, उपस्थापनाचार्य, उद्देशनाचार्य, वाचना-चार्य, धर्माचार्य । इन पाँच के सिवाय (६-१४) उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, कुल, गण, स घ, साधु और अन्य समनोज्ञ सुसाधु की सेवा करने से वैयावच्च के १४ भेद होते हक्त । इस तरह क्रमश: शुश्रूषा–विनय के १० भेद, तीर्थंकर आदि के अनाशातनादि के ६० भेद, औपचारिक विनय के ७ भेद और आचार्य आदि की वैयावच्च के १४ भेद; इन सभी को मिलाने पर(१०+६०+७ +१४=९१) एकानवें भेद होते हक्त ।

निबंध–९८

शास्त्रों के प्रारंभिक अंतिम मंगलपाठों की विचारणा

अ ग आगमों का निरीक्षण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गणधर भगव तो को आगम के प्रार भ में या आगम के आदि, अ त, मध्य में म गल करने की आवश्यकता नहीं होती है । तदनुसार प्रथम अ ग आचारा ग सूत्र के प्रार भ में भी कोई म गल पाठ नहीं है और न ही उसमें आदि, मध्य, अ त म गल की प्रथा रखी है । उसी प्रकार इस भगवती सूत्र के सिवाय १० ही अ गशास्त्रों में सीधा आगम विषय ही प्रार भ हो जाता है ।

अत: अनुभव सिद्ध तथ्य है कि यह भगवती सूत्र विशाल

अति विशाल शास्त्र है, इसका लेखन निर्विघ्न पूर्ण होवे उसके लिये यदा–कदा लेखन काल में शास्त्र लिपिकों ने इस भगवती सूत्र के प्रार भ में विविध म गल सूत्र, म गल शब्द लगाये हक्त जो प्राचीन टीकाकार श्री अभयदेव सूरि के पूर्व लग चुके थे । क्यों कि उनकी टीका में उन म गल सूत्र पाठों की विवेचना हुई है।

इस भगवती सूत्र के अ त में भी म गल रूप प्रशस्ती आदि है वे भी टीकाकार के सामने रही है कि तु वहाँ टीकाकार ने उन अ तिम म गल रूप प्रशस्तियों को लहियों की है ऐसा कहकर व्याख्या नहीं की है पर तु प्रार भ में उन्हें यह स्मृति या आभास नहीं हुआ इसका कारण छद्मस्थता है ।

प्रस्तुत आगम गणधरकृत है। उन्हें शास्त्र को लिपिबद्ध करना ही नहीं था तो वे ब्राह्मी लिपि को नमस्कार क्यों करे ? वहीं पर श्रुत-देवता को भी नमस्कार किया गया है । व्याख्या में श्रुतदेवता गणधरों को ही स्वीकारा गया है । तो गणधर आगम की रचना करने वाले हक्त वे खुद को नमस्कार क्यों करेंगे ? इस प्रकार म गलपाठ लहियों के रखे हुए सिद्ध होते हक्त । इसीकारण ये म गल पाठ प्रतियों में भिन्न भिन्न रूप में मिलते हक्त । हस्तलिखित प्रतों में एव प्रकाशित प्रतियों में इन म गल पाठों में एकरूपता नहीं है । कई प्रतियों मे ब्राह्मी लिपि को नमस्कार रूप एक पद है । किन्ही प्रतियों में ब्राह्मी लिपि और श्रुत को नमस्कार रूप दो पद हक्त तथा किन्ही प्रतों में तीसरा पद **श्रुत देवता को नमस्कार** रूप है । किन्ही प्रतियों में ये १,२ या तीनों पद नमस्कार म त्र से पहले हक्त फिर नमस्कार म त्र है । किन्ही प्रतों में प च परमेष्टी नमस्कार म त्र पहले है बाद में ये १, २ या ३ म गलपाठ हक्त । इस प्रकार की विविधता से भी यह स्पष्ट होता है कि शास्त्रलेखन कर्ताओं ने अपनी रुचि अनुसार ये आदि नमस्कार पद लिखकर फिर शास्त्र का प्रार भ किया है ।

इस विचारणा को ध्यान में रखते हुए प च परमेष्टी नमस्कार के पाँच पद भी इस शास्त्र के प्रार भ में जो उपलब्ध हक्त वे भी यहाँ गणधर कृत न होकर लेखनकाल के ही सिद्ध होते हक्त । क्यों कि

गणधरों ने नमस्कार म त्र की रचना आवश्यक सूत्र में पूर्ण रूप से दो श्लोकों में करी है जो आवश्यक सूत्र की प्राचीन व्याख्या-भाष्य, निर्युक्ति में स्वीकारा गया है और टीका प्रत में आवश्यक सूत्र के प्रथम आवश्यक में पूरा नमस्कार म त्र प्रथम सूत्र रूप में स्वीकार कर उसकी व्याख्या की है तदनन्तर दूसरा पाठ 'करेमि भ ते' स्वीकारा है।

वास्तव में गणधर प्रभू आगम रचना आवश्यक सूत्र से ही प्रार भ करते हक्त अर्थात् आवश्यक सूत्र की अ गसूत्रों से भी प्राथमिकता है यह भी आगम पाठों से सुस्पष्ट है । क्यों कि अणगारों के अध्ययन वर्णन के वाक्य में 'सामायिक आदि (छ अध्यायमय आवश्यक सूत्र) सहित ग्यारह अ गो का अध्ययन किया' ऐसा पाठ आता है । इस प्रकार गणधर भगव तो द्वारा नमस्कार म त्र को आवश्यक सूत्र के प्रार भ में रखा होने से फिर आचारा ग आदि किसी भी सूत्र में उन्हें रखना आवश्यक नहीं होता है । भगवतीसूत्र के पहले भी चार अ गशास्त्र है, भगवती सूत्र पाँचवाँ अ गसूत्र है । प्रथम आचारा ग सूत्र में पुनः नमस्कार म त्र पूरा या अधूरा(प चपरमेष्टी नमस्कार) रखना आवश्यक नहीं हुआ उसके बाद के (२) सूयगडा ग (३) ठाणा ग (४) समवाया ग सूत्र में भी नमस्कार म त्र या कोई म गल शब्द नहीं रखा, इसी तरह छट्ठे आदि अ गसूत्र ज्ञाता, उपासकदशा आदि में भी कोई म गल शब्द या नमस्कार म त्र नहीं रखा तो इस अकेले भगवती सूत्र के प्रार भ में गणधरों को अधूरा नमस्कार म त्र रखने का कोई कारण नहीं हो सकता । जिस तरह दूसरे शतक से आगे के सभी शतक **गाथा** से ही प्रार भ होते हैक्त वैसे ही यह प्रथम शतक भी गणधरों ने गाथा से ही प्रार भ किया है ऐसा स्वीकारना न्यायपूर्ण होता है ।

इसी विचारणा अनुसार भगवती सूत्र में आये मध्य म गल पद भी (गोशालक शतक आदि में) गणधर कृत नहीं समझकर लेखनकर्ता के समझ लेने चाहिये ।

सार भूत तात्पर्य यह हुआ कि आवश्यक सूत्र में तो नमस्कार म त्र उस प्रथम अध्ययन का प्रथम सूत्र पाठ ही है । जो दो श्लोकमय पूर्ण पाठ है । अन्य आचारा ग आदि किसी भी शास्त्र में म गल रूप अधूरे नमस्कार म त्र का एक श्लोक या अन्य म गल पद कुछ भी

गणधर कृत नहीं है । म गल रूप में लेखन कर्ताओं के लिखे हुए विभिन्न रूप से पाठ मिलते हक्त । ऐसे ही प्रवाह से कल्पसूत्र के प्रार भ में नमस्कार म त्र की स्थिति है जो कल्पसूत्र की पुरानी कोई प्रत में मिलता और कोई प्रत में नहीं मिलता है । अतः नमस्कार म त्र के पाँच पद अर्थात् अधूरा सूत्र किसी भी शास्त्र के प्रार भ में लिखा होना लेखनकर्ताओं की ही देन है ।

वास्तव में गुणों से युक्त गुणी आत्माएँ ही नमस्करणीय होती है । स्वत त्र गुण आदरणीय आचरणीय धारणीय होते हक्त । ऐसा नहीं कि- "मक्त क्षमा को व दन करता हूँ , मक्त विनय को नमस्कार करता हूँ" ऐसे नमस्कार अनुपयुक्त होते हक्त । इसलिये लिपि या श्रुत, मोक्ष साधकों के लिये नमस्करणीय नहीं हो सकते । **श्रुत देवता** शब्द से गणधारक गणधर प्रभु होने का अर्थ किया गया है। गणधर स्वय आगम रचयिता है तो वे स्वय को व दन क्यों करेंगे ? इस प्रकार श्रुतदेवता के नमस्कार का पद भी गुणी को नमस्कार होते हुए भी स्वय को नमस्कार होने से यहाँ अनुपयुक्त है ।

निबंध-९९

द्वादशांगी शास्वत-अशास्वत विचारणा

तात्त्विक सैद्धा तिक वर्णन की दृष्टि से द्वादशा गी शाश्वत है। अपने शासन के तीर्थंकर आदि के नाम, स्तुति, गुणकीर्तन आदि यथास्थान गणधर भगव त शासन के अनुरूप स पादित करते हक्त । प्रश्नोत्तर शैली में की गई आगम या अध्ययन की रचना में गणधर यथोचित नाम शासन के अनुरूप स पादित कर सकते हक्त ऐसा अधिकार प्रत्येक शासन के गणधर पद प्राप्त करने वालों को स्वतः होता है।

शासन के प्रार भ में रचना हो जाने पर भी उस के बाद की घटनाएँ लम्बी उम्र वाले गणधर यथासमय योग्य स्थान पर जोड सकते हक्त । इस प्रकार घटनाएँ, कथानक और नामकरण यथासमय योग्य समझकर गणधर स पादित कर सकते हक्त । सभी गणधरों के मोक्ष हो जाने के सैकडों वर्ष बाद भी बहुश्रुत पूर्वधर आदि बहुमति

सहमति से समुचित घटनाएँ प्राप्त आगम में स पादित कर सकते हक्त। इस प्रकार ये अपने-अपने तीर्थंकर के शासन पूरते स पादन होते हक्त, जिसमें सिद्धा त और तत्त्व रचना में परिवर्तन नहीं होता है ।

इन्हीं कारणों से व्यक्तिगत तीर्थंकर के शासन रूप परिणत द्वादशा गी में तीर्थंकर गणधरों के गुण-स वाद आदि मिलते हक्त । गणधर गौतम प्रभू एव भगवान के स वाद भी मिलते हक्त । भगवान महावीर के जीवन से स ब धित गौशालक, जमाली आदि **घटनाएँ** भी शास्त्रों में उपलब्ध है और प्रस्तुत शतक में राजगृही नगरी के वर्णन युक्त उत्थानिका होने का हेतु भी यही समझना चाहिये ।

इस प्रकार द्वादशा गी, तत्त्व सिद्धा तो की अपेक्षा शाक्तत भी है और उपरोक्त अपेक्षाओं से स्व-स्व शासन योग्य स पादित भी होती है। इसीलिये गणधर रचित द्वादशा गी कही जाती है तथा वर्तमान अवसर्पिणी हुण्डासर्पिणी होने से गणधरों के बाद बहुश्रुत पूर्वधर आचार्यों से स पादित भी कुछ अ श एव नये स पादित शास्त्र भी दशवै-कालिक, प्रज्ञापना, छेदसूत्र एव न दी सूत्र आदि मिलते हक्त । अनेका त सिद्धा त से इस विषय को समझकर, उत्पन्न होने वाली जिज्ञासाओं का समाधान किया जा सकता है ।

तथापि बहुश्रुत पूर्वधरों की स पादन-रचना में और लहियों के म गल रूप पदों में भिन्नता समझनी चाहिये । इन दोनों को एक या समकक्ष नहीं किया जा सकता, यह ध्यान रखना जरूरी है ।

निबंध-१००

श्रमणों के कांक्षा मोहनीय(मिथ्यात्व)वेदन कैसे?

श्रमण निर्ग्रंथ भी कई निमित्त स योग या उदयवश का क्षा मोहनीय का वेदन करते हक्त अर्थात् कई प्रस गों एव तत्त्वों को लेकर वे भी स देहशील बन जाते हक्त । कभी कोई स देह में उलझ जाने से का क्षा मोहनीय का वेदन होता है । फिर समाधान पाकर या उक्त श्रद्धा वाक्य को स्मरण करके उलझन से मुक्त स्वस्थ अवस्था में आ जाते हक्त ।

जो ज्यादा से ज्यादा उलझते ही रहते हक्त या उस उलझन में ही

स्थिर हो जाते हक्त, समाधान पाने से या उक्त श्रद्धा वाक्य स्मरण से व चित रह जाते हक्त, वे स यम एव समकित से च्युत होकर विराधक हो जाते हक्त । अत: श्रमण निर्ग्रंथों को तत्त्व ज्ञान अनुप्रेक्षा करते हुए भी श्रद्धा में सावधान रहना चाहिये और उक्त अमोघ श्रद्धा रक्षक वाक्य को मानस में सदा उपस्थित रखना चाहिये ।

स देह उत्पत्ति के कुछ निमित्त कारण ये हक्त- १. ज्ञान की विभिन्नताएँ २. दर्शन की विभिन्नताएँ ३. आचरणों की विभिन्नताएँ ४. लि ग वेशभूषाओं की विभिन्नताएँ ५. सिद्धा तो की विभिन्नताएँ ६. धर्म प्रवर्तकों की विभिन्नताएँ । इसी तरह ७. कल्पों ८. मार्गों ९. मतमता तरों १०. भ गो ११.नयों १२.नियमों एव १३. प्रमाणों की विभिन्नताएँ ।

व्यवहार में विभिन्न जीवों की ये विभिन्नताओं और भ गों तथा नयों की विभिन्नताओं को देखकर समझ नहीं सकने से अथवा निर्णय नहीं कर पाने से कुतूहल, आश्चर्य और स देहशील होकर श्रमण-निर्ग्रंथ का क्षा मोहनीय के शिकार बन सकते हक्त । अत: गुरु अपने शिष्यों को पहले से ही विविध बोध के द्वारा सशक्त बनावे ताकि वे इन स्थितियों के शिकार बन कर अपनी सुरक्षा को खतरे में डालने वाले न बने । पर तु ज्ञान के अमोघ शस्त्र से सदा अजेय बनकर अपने स यम और सम्यक्त्व की सुरक्षा करने में सक्षम रहे । प्रत्येक शिष्यों साधकों को भी चाहिये कि वे पहले स्वय इस प्रकार के अजेय और सुरक्षित बनने का प्रयत्न करें एव अश्रद्धाजन्य प्रत्येक परिस्थिति में श्रद्धा के अमोघ शस्त्र रूप वाक्य को मस्तिक में सदा तैयार रखे कि **भगवद् भाषित तत्त्व तो सत्य ही है, उसमें श का करने योग्य कि चित् भी नहीं है ।**

निबंध-१०१

सूक्ष्म स्नेहकाय और मस्तक ढांकना अनुप्रेक्षा

ऊँचे नीचे तिरछे सदा निर तर सूक्ष्म स्नेहकाय गिरती है । मूलपाठ में सूक्ष्म और स्नेहकाय शब्द है ये दोनों ही महत्त्व के हक्त। इसके बाद कहा है कि जिस तरह बादर अप्काय की वर्षा बू दें

मिलकर इकट्ठे होकर चिरकाल-कुछ समय तक रहती है वैसे यह सूक्ष्म स्नेहकाय इकट्ठे होकर रहती नहीं है कि तु गिरते ही तत्काल विध्व श-नष्ट हो जाती है ।

इस प्रकार यहाँ सूक्ष्म स्नेहकाय को बादर अप्काय के समान होने का निषेध किया है और ओस, कुहरा, धूँअर आदि जैसी चक्षुग्राह्य भी यह स्नेहकाय नहीं है और इसका अस्तित्व जहाँ गिरे वहीं नष्ट हो जाता है ।

तब भला इस सूक्ष्म स्नेहकाय के नाम से रात्रि में मस्तक पर कपडा ओढना एव क बली ओढना तथा सुबह-शाम सूर्योदय के बाद और सूर्यास्त के पहले एक प्रहर तक क बली ओढना वगेरे पर परा अत्य त विचारणीय अर्थात् समीक्षा करने योग्य है । क्यों कि आगम में क बली या वस्त्र रखने का ही साधु के लिये आग्रह नहीं है । अचेल होना या वस्त्र की उणोदरी करना प्रशस्त कहा है । जवान स्वस्थ साधु को एक जाति के ही वस्त्र रखने की अर्थात् मात्र सूती वस्त्र रखने की ही शास्त्राज्ञा है, दूसरी जाति के वस्त्र रखने का स्पष्ट निषेध है । अत: ऊनी वस्त्र रूप क बल रखने का जरूरी कायदा करना आगम विपरीत प्ररूपणा है तथा इस सूक्ष्म स्नेहकाय का गलत भ्रमित मनमाना तात्पर्य निकाल करके नासमझी से चलाया हुआ ढर्रा मात्र हक्त, ऐसा समझना चाहिये । इस विषय स ब ध की कुछ स्पष्टीकरण दशाश्रुतस्क ध सूत्र के सारा श में और भगवतीसूत्र के सारा श में यथास्थान किया गया है । विशेष जिज्ञासा वाले पाठकों को उन स्थलों का अध्ययन अवश्य करना चाहिये ।

निबंध-१०२

गर्भस्थ जीव संबंधी आगमिक परिज्ञा

(१) माता-पिता के स योगजन्य शुक्र-शोणित का मिश्रण १२ मुहुर्त तक पुत्रोत्पत्ति के योग्य रहता है ।(२) उत्पन्न होने वाला जीव सर्व प्रथम उस मिश्रण का आहार कर शरीर बनाता है । (३) आने वाला जीव भावेन्द्रिय पाँचों साथ लेकर आता है, द्रव्येन्द्रिय से रहित आकर जन्मता है । (४) तेजस कार्मण की अपेक्षा सशरीरी जन्मता है,

शेष शरीर की अपेक्षा अशरीरी आकर उत्पन्न होता है । (५) जन्म के बाद गर्भ में रहा हुआ जीव माता के किये हुए, परिणमाये हुए आहार में से कुछ अ श 'ओज' रूप आहार ग्रहण करता है । (६) गर्भगत जीव के कवलाहार नहीं होता है। (७) गर्भगत जीव के और माता के दोनों के एक-एक रसहरणी नाडी होती है । (८) पुत्र की नाडी माता को स्पर्शित होती है और माता की नाडी पुत्र को स्पर्शित होती है । माता की नाडी से पुत्र आहार प्राप्त करता है और स्वय की नाडी से आहार का चय उपचय होता है । (९) मानव शरीर में तीन अ ग मातृअ ग और तीन पितृअ ग प्राधान्यता से कहे गये हक्त । स्थाना ग में भी कहा है, देखें प्रश्नोत्तरी भाग-२, पृष्ट-७८ । समय-समय क्षीण होते वे अ ग जीवन भर रहते हक्त अर्थात् उस अ ग में माता-पिता का जीवन अ श आयुष्य पर्यंत रहता है । (१०) गर्भगत जीव अशुभ विचारों से, युद्ध के विचारों से और वैक्रिय लब्धि से युद्ध करते हुए मरकर नरक में भी जा सकता है तथा शुभ विचारों से धर्मभावों से देवगति में उत्पन्न हो सकता है । (११) गर्भ में रहा हुआ जीव चित्ता, पसवाडे, अ तकुब्ज आसन से भी रहता है माता के सोने पर सोता है, बैठने, खडे रहने पर गर्भगत बालक भी वैसे रहता है । माता के सुखी दुखी होने पर वह सुखी दुखी भी होता है।(१२) गर्भगत बालक प्रसूति के समय मस्तक से या पाँव से आता है तो सुखपूर्वक बाहर आता है, आडा-टेढा आता है तो कष्टपूर्वक बाहर आता है या मर जाता है । (१३) अशुभ कर्म लेकर आनेवाला काला, कलूटा, बेडौल, अप्रिय, अमनोज्ञ, हीन स्वर, दीन स्वर आदि **अनोदयवचन** वाला होता है । शुभ कर्म स ग्रह करके लाने वाला इससे विपरीत गौरवर्ण आदि यावत् **आदेय वचन** वाला होता है ॥ उद्देशक-७ स पूर्ण ॥

गर्भ स ब धी अन्य जानकारियाँ :- गर्भ स ब धी कुछ तत्त्वों का कथन प्रथम शतक प्रश्न-३१ में भी किया गया है । यहाँ विशेष कथन इस प्रकार है-(१) उदक गर्भ उत्कृष्ट ६ महीना रहता है । तिर्यंच का गर्भ(गर्भगत जीव) उत्कृष्ट आठ वर्ष और मनुष्य का गर्भ उत्कृष्ट १२ वर्ष गर्भ रूप से रह सकता है । उसके बाद गर्भगत जीव मर जाता है या बाहर आ जाता है । मरने वाला जीव पुन: उसी गर्भ

में आकर फिर से उत्कृष्ट १२ वर्ष रह सकता है । इस तरह एक जीव की निर तर एक ही गर्भस्थल में रहने की कायस्थिति २४ वर्ष की मनुष्य की अपेक्षा हो सकती है । (२) एक जीव एक भव में अनेक सौ व्यक्तियों के पुत्र रूप में उत्पन्न हो सकता है अर्थात् उसकी माता की योनी में १२ मुहुर्त में इतने पुरुषों का वीर्य प्रविष्ट हो सकता है । सन्नी जलचर तिर्यंचों में या नदी में स्नान करने वाली स्त्रियों की अपेक्षा ऐसा स भव हो सकता है अथवा एक स्त्री का सेकडों पुरुषों के साथ स ब ध हो सकता है वे सभी उस स्त्री के पुत्र के पिता कहे जा सकते हक्त। (३) एक जीव के उत्कृष्ट लाखों पुत्र हो सकते हक्त यह भी करोड पूर्व की उम्र एव तिर्यंच प चेन्द्रिय की अपेक्षा ज्यादा स भव है । जलचर मादा एक साथ लाखों अ डे दे सकती है अथवा स्त्री योनी में एक साथ लाखों जीव उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाते हक्त वे भी पुत्र ही कहे जाते हक्त । (४) इसी कारण मैथुन सेवन में होने वाले अस यम को समझाने के लिये रुई से भरी नालिका में तप्त शलाका डालने का दृष्टा त उपमित किया गया है । मैथुन सेवन मोह परिणत आत्म विकार भाव है । यह स्वय चौथा पाप है तथा लाखों प चेन्द्रिय जीवों का विनाश हेतुक होने से प्रथम पाप से युक्त भी है । अत: अब्रह्म को दशवैकालिक अध्ययन-६ में अधर्म का मूल और महान दोषों का ढेर है, ऐसा बताया गया है ।

निबंध-१०३

कवलाहार का परिणमन कितना

प्रश्न- जीव की सर्व आत्मप्रदेशों से उत्पत्ति, मरण या आहार आदि होते हैं या देश से, अर्ध से भी ?

उत्तर- जीव के आत्मप्रदेशों का विभाजन नहीं होता है वे देश से या अर्ध से उत्पन्न नहीं होते, सर्व आत्मप्रदेशों से उत्पन्न होते हक्त; सर्व आत्मप्रदेशों से आहार करते हक्त अर्थात् आहार का परिणमन सर्व आत्म-प्रदेशों में होता है। मात्र दिखाउ ग्रहण निस्सरण मुख आदि से होता है । इसी तरह मरण भी सर्व आत्मप्रदेशों से होता है । ग्रहण किये जाने वाले आहार पुद्गलों में से कभी सर्व का आहार(परिणमन) होता है

कभी देश का परिणमन होता है अर्थात् रोमाहार ओजाहार में सर्व ग्रहित आहार का पूर्ण परिणमन होता है । कवलाहार में **स ख्यातवें भाग** का आहार रूप में परिणमन होता है और अवशेष आहार का निस्सरण हो जाता है । इसी तरह चोवीस द डक में भी समझ लेना चाहिये ।

*[**अस ख्यातवें भाग के परिणमन का कहने की पर परा तथा वैसा उपलब्ध होने वाला पाठ अशुद्ध है । क्यों कि एक बार के कवलाहार का अस ख्यातवाँ भाग परिणमन होना मानने पर १०० वर्ष में क्रोडवार कवलाहार करने पर भी अस ख्यातवें भाग आहार ही कुल जीवनभर में परिणमन होगा । तब पाँच कि.ग्रा. वजन का बालक जीवनभर में ६ कि.ग्रा. वजन वाला भी नहीं हो सकेगा । अत: स ख्यातवें भाग का परिणमन वाले पाठ को शुद्ध स्वीकारना योग्य है।**]*

निबंध-१०४

व्यवहारनय निश्चयनय : कालाश्यवेशी अणगार

वे अणगार तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान के शिष्य थे एव बाह्य प्रवृत्ति या व्यवहार के आचरण के प्रति कुछ स देहशील थे अर्थात् ये वेशभूषा और बाह्य प्रवृतियाँ सामायिक स वर आदि कैसे हो सकती है ?

भगवान महावीर स्वामी के स्थविर भगव तों का समागम हो जाने पर अपनी उलझन को जिज्ञासा रूप में एव आक्षेपात्मक शब्दों में रखी। स्थविर भगव त अनुभव वृद्ध थे, वे उस अणगार की मनोस्थिति समझ गये और व्यवहार को गौण करके, निश्चय नय की भाषा में बोले कि- आत्मा ही सामायिक और सामायिक का अर्थ है, आत्मा ही स वर और स वर का अर्थ है प्रत्याख्यान विवेक और व्युत्सर्ग भी आत्मा ही है। गुण गुणी में होते हक्त अत: ये सभी आत्म स्वरूप ही है ।

प्रतिप्रश्न-तो फिर क्रोधमान आदि भी आत्मस्वरूप ही है आत्मा में होने से, तो उनकी गर्हा क्यों की जाती है ? **समाधान-** क्रोधादि आत्मस्वरूप होते हुए भी अवगुण रूप है, उनकी गर्हा-विवेक **स यम** के लिये की जाती है । गर्हा दोषों का विनाश करने वाली है एव बालभाव का निवारण करती है । जिससे आत्मा में स यम पुष्ट

होता है, आत्मा स यम में स्थिर होती है ।

स्थविरों का सीधा और सचोट उत्तर कालास्यवेषी अणगार को सरलतापूर्वक हृदयग्राही बना। उसे अत्यधिक स तुष्टी हुई जिसे उसने व दन करते हुए निम्न कृतज्ञता के शब्दों से व्यक्त किया, यथा– हे भगवन् ! इन पदों को मक्तने पहले जाना सुना नहीं था, इनका मुझे **बोध** नहीं था, अभिगम(ज्ञान) नहीं था, अदृष्ट, अश्रुत, अविचारित, अविज्ञात, अप्रगट, अनिर्णित, अनिर्यूढ और अनवधारित थे । इस विषय में मुझे श्रद्धा प्रतीति रुचि नहीं थी कि तु आपके द्वारा इन पदों का सही अर्थ परमार्थ समझने को मिला यावत् अवधारण होने से अब मक्त इन पदों की यथार्थ श्रद्धा प्रतीति रुचि करता हूँ जैसा कि आपने समझाया है ।

इस प्रकार सरलात्मा कालास्यवेषी पुत्र अणगार भगवान महावीर के शासन में स्थविर भगव तो के पास पुनः महाव्रतारोपण करके प च महाव्रत-सप्रतिक्रमण धर्म में दीक्षित बने एव अनेक वर्ष स यम पर्याय का पालन कर सिद्ध बुद्ध मुक्त बने ।

सामायिक आदि का व्यवहारनय प्रधान अर्थ :– (१) समभावों में लीन बनना, सावद्य योगों का त्याग करना **सामायिक** है । नये कर्मों को रोकना, पुराने का क्षय करना यह सामायिक का प्रयोजन है । (२) पापों का या आहारादि पदार्थों का त्याग करना, यह **प्रत्याख्यान** है । आश्रव रोकना और कर्म निर्जरा करना यह उसका प्रयोजन है। (३) पृथ्वीकाय की यतना करना स यम आदि १७ प्रकार का स यम तथा इन्द्रिय एव मन का निग्रह करना **सयम** है । (४) **स वर–** आश्रवों का निरोध करना (५) **विवेक–** विशेष बोध, हेय उपादेय तत्त्व का पृथक्करण करना । (६) **व्युत्सर्ग–** हेय का त्याग करना । विवेक और व्युत्सर्ग दोनों ही सम्यक् अवबोध प्राप्ति में उपयोगी है । यह इन छ पदों का व्यवहार नयापेक्षा अर्थ–प्रयोजन है । निश्चय और व्यवहार दोनों नय सापेक्ष मोक्षमार्ग की साधना आराधना सफलता को प्राप्त कराती है ।

निबंध–१०५

अप्रत्याख्यानी क्रिया किसको ?

अव्रती चार गुणस्थान तक के जीवों को अविरति की अपेक्षा

यह क्रिया लगती है । पाँचवें छट्ठे आदि गुणस्थान वालों को व्रत-प्रत्याख्यान रुचि हो जाने से यह क्रिया नहीं लगती है । इस क्रिया में वर्तमान के साधन स योग पुरुषार्थ का कोई प्रभाव नहीं होने से हाथी और कीडी या राजा और र क सभी को यह क्रिया अव्रत के कारण लगती रहती है ।

इस भव में कुछ भी किये बिना लगने वाली इस अव्रत क्रिया से बचने के लिये सीधा और सरल उपाय है कि सम्यक् तत्त्वों का अवबोध एव श्रद्धान के साथ साथ व्रतों के स्वरूप को भी समझकर श्रद्धान करके त्याग–प्रत्याख्यान रूप विरति भावों को शीघ्र स्वीकार करके यथाशक्य व्रत, त्याग–प्रत्याख्यानों का अवधारण करते रहना चाहिये ।

निबंध–१०६

आधाकर्मी आहार और उसका फल

स कल्पपूर्वक जान–बूझकर आधाकर्म आहार का सेवन करने से जैनश्रमण को ७ कर्मों की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चारों ब ध की वृद्धि होती है; हलके कर्म प्रगाढ बनते हक्त; अल्पस्थिति दीर्घ बनती है; अशाता वेदनीय का अधिकतम ब ध होता है यावत् अन त स सार में परिभ्रमण होता है । क्यों कि वह श्रमण अपने आचार धर्म का अतिक्रमण करता है, छ काय जीवों के घात की परवाह नहीं करता है एव दयाभाव की उपेक्षा करता है; जिनके शरीर का आहार करता है उन जीवों पर अनुक पा नहीं करता है; उनके जीवन की अपेक्षा नहीं रखता है ।

प्रासुक एव अेषणीय आहार भोगने वाला श्रमण सातों कर्म की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों की वृद्धि नहीं करके उन कर्मों को शिथिल करता है । क्यों कि शुद्ध आहार गवेषक भिक्षु अपने आचारधर्म का स रक्षण करता है, छ काय जीवों की अनुक पा से भावित बनता है । उन–उन जीवों के जीवन की अपेक्षा रखता है यावत् स सार से मुक्त हो जाता है ।

वास्तव में स यम में **अस्थिर चित्त** बन जाने वाली आत्मा में

ही व्रतनिष्ठा, आचारनिष्ठा **पलोट्टइ** = परिवर्तित हो जाती है, बदल जाती है; जिससे वे व्रतभ ग करते हक्त । स यम में **स्थिर चित्त** वाली आत्मा में आचार निष्ठा नहीं बदलती है जिससे वे व्रतभ ग नहीं करते है। इस तरह प डितपना और बालपना(बालत्व) अशाक्तत है । प डित और बाल बनने वाला जीव शाक्तत है ।

प्रश्न- आधाकर्मी आदि आहार के दोषों की उपेक्षा करने से क्या होता है ?

उत्तर- प्रस्तुत उद्देशक-६ में यह समझाया गया है कि गवेषणा के मुख्य दोष- आधाकर्म, क्रीत, स्थापना, रचित दोष एव क तारभक्त, दुर्भिक्षभक्त, बद्दलियाभक्त, ग्लानभक्त, शय्यातरपिंड, राजपिंड; इन दोषों के विषय में जो श्रमण (१) इसमें कुछ भी दोष नहीं है ऐसा मन में सोचे (२) ऐसा सोचकर खावे (३) ऐसा सोचकर अन्य को देवे (४) अनेक लोगों में ऐसी प्ररूपणा करे; इस प्रकार के प्रवर्तनों में यदि वह काल कर जाय तो विराधक होता है । कि तु अपनी भूल स्वीकार करके आलोचना प्रायश्चित्त कर लेवे तो वह आराधक होता है ।

निबंध-१०७

एकेन्द्रिय और श्वासोश्वास

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनस्पति ये पाँचों एकेन्द्रिय जीव भी त्रस जीवों की तरह निर तर श्वासोश्वास लेते हक्त, वे भी श्वासोश्वास वर्गणा के पुद्गलों को ६ दिशा से अथवा कोई ३,४,५ दिशा से ग्रहण करते हक्त। लोक मध्य में ६ दिशा से और लोका त में स्थित जीव ३,४,५ दिशा से श्वासोश्वास वर्गणा के पुद्गल ग्रहण करते हक्त ।

वायुकाय के जीव भी निर तर वायु का श्वासोश्वास लेते हक्त। सैद्धा तिक दृष्टि से जिन्हें श्वासोश्वास वर्गणा के पुद्गल कहा जाता है उसे ही स्थूल दृष्टि से अथवा व्यवहार से वायु कहा जाता है । श्वासोश्वास वर्गणा रूप वायु अचित्त होती है और वायुकाय जीव रूप वायु सचित्त सजीव होती है। सभी जीव अचित्तवायु रूप श्वासोश्वास

वर्गणा का(ओक्सीजन का, प्राणवायु का) श्वास लेते हक्त । एकेन्द्रिय जीव त्वचा से, स्पर्शेन्द्रिय से श्वास लेते हक्त ।

निबंध-१०८

केवली भगवान का आहार : आगम प्रमाण

सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान को ऐसा कोई एका त आग्रह नहीं होता है । वे जैसी ज्ञान से स्पर्शना देखते जानते, वैसा ही आचरण कर लेते हक्त । स्क धक स न्यासी भगवान के पास आया उन दिनों भगवान नित्यभोजी थे, ऐसा यहाँ पर पाठ में कथन है । अत: अन्य समय में कभी नित्यभोजी नहीं भी होवे तब तपस्या करना भी स्पष्ट हो जाता है। भगवान महावीर स्वामी ने गौशालक के उपद्रव से अभिभूत होकर भी ६ महीने तक औषध ग्रहण नहीं किया और अ त में सि हा अणगार को भेजकर निर्दोष औषध म गाकर उसका सेवन भी किया था । इस प्रकार भगवतीसूत्र के इन दोनों वर्णन से भी यह स्पष्ट होता है कि भगवान आहार, उपवास, औषध आदि के स ब ध में अनाग्रही वृत्ति वाले थे ।इस सूत्र अनुसार दिगंबरों के द्वारा भगवान के लिये और केवलियों के लिये एकांत आहार का निषेध करना स्पष्ट ही गलत सिद्ध होता है परंतु वे इन आगमों को ही अस्वीकार करके बेधडक बन गये हैं, उन्हें कुछ कहे जाने का स्थान भी नहीं रहता है ।

निबंध-१०९

तुंगिया नगरी के श्रावकों के गुण

ऐहिक ऋद्धि- **(१)** वे श्रमणोपासक ऋद्धिस पन्न थे। **(२)** प्रभाव-शाली थे या सदा प्रसन्न रहने वाले थे । **(३)** उनके ल बे चौडे अनेक भवन थे । **(४)** आसन, शयन, वाहनों की उनके वहाँ प्रचुरता थी । **(५)** बहुत धन था और सोने-चा दी के भी भ डार भरे रहते थे । **(६)** लेन-देन एव व्याज का धंधा करने वाले थे। **(७)** खाने के बाद बहुत भोजन उनके घरों में बचता था, जो अनेक लोगों को एव काम करने वालों को दिया जाता था। **(८)** उनके घरों में काम करने वाले अनेक

दास-दासी, नौकर, कर्मचारी आदि रहते थे, गायें-भसें, भेड-बकरे आदि अनेक पशु भी रहते थे । (९) अनेक लोगों में ऋद्धि और प्रतिष्ठा की अपेक्षा वे अपराभूत थे अर्थात् अनेकों से वे अधिक ऋद्धि स पन्न थे ।

धार्मिक आत्मगुण- (१) **अभिगय जीवाजीवे**-जीव तथा अजीव तत्त्व के स्वरूप को समझकर आत्मसात् किया था । पुण्य-पाप तत्त्व के अर्थ-परमार्थ को समझकर हृदय गम किया था । आश्रव, स वर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, ब ध और मोक्ष के स्वरूप, साधन, आचरण को तथा ब धन और उससे मुक्ति के स्वरूप को समझे हुए थे । इस प्रकार वे ९ तत्त्व २५ क्रियाओं के तलस्पर्शी ज्ञाता थे । हेय, ज्ञेय, उपादेय तत्त्वों के ज्ञानी, तत्त्वज्ञ, तत्त्वाभ्यासी, तत्त्वानुभवी, तत्त्वस वेदक और तत्त्वदृष्टा विद्वान थे । (२) अपने सुख-दु:ख को समभावपूर्वक सहन करते हुए कोई भी देवी-देवता से सहाय की आका क्षा-इच्छा वे नहीं करते थे । अपनी धर्म श्रद्धा में वे इतने दृढ मनोबली अनुभवी थे कि कोई भी देव-दानव उन्हें धर्मश्रद्धा से विचलित नहीं कर सकता था । (३) निर्ग्रंथ प्रवचन में अर्थात् जिनेश्वर भाषित किसी भी तत्त्व या आचार में स देह रहित स देहातीत थे, धर्म एव धर्मफल में उन्हें अ श मात्र भी श का नहीं थी। जिनधर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों में या उनके प्रवक्ताओं में उनकी कोई आका क्षा या आकर्षण भी नहीं था । अत: वे अपने प्राप्त जिनधर्म में निष्ठा, रुचि से पूर्ण स तुष्ठ थे । (४) उन्होंने जिनधर्म के सूक्ष्म या गहन अथवा सामान्य से लगने वाले, यों सभी तत्त्वों का चि तन मनन कर, योग्य प्रश्न चर्चा से उनके परमार्थ को, रहस्य ज्ञान को प्राप्त किया था एव उसे आत्मा में विनिश्चित दृढीभूत किया था । (५) धर्मप्रेम स ब धी अनुराग- आस्था-निष्ठा उनकी नश-नश में रग-रग में भरी हुई थी, उनके हाड-हाड में धर्मर ग उतर चुका था । (६) **'अयमाउसो ! णिग्ग थे पावयणे अट्ठे...।'** उनके धर्म र ग की उत्कृष्टता इस प्रकार प्रमाणित थी कि वे जब जहाँ भी कुछ श्रावक इकट्ठे होते, धर्मचर्चा होती तो उनके अ तर के सहज शब्द निकलते थे कि इस जीवन में कुछ भी सारभूत तत्त्व है तो वह निर्ग्रंथ प्रवचन ही एक मात्र अर्थभूत है, परमार्थ स्वरूप है, प्रयोजन भूत है । शेष सभी स सार प्रप च असारभूत है, अनर्थभूत है, दु:खदायक या दु:खमूलक

है । (७) **उसिहफलिहा-अव गुयदुवारा-** वे उदार थे, दानी थे, उनके घर के द्वार सदा याचकों के लिये खुल्ले रहते थे अर्थात् कोई भी याचक वहाँ से कुछ न कुछ पा लेता था । सभी के लिये उनके भाव उदार थे, दिल दरियाव था । उन्हें किसी से किसी प्रकार का भय नहीं था, खुले द्वार वाले थे । (८) **चियत्त अ तेउर-घर-पवेसा-** किसी भी घर या राजा के रणवास में उनका प्रवेश चियत्त= प्रतीतकारी था अर्थात् उनका शील-समाचरण, जीवन-व्यवहार, समाज में लोगों में एव राज्य में पूर्ण विश्वस्त था। उनका चारित्र-स्वदार स तोषव्रत निर्मल था ख्याति प्राप्त था । (९) वे अनेक प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान, अणुव्रत-गुणव्रत, सामायिक-पौषध आदि धारण करने में उत्साही आलस्य रहित थे । (१०) श्रमण निर्ग्रंथ को यथाप्रस ग उनकी अनुकूलता अनुसार आहारादि १४ प्रकार के निर्दोष तथा स यम सहायक पदार्थ का दान देते हुए स्वय भी यथाशक्ति तप स यम का आचरण करने वाले थे । आत्मा को उसी में भावित करने वाले थे ।

ये गुण प्रत्येक श्रावक में होने चाहिये, आगम में श्रेष्ठ आदर्श श्रमणोपासक के वर्णन में प्राय: ये विशेषण-गुण सर्वत्र विस्तृत या स क्षिप्त किसी न किसी रूप में प्राप्त होते हक्त । भौतिक जीवन की विशालता और धार्मिक जीवन की महानता दोनों के सुमेल युक्त श्रावक का जीवन श्रेष्ठ एव आदर्श गिना जाता है ।

निबंध-११०

ईशानेन्द्र का पूर्वभव

दूसरे देवलोक का इन्द्र ईशानेन्द्र पूर्व भव में तामली तापस था। उसने तापसी दीक्षा ली थी । उसका कथानक इस प्रकार है-

ताम्रलिप्ति नगरी में मौर्यव श में उत्पन्न मौर्यपुत्र **तामली** नामक गाथापति शेठ रहता था । वह धनाढ्य एव ऋद्धि स पन्न था और अनेक मनुष्यों द्वारा सन्मानित था । एक बार रात्रि में उसे विचार हुआ कि पुण्य से प्राप्त इस सामग्री का एका त भोग करके एक मात्र क्षय करना ही उपयुक्त नहीं है । मुझे पुण्य रहते एव समय रहते कुछ आत्मसाधना करनी चाहिये । तदनुसार उसने **प्राणामा प्रव्रज्या**

ग्रहण करने का निर्णय किया । लौकिक व्यवहार के पालने हेतु अनेक स्वजन-परिजनों को निम त्रित करके, भोजनोपरा त सब को स बोधित सूचित कर, सत्कारित सन्मानित करके, पुत्रों को कुटु ब का भार सोंपकर, फिर सभी की सम्मति, स्वीकृति लेकर, प्राणामा प्रव्रज्या स्वीकार की । दीक्षा ली जब से बेले-बेले पारणा करने का जीवन भर का अभिग्रह- नियम किया । पारणे में तामली तापस काष्ट पात्र में शुद्ध भोजन भिक्षाचरी से प्राप्त कर उसे जल में २१ बार धोकर नीरस बनाकर आहार करते थे । इस प्रकार की चर्या का पालन तामली तापसने ६०,००० साठ हजार वर्ष पर्यंत निर तर किया फिर दो महीने का पादपोपगमन स थारा उसी ताम्रलिप्ति नगरी के बाहर किया ।

प्राणामा प्रव्रज्या- इस प्रव्रज्या वाला देव मानव दानव पशुपक्षी जिस किसी को उपर, नीचे या तिरछे जहाँ देखे वहीं उनको अत्य त विनयपूर्वक प्रणाम करता है । जो भी सामने मिले उसे भी प्रणाम करता है ।

साठ हजार वर्ष तक इस प्रकार का विनय, बेले-बेले तप तथा पारणे में २१ बार जल से धोया हुआ आहार अर्थात् उच्चकोटि के आय बिल आहार से उसने अपने औदारिक शरीर को तथा कार्मण शरीर को अत्य त कृश कर दिया, हाडपि जर जैसा शरीर बन जाने पर भी समय रहते अनशन की आराधना प्रार भ कर दी ।

उस समय असुरकुमार जाति के भवनपति देवों की बलिच चा राजधानी, इन्द्र (बलीन्द्र)से खाली थी अर्थात् वहाँ के इन्द्र का च्यवन हो चुका था, नया इन्द्र जन्मा नहीं था । वहाँ के अनेक देव-देवियों ने उपयोग लगाकर तामली तापस को स थारे में देखा और अनेक देव-देवियों ने तामली तापस के पास आकर विनयपूर्वक निवेदन किया कि आप नियाणा करके हमारी राजधानी में इन्द्र रूप में उत्पन्न हो जाओ । अनेक प्रयत्न करने पर भी वह तापस उनके किसी प्रलोभन में नहीं आया और निष्काम नियाणा रहित साधना स थारा पूर्ण करके दूसरे देवलोक में ईशानेन्द्र रूप में उत्पन्न हुआ ।

बलिच चा राजधानी के देव-देवियों ने जब तामली तापस को

कालधर्म प्राप्त हुआ एव ईशानेन्द्र रूपमें उत्पन्न हुआ जाना-देखा तो अत्य त कुपित होकर मनुष्य लोक में आकर उसके शरीर की कदर्थना करी ।मूँज की रस्सी बा ये पाँव में बा धकर घसीटते हुए, तिरस्कारात्मक घोषणा करते हुए नगरी में घूमाया और अ त में गाँव के बाहर एक तरफ फेंक कर चले गये । इस हकीगत को अपने देवों द्वारा जानकर ईशानेन्द्र ने क्रोधित होकर अपने से नीचे एकदम सीध में रही बलिच चा राजधानी को अपनी तेजोलेश्या युक्त एकाग्र दृष्टि से देखा । जिससे वह बलिच चा राजधानी ईशानेन्द्र के दिव्य प्रभाव से अ गारा समान लाल होकर तपतपायमान होने लगी। वहाँ के देव-देवी हेरान परेशान होकर घबराने लगे, इधर उधर भागने लगे । आखिर असह्य स्थिति होने पर एव ईशानेन्द्र के क्रोध प्रभाव को समझकर नम्र बनकर अनुनय विनय करते हुए ईशानेन्द्र से क्षमायाचना करी एव आगे से ऐसा कभी नहीं करने का स कल्प लिया । तब ईशानेन्द्र ने अपने दिव्य प्रभाव से तेजोलेश्या को स हरित कर लिया ।

इसी प्रस ग से ईशानेन्द्र ने तिरछा लोक में अपनी साधना नगरी ताम्रलिप्ती को एव राजगृही नगरी में विराजित श्रमण भगवान महावीर स्वामी को देखा । ईशानेन्द्र प्रभु के अतिशय से प्रभावित होकर अपनी ऋद्धि सहित भगवान के दर्शन करने, पर्युपासना करने आया । भगवान के समवसरण में **सूर्याभदेव** के समान ३२ प्रकार के नाटक दिखा कर चला गया । तब गौतम स्वामी के प्रश्न करने पर उत्तर में प्रभुने इस उपरोक्त घटना का दिगदर्शन किया ।

प्रश्न- ईशानेन्द्र पूर्वभव में तामली तापस था तो वह भगवान महावीर के दर्शन करने राजगृही में कैसे आया ?

उत्तर- तापस के भव में बेले-बेले पारणा और पारणे में २१ बार आहार को धोकर खाना तथा दो महीने का पादपोपमगमन स थारा, उसमें भी बलिच चा राजधानी के देव-देवीयों के प्रलोभन में नहीं आना एव नियाणा नहीं करना; ऐसी विकट तपमय आदर्श साधना के प्रभाव से वह अत्य त हलुकर्मी बन गया था । फिर देवगति स्वभाव से विशिष्ट अवधिज्ञान के कारण अपनी नगरी को तथा अपने शरीर को देखने में उपयोग लगाने पर महावीर स्वामी को भी देखा । उनके अतिशयों से

तथा साधु स पदा, आचार स पदा आदि से प्रभावित मानस से वह शुभ चि तन, शुभ अध्यवसायों से देवगति में भी सम्यग्दृष्टि बन सकता है और सम्यग्दृष्टि हो जाने पर भगवान के दर्शन करने जाने का भाव सहज हो सकता है ।

पर परा में ऐसा भी माना जाता है कि पादपोपगमन स थारे के समय पिछले दिनों कभी उसने उधर से जाते-आते ईर्या समिति युक्त एकाग्र दृष्टि से चलते जैन श्रमणों को देखा था, तब अनुप्रेक्षा करते हुए उसे जैन आचार पर सम्यग्श्रद्धा उत्पन्न होने से (त्यागी तपस्वी हलुकर्मी तो था ही) सहज भावों से समकित की प्राप्ति हो गई थी और उसी परिणामों में स थारे को पूर्ण कर सम्यग्दृष्टि सहित ईशानेन्द्र बना था ।

सार यह है कि वह भगवान के पास भक्ति से दर्शन करने गया था और भगवान को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी स्वीकार करते हुए गौतमादि को अपनी ऋद्धि ३२ नाटक द्वारा बताई और भक्ति पूर्वक व दन करके चला गया । इस वर्णन से भी उस इन्द्र का उस समय सम्यग्दृष्टि होना स्पष्ट होता है । ग्र थों में यह भी प्रसिद्ध है कि वर्तमान के ६४ ही इन्द्र सम्यग्दृष्टि हक्त तथा एक मनुष्य भव करके मोक्ष जाने वाले हक्त । अत: दानामा प्रव्रज्या की पालना करके इन्द्र बना हुआ वह चमरेन्द्र भी सम्यग्दृष्टि है तथा एक भव करके मोक्ष जाने वाला है । प्रत्येक जीव ने ६४ इन्द्र रूप में अन त भव किये हक्त इस कथन अनुसार कोई भी इन्द्र कभी भी मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि दोनों प्रकार के हो सकते हक्त । केवल वर्तमान के ६४ इन्द्रों को सम्यग्दृष्टि एव एक भवावशेषी मोक्षगामी मानने की पर परा है ।

निबंध-१११

चमरेन्द्र का जन्म और अहंभाव

भरत क्षेत्र के विंद्याचल पर्वत की तलेटी में 'बेभेल' नामक सन्निवेश था । वहाँ पूरण नामक गाथापति रहता था । उसने भी 'तामली' के समान समय पर साधना कर लेने का निर्णय करके **दानामा** प्रव्रज्या अ गीकार करी । चौमुखी काष्ट पात्र में भिक्षा ग्रहण करता

था । पात्र के पहले खाने में आया आहार पथिकों को, दूसरे खाने का आहार कौवे-कुत्ते आदि को, तीसरे खाने में प्राप्त आहार जलचर मच्छ-कच्छ को देकर चौथे खाने में प्राप्त आहार से बेले-बेले निर तर पारणा करता था । १२ वर्ष तक इस प्रकार तपस्या करके शरीर के अत्यधिक कृश हो जाने पर उसी नगर के बाहर पादपोपगमन स थारा धारण किया । एक महीने के स थारे से काल करके चमरच चा राजधानी में चमरेंद्र रूप में उत्पन्न हुआ ।

पर्याप्त होते ही स्वाभाविक अवधिज्ञान के उपयोग से उपर सीध में शक्रेन्द्र को देखा, अज्ञानवश कोपायमान हुआ और सामानिक देवों को स बोधन कर पूछा- यह मेरे उपर कौन बैठा है ? सामानिक देवों ने उसे जय-विजय के शब्दों से वधाया और कहा कि यह महान ऋद्धिस पन्न प्रथम देवलोक का इन्द्र है । ऐसा सुनकर वह क्रोध मे अत्यधिक लाल-पीला हो गया । स्वयं ही शक्रेन्द्र की आशातना करने जाने का निर्णय किया । अवधिज्ञान से प्रभू महावीर को ध्यानस्थ देखा और सोचा कि भगवान की शरण लेकर जाना ही उचित होगा । अपनी शय्या से उठकर खडा हुआ देवदूष्य वस्त्र का परिधान करके शस्त्रागार से **परिघरत्न** नामक शस्त्र लेकर अकेला ही चमरच चा राजधानी से निकला, निकलकर तिरछालोक में अपने उत्पात पर्वत पर आकर वैक्रिय रूप बनाकर सु सुमार नगर के बाहर उद्यान में जहाँ पर भगवान अट्ठम भक्त युक्त १२वीं भिक्षुपडिमा धारण किये हुए ध्यानस्थ खडे थे वहाँ पर आया और भगवान को व दन नमस्कार करके इस प्रकार बोला कि हे भगवन्! मक्त आपकी निश्रा लेकर शक्रेन्द्र की आशातना करने जा रहा हूँ । ऐसा बोलकर वहाँ से उत्तरपूर्व में कुछ दूर जाकर आकाश में एक लाख योजन का विकराल शरीर बनाया और ज्योतिषी विमानों को इधर उधर हटाता हुआ, आत क मचाता हुआ प्रथम देवलोक की सुधर्मा सभा तक पहुँच गया । देवलोक की इन्द्र कील को अपने **परिघरत्न** शस्त्र से प्रताडित करके इस प्रकार बोला- कहाँ है शक्रेन्द्र ? कहाँ है उसके सामानिक देव ? कहाँ है उसके आत्मरक्षक देव और कहाँ है उसकी अप्सराएँ ? आज में शक्रेन्द्र का हनन करु गा और सब को मेरे वश में अधीनस्थ करु गा, ऐसा बोलते हुए वह शक्रेन्द्र को अत्य त अनिष्ट,

अका त, अप्रिय, अमनोज्ञ, अशुभ शब्दों से तिरस्कृत करने लगा । तब शक्रेन्द्र ने कोपित होकर चमरेन्द्र को स बोधन करके अपमान सूचक शब्द प्रयोग करके सि हासन पर बैठे-बैठे ही अपने **वज्र** शस्त्र को ग्रहण कर चमरेन्द्र को मारने के लिये फेंक दिया । उस वज्र से हजारों चिनगारियाँ ज्वालाएँ निकल रही थी । जिससे वह वज्र आँखों को भी चकाचौंध कर दे वैसा महाभय कर, त्रासजनक दिखता था ।

उसे देखते ही चमरेन्द्र का घम ड-गुस्सा नष्ट हो गया वह तो डरकर उलटा शिर करके भागा अर्थात् नीचे शिर उपर पाँव करके तत्काल भगवान की शरण में पहुँच गया और **'भगवान आप का शरणा'** ऐसा बोल कर भगवान के दोनों पाँवों के बीच में छोटा रूप बनाकर छुप गया । नीचे आने में उसका स्वस्थान होने से उसकी तीव्र गति होना स्वाभाविक है । शक्रेन्द्र और उसका शस्त्र उसे पहुँच नहीं सका । भगवान महावीर की शरण लेकर आया ऐसा मालुम पडने पर शक्रेन्द्र भी शस्त्र को पकडने के लिये तत्काल चला और भगवान के मस्तक से चार अ गुल दूर रहे वज्र को शक्रेन्द्र ने पकड लिया । तब शक्रेन्द्र की मुट्ठी की हवा से भगवान के मस्तक के बाल मात्र प्रक पित हुए ।

शक्रेन्द्र ने विनयपूर्वक भगवान से हकीगत निवेदन कर क्षमा मा गी फिर कुछ दूर जाकर भूमि को तीनबार बाये पाँव से आस्फालन करके, चमरेन्द्र को स बोधन करके कहा कि 'भगवान के प्रभाव से तुम्हें छोडता हूँ, अब तुम्हें मुझ से कोई भय नहीं है' ऐसा कहकर शक्रेन्द्र चला गया और चमरेन्द्र भी शक्रेन्द्र से महान अपमानित बना हुआ चुपचाप चला गया । फिर अपनी रिद्धि सहित पुनः उसी स्थान पर आया और भगवान को भक्तिपूर्वक व दन नमस्कार किया । अपनी कृतज्ञता प्रगट करी, क्षमा याचना करी तथा ३२ प्रकार के नाटक दिखाकर चला गया ।

यह हकीगत-घटना भगवान ने गौतम स्वामी के पूछने पर निरुपित की है और पूछने का कारण भी यही था कि उस समय भी राजगृही नगरी में चमरेंद्र भगवान के दर्शन करने के लिये आया था एव गौतमादि अणगारों को अपनी ऋद्धि तथा ३२ प्रकार के नाटक

दिखाकर चला गया था । इसी कारण से उसके जाने के बाद गौतम स्वामी ने उसका भूतकाल जानने की जिज्ञासा से प्रश्न किया था ।

उपर जाने में शक्रेन्द्र की गति तेज होती है चमरेन्द्र की कम। नीचे जाने में चमरेन्द्र की गति तेज और शक्रेन्द्र की कम होती है। वज्र की गति दोनों इन्द्रों से कम होती है नीचे-उपर जाने में ।

प्रश्न- चमरेन्द्र की देवलोक में जाने की घटना में अरिह त और भावितात्मा अणगार के शरण की बात कही है तो क्या म दिर मूर्ति की शरण भी ली जा सकती है ?

उत्तर- (१) कोई प्रति में **अरिह त चेइयाइ** पाठ भी है कि तु प्राचीन प्रतियों में वैसा पाठ नहीं है । (२) अरिह त और अणगार के लिये एक वचन का प्रयोग है तो अरिह त चैत्य के पाठ में बहुवचन का प्रयोग भी स देहोत्पत्ति का कारण है । (३) शरण अपने से बलवान की ली जाती है, म दिर मूर्ति तो अपना भी रक्षण नहीं कर सकती, वहाँ चोर चोरी कर जाते हक्त कभी सरकार भी जप्त कर लेती है ।(४) कहीं कोई मूर्ति देवाधिष्ठित हो तो भी वे देव भूत या यक्ष, चमरेन्द्र के सामने तुच्छ होते हक्त और अरिह त सिद्ध तो उस मूर्ति में कभी वापिस आते ही नहीं है । अतः चमरेन्द्र को शक्रेन्द्र की आशातना करने में शरण तो शक्रेन्द्र से भी बलवान की चाहिये, वह मूर्ति में कभी भी स भव नहीं है । अतः अरिह त और भावितात्मा अणगार दो की शरण का पाठ ही उपयुक्त है । (५) शक्रेन्द्र ने वज्र फेंकने के बाद चि तन किया कि किसी की शरण बिना चमरेन्द्र नहीं आवे तो इस चि तन के पाठ में अरिह त और भावितात्मा अणगार दो ही शब्द सभी प्रतियों में है । तो चमरेन्द्र के शरण लेने के चि तन में मूर्ति का पाठ होना और शक्रेन्द्र के शरण के चि तन में बिना मूर्तिका पाठ होना भी स देह को प्रकट करता है । एक ही प्रकरण में दो प्रकार का पाठ उपयुक्त नहीं कहा जा सकता । **अरिह त चैत्य** शब्द जो भी प्रति में आये हक्त वे उचित नहीं है ऐसा मानना ही समाधानकारक है । अतः दो की शरण का पाठ ही स देह रहित और योग्य होने से स्वीकार्य है ।

निबंध-११२

अचित पदार्थ किसका मुक्केलक

पृथ्वी, पानी, नमक, वनस्पति के फूल-पत्ते आदि सचित्त पदार्थ अग्नि पर चढे बिना सूर्य के ताप से या अन्य तीक्ष्ण क्षार-अम्ल पदार्थों से अचित्त हो जाय तो वे अपने मूलभूत-पृथ्वी, पानी के या वनस्पति के शरीर (मुक्तशरीर) कहलाते हक्त । जब कोई भी नमक, पानी या वनस्पति के पदार्थ आदि अग्नि से तप्त होकर अचित्त बनते हक्त तो वे अग्नि के मुक्त शरीर कहलाते हक्त । पूर्वभाव की अपेक्षा से उन्हें पृथ्वी, पानी या वनस्पति के शरीर कह सकते हक्त । पर तु अन तर तो वे पदार्थ अग्नि परिणामित हो जाने से अग्नि के परित्यक्त शरीर कहे जाते हक्त । इसका कारण यह है कि कोई भी पदार्थ अग्नि से परितप्त होता है अमुक मात्रा में गर्म होने पर वह पूरा अग्नि जीवों से ग्रहित हो जाता है वह पूरा पदार्थ अग्नि जीव पि ड बन जाता है और अग्नि पर से हटा लेने के बाद तुर त अचित्त हो जाता है । जैसे कि दीपक टयूबलाइट बल्ब बुझते ही पूर्ण अचित्त हो जाते हक्त । अग्नि जीवों का ऐसा ही स्वभाव होता है कि अग्नि जलते ही जीव आकर जन्म जाते हक्त और अग्नि बुझते ही सभी अग्नि जीव मर जाते हक्त । ठीक वैसे ही अग्नि पर तप्त होने वाले पदार्थ अमुक डिग्री के ताप में अग्निकाय जीवमय बन जाते है और अग्नि से अलग कर दिये जाने पर तत्काल अचित्त हो जाते हक्त । यथा- गर्म दूध अग्नि से उतारते ही अन तर अग्निजीव शरीर है और पर परा से वह दूध प चेन्द्रिय त्यक्त शरीर है ।

निबंध-११३

हरिणेगमेषी देव संबंधी सही जानकारी

इसके लिये यहाँ उद्देशक-४ में पाठ इस प्रकार है- **हरी ण हरिणेगमेसी सक्कदूए इत्थि गब्भ स हरमाणे..।** 'हरी' यह व्यक्तिगत विशेष नाम है, **हरिणैगमेषी** यह स स्कृत छाया बनती है । इसमें तीन शब्द का पदच्छेद होता है- हरि = इन्द्र; नैगम = निर्देश वचन, आदेश

वचन; ऐषी = अपेक्षा रखने वाला, स्वीकारने वाला । प्रथम देवलोक के इन्द्र शक्रेन्द्र के आदेश को स्वीकारने वाला आज्ञाकारी देव । सक्कदूए- दूत कर्म करने वाला, स देशवाहक। अपना विश्वस्त व्यक्ति दूतकर्म योग्य होता है- (१) यह शक्रेन्द्र की सात सेना में से पैदल सेना का अधिपति-मुखिया और सेनापति देव भी है, ऐसा अन्यत्र वर्णन में आता है (२) यहाँ के शब्द प्रयोग अनुसार यह शक्रेन्द्र का विश्वस्त सेवक-दूत भी है (३) गुणस पन्न व्युत्पत्ति अर्थ वाला प्रसिद्ध नाम है हरिणैगमेषी देव । (४) व्यक्तिगत नामकरण से यह 'हरी' नाम वाला हरिणैगमेषी देव है ।

प्रस्तुत में इस देव की अपनी विशेष कार्य कुशलता दर्शाई गई है । पैदल सैना का अधिपति और शक्रेन्द्र का दूत होते हुए भी यह देव गर्भ स हरण की कला में सिद्धहस्त (स्पेश्यालिस्ट) होता है । किसी भी गर्भ को अन्यत्र लेजाने के लिये वह योनिद्वार से ही गर्भ को निकालता है तथापि वह नख से या शरीर के रोम से भी गर्भ को निकाल सकता है और निकालते हुए भी गर्भ को कि चित् भी कष्ट नहीं होने देता है इतनी सूक्ष्मता से गर्भ स हरण का कार्य करने में यह देव दक्ष होता है ।

इसीलिये गर्भ स हरण के प्रस ग वाले आगम कथानकों में इसी देव का नामोल्लेख है । अ तगड में कृष्ण वासुदेव के पौषध समय में यही देव उपस्थित हुआ था, उसके सूचन अनुसार गजसुकुमाल का जन्म और दीक्षा हुई थी । कृष्ण के छ बडे भाइयों का भी स हरण स्थाना तरण इसी देव ने किया था । भगवान महावीर को देवान दा के गर्भ से हटाकर त्रिशला माता के गर्भ में शक्रेन्द्र की आज्ञा से इसी देव ने रखा था ।

निबंध-११४

देवों को मन:पर्यवज्ञान जैसी क्षमता

मन:पर्यव ज्ञान मुनियों को, श्रमणों को ही हो सकता है । देवों को विशिष्ट अवधिज्ञान हो तो वे मन में मनन किये गये रूपी द्रव्यों को जान देख सकते हक्त । रूपी द्रव्यों को जानना अवधिज्ञान का

विषय है । मन-वचन भी रूपी ही है अरूपी नहीं है । इस विषय को दर्शाने वाली एक घटना यहाँ चौथे उद्देशक में वर्णित है । वह इस प्रकार है- एक बार दो देव भगवान की सेवा में आये मन से ही व दन नमस्कार किया, मन से ही प्रश्न पूछा, भगवान ने भी मन से उत्तर दिया । देव स तुष्ट हुए । व दन नमस्कार कर यथास्थान बैठकर पर्युपासना करने लगे । गौतम स्वामी को जिज्ञासा हुई कि ये देव किस देवलोक से आये ? गौतम स्वामी उठकर भगवान के समीप गये, व दन करके पूछना चाहते ही थे कि स्वत: ही भगवान ने स्पष्टीकरण कर दिया कि तुम्हें यह जिज्ञासा हुई है । ये देव ही तुम्हारी जिज्ञासा का समाधान कर देंगे । गौतम स्वामी ने पुन: भगवान को व दन नमस्कार किया और देवों के निकट जाने के लिये तत्पर हुए । देवों ने अपनी तरफ आते हुए गौतम स्वामी को देखकर स्वय प्रसन्न वदन गौतम स्वामी के निकट गये व दन नमस्कार किया और कहा- हम आठवें सहस्रार देवलोक के देव हक्त । हमने मन से ही व दन नमस्कार करके प्रश्न पूछा समाधान भी मन से ही पाया और पर्युपासना कर रहे हक्त । हमारा प्रश्न था भगवान के शासन में भगवान के जीवन काल में कितने जीव मोक्ष जायेंगे ? उत्तर मिला कि ७०० श्रमण इस भव में मोक्ष जायेंगे । [***इस पाठ के अनुसार गौतम स्वामी के १५०० केवली को लेकर भगवान के समवशरण में आने की बात बराबर नहीं है । क्यों कि उस समय भगवान का शासन ही चल रहा था ।***]

यहाँ देवो स ब धी वर्णन करते हुए यह भी समझाया गया है कि भले यह स्पष्ट है कि देव अस यत होते हक्त, उनमें ४ गुणस्थान ही होते हक्त । फिर भी भगवान ने गौतम स्वामी के पूछने पर यही समझाया कि देवों को अर्थात् उनके समक्ष उन्हें असय त नहीं कहना क्यों कि वह निष्ठुर वचन है । पुण्यवान पुरुषों को उनके समक्ष निष्ठुर वचन कहना अविवेक एव असभ्यता का द्योतक है । उसी सत्य भाव को अन्य शब्दों में, भाषा में कहा जा सकता है अर्थात देव को **नोस यत** कहा जा सकता है । स यत और स यतास यत ये दोनों भी देवता के लिये नहीं कहे जा सकते हक्त । क्यों कि ऐसा कहने में असत्य वचन का दोष लगता है ।

देवों की भाषा अर्धमागधी है । जिस तरह स स्कृत, प्राकृत, अपभ्र श आदि भाषा कोई देश विशेष से स ब धित नहीं है किसी भी क्षेत्र से अप्रतिबद्ध स्वत त्र भाषा है वैसे ही अर्धमागधी देवों की भाषा **मनुष्य लोक के किसी क्षेत्र** से प्रतिबद्ध न होकर स्वत त्र अनादि शाश्वत भाषा है ।

व्युत्पत्ति अर्थ करते हुए इसे मागध देश की मुख्यता वाली मिश्रित भाषा भी माना जाता है । तथापि सभी तीर्थंकरों एव देवों की अनादि भाषा होने की दृष्टि से किसी देश विशेष से स ब धित नहीं करना ही उचित होता है ।

केवली का मन एव वचन प्रकृष्ट अर्थात् स्पष्ट होता है जिसे वैमानिक सम्यग्दृष्टि देव पर्याप्त एव उपयोगव त होवे तो अवधिज्ञान से जान सकते हैं । मिथ्यादृष्टि आदि नहीं जान सकते हैं ।

अनुत्तरविमान के देवों को भी अवधिज्ञान विशिष्ट होता है। जिससे उन्हें मनोद्रव्यवर्गणा लब्ध होती है । इसलिये वे देव वहाँ पर रहे हुए ही मनुष्य लोक में विचरने वाले केवलज्ञानी से वार्तालाप प्रश्नोत्तर कर सकते हक्त, समझ सकते हक्त । अनुत्तर विमान के देवों के **मोहकर्म** अत्य त उपशा त होता है । पूर्व भव की सम्यग् आराधना का यह प्रभाव है ।

निबंध-११५

आचार्य उपाध्याय के कर्तव्य पालन का फल

यहाँ उद्देशक-६ के अ त में बताया गया है कि जो आचार्य-उपाध्याय रुचिपूर्वक, उत्साहपूर्वक, खेद बिना अपनी जिम्मेदारी का यथार्थ पालन करते हक्त; अपना स यम उन्नत करते हुए सभी निश्रागत श्रमण-श्रमणियों का स यम भी उन्नत होने का ध्यान रखते हक्त; इस प्रकार के कर्तव्य पालन एव अपना स यम पालन करते हुए वे आचार्य-उपाध्याय सर्व कर्म क्षय करे तो उसी भव में मुक्त होवे, इतना लाभ प्राप्त करते हक्त; कर्म अवशेष रहे तो दूसरे या तीसरे मनुष्य भव से अवश्य मुक्त हो जाते हक्त । बीच के दो भव देव के गिनने से उत्कृष्ट पाँच भव करके अवश्य मुक्त होते हक्त । यदि आचार्य आदि कोई भी

किसी पर झूठा आक्षेप लगाते हक्कों उन्हें भी उसी प्रकार के आक्षेप लगने का फल शीघ्र मिलता है ।

निबंध-११६

श्रावक अनारंभी नहीं-सूक्ष्म अनुमोदन चालू

आर भ- कोई द डक में अव्रत की अपेक्षा जीव आर भ युक्त है और कोई साक्षात् छ काय जीवों की हिंसा करने से आर भ युक्त है । कुल मिलाकर २४ ही द डक के जीव आर भी है, अनार भी नहीं । मात्र मनुष्य में आर भी भी है और अनार भी भी है । अप्रमत्त स यत आदि उपर के गुणस्थानवर्ती मनुष्य अनार भी होते हक्क । छट्ठे गुणस्थान के मनुष्य आर भी-अनार भी दोनों होते हक्क । एक से पाँच गुणस्थान के सभी जीव आर भी है, अनार भी नहीं । अपेक्षा से पाँचवें गुणस्थान वाले क्वचित् आजीवन अनशन आदि में अनार भी हो सकते हक्क, परन्तु उसे यहाँ गौण किया गया है तथा श्रावक के कुछ करण-योग पौषध में भी खुले होते हक्क एव स थारे में तीन करण तीन योग के प्रत्याख्यान होते हुए भी गृहस्थ सेवा परिचर्या करते हक्क अत: गृहस्थ सहयोग खुला होने से पूर्णता की अपेक्षा अनारंभी नहीं कहा गया है । सूक्ष्म-अनुमोदन रूप आर भ चालु रहने से वे अनार भी नहीं होते हक्क ।

परिग्रह- नारकी और एकेन्द्रिय में- शरीर, कर्म एव सचित्त, अचित्त, मिश्र द्रव्यों का परिग्रह होता है । देवताओं में- शरीर, कर्म, भवन, विमान, देव-देवी, मनुष्य-मनुष्याणी, तिर्यंच-तिर्यंचाणी, आसन, शयन, भ डोपगरण एव अन्य सचित्त अचित्त मिश्र द्रव्यों का परिग्रह होता है ।

विकलेन्द्रियों में- शरीर, कर्म और सचित्त अचित्त मिश्र द्रव्य तथा बाह्य भ डोपकरण, स्थान आदि का परिग्रह हो सकता है ।

तिर्यंच प चेंद्रियों में- शरीर, कर्म, सचित्त अचित्त मिश्र द्रव्य, जलीय स्थान-तालाब, नदी आदि । स्थलीय स्थान- पर्वत, ग्रामादि, वन उपवन आदि, घर मकान, दुकान आदि, खड्डे खाई कोट आदि, तिराहे चौराहे आदि, वाहन बर्तन आदि, देव देवी, मनुष्य मनुष्याणी, तिर्यंच तिर्यंचाणी, आसन, शयन, भ डोपकरण ।

मनुष्य में- तिर्यंच प चेन्द्रिय के समान है । विशेषता- धन स पत्ति, सोना, चाँदी आदि, खाद्यसामग्री, व्यापार, कारखाने आदि सभी प्रकार का परिग्रह तिर्यंच प चेन्द्रिय से विशेष एव स्पष्ट रूप से होता है । यों २४ ही द डक में परिग्रह स ज्ञा मानी गई है किसी में स्थूल दृष्टि से एव किसी में सूक्ष्म-सूक्ष्मतम दृष्टि से परिग्रह स ज्ञा समझी जा सकती है ।

निबंध-११७

भ॰महावीर द्वारा पार्श्व प्रभु के नाम से निरूपण

घटना उस समय की है जब गौशालक भी २४ वें तीर्थंकर के नाम से विचरण कर रहा था । पार्श्व प्रभु के शासन के कुछ स्थविर अपने यथायोग्य स घाडे से विचरण कर रहे थे । उन्होंने दो-दो २४वें तीर्थंकर के विचरने की बात जानी । एक बार कोई नगरी में भगवान महावीर स्वामी के विराजने की जानकारी हुई । उन्हें स देह था कि कौन तीर्थंकर सही है ? वे किसी समय भगवान के समीप में पहुँच कर व दन व्यवहार किये बिना ही खडे होकर सीधे ही भगवान से प्रश्न करने लगे । भगवान तो सर्वज्ञ थे उन्हें तो ऐसे व्यवहार से कोई नवाई नहीं होती थी । प्रश्न भी परीक्षात्मक था, जिज्ञासा से नहीं था इसलिये सरल बात भी चक्कर देकर पूछी थी- भ ते ! क्या, अस ख्य लोक में अन त रात-दिन बीते हक्क बीतेंगे, हुए हक्क होंगे और परित्त रात-दिन भी बीते हक्क बीतेंगे ?

स्थविरों के अ तर आशय को समझकर प्रभू ने लोक का स्वरूप पार्श्वनाथ भगवान के नाम से निरूपित किया कि- पार्श्वनाथ पुरुषादानीय अर्हंत भगव त ने शाक्तत अनादि अनवदग्र लोक कहा है । क्षेत्र से परिमित गोलाकार लोक कहा है, जो नीचे विस्तीर्ण, मध्य में स क्षिप्त और उपर विशाल है, नीचे पल्य क स स्थान, मध्य में श्रेष्ठ वज्राकार, उपर खडी मृद गाकार है । उसमें अन त जीव भी उत्पन्न होते हक्क, मरते हक्क; परित्त जीव भी उन्पन्न होते हक्क, मरते हक्क । जीवों, अजीवों से पहचाना जाता यह लोक है। अन त जीवों पर दिनरात बीतते हक्क और परित्त जीवों पर भी दिन-रात बीतते हक्क और लोक

अस ख्यप्रदेशात्मक ही है । अत: अस ख्यप्रदेशी इस लोक में अन त जीवों की अपेक्षा अन त रात-दिन और परित्त जीवों की अपेक्षा परित्त रात-दिन हुए हैक्त, होते हक्त, बीते हक्त, बीतते हक्त, नष्ट हुए है और नष्ट होवेंगे ।

इस प्रकार बिना किसी असम जस के सहज सरलता युक्त उत्तर और अपने भगवान पार्श्व प्रभू के सन्मान से भरा उत्तर सुनकर स्थविर स तुष्ट हुए और अपने मतिश्रुत की निर्मलता से निर्णय भी कर पाये कि ये ही २४वें तीर्थंकर है । ऐसा निर्णय हो जाने पर व दन नमस्कार करके वे प्रभु महावीर के शासन में पुन: महाव्रतारोपण कर दीक्षित हो गये । छेदोपस्थानीय चारित्र की मर्यादा में उपस्थित होकर तप-स यम का आराधन कर, कितने ही श्रमण उसी भव में मोक्षगामी हुए और कई देवलोक में उत्पन्न हुए ।

ऐसा भव्य जीवों के समाधान और उद्धार का प्रस ग केवलज्ञान से जानकर तीर्थंकर भी पूर्व तीर्थंकर के नाम से निरूपण कर सकते हक्त । कभी ऐसे प्रस ग पर सामने अन्य मतावल बी हो तो उनके मान्य शास्त्रों के स्थलनिर्देश पूर्वक भी तत्त्व निरूपण और श का का समाधान किया जा सकता है । उद्देश्य सही होने से सामने वाले पर सही प्रभाव होता है और उसका भला ही होता है, उद्धार हो जाता है ।

निबंध-११८

अबाधा काल और आयुष्यकर्म विचारणा

आठों कर्मों का यहाँ तीसरे उद्देशक में जघन्य उत्कृष्ट ब धकाल बताया गया है । उत्कृष्ट स्थिति के बंध के साथ यह वाक्य है यथा- ज्ञानावरणीय कर्म ब ध में- ***उक्कोसेण तीस सागरोवम कोडाकोडीओ, तिण्णि य वाससहस्साइ अबाहा, अबाहुणिया कम्मठिई कम्मणिसेगो।***

अर्थ- ज्ञानावरणीय कर्म का उत्कृष्ट ब ध ३० कोडाकोडी सागरोपम का होता है उसमें से तीन हजार वर्ष का अबाधाकाल होता है । इस अबाधाकाल जितना छोडकर शेष कर्म स्थिति में कर्म पुद्गलों की निषेक रचना होती है । तात्पर्य यह है कि अबाधाकाल जितनी तीन हजार वर्ष की स्थिति में कर्मप्रदेश ब ध न होकर शेष ३० कोडाकोडी

सागरोपम की स्थिति में कर्मप्रदेशों की निषेक रचना युक्त ब ध होता है । इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि ३००० वर्ष की स्थिति तक प्रदेशब ध भी नहीं होने से प्रदेशोदय या विपाकोदय कुछ भी नहीं होता है । सात कर्मों के लिये उपरोक्त स्पष्ट पाठ है अत: उन सातों कर्मों के उत्कृष्ट स्थिति ब ध में अबाधाकाल जितना समय न्यून समय की ही कर्म पुद्गलों के ब ध की निषेक रचना होती है और उस अबाधा-काल के समय के बीतने के बाद ही प्रदेशोदय या विपाकोदय का जैसा भी स योग होता है, वह कर्म उदय में आता है ।

आयुष्य कर्म के अबाधाकाल का हिसाब सात कर्मों से भिन्न तरह का है । सात कर्मों में उत्कृष्ट जितने क्रोडाक्रोडी सागरोपम होते हक्त उसके अनुपात में अबाधाकाल एक निश्चित्त हिसाब से होता हक्त, यथा- ७० क्रोडाक्रोड सागर ब ध का ७००० वर्ष, २० क्रोडाक्रोड सागर ब ध का २००० वर्ष, १५ क्रोडाक्रोड सागरब ध का १५०० वर्ष, १० क्रोडाक्रोड सागर ब ध का १००० वर्ष का अबाधाकाल होता है । यह एक निश्चित्त गणित हिसाब वाला अबाधाकाल हक्त।

आयुष्य कर्म में ऐसा कुछ नहीं है । उसमें तो जीव अपने चालु भव का जितना समय बाकी रहने पर आयुष्य बा धेगा उतना ही अबाधाकाल होगा । यथा- उम्र का अ तर्मुहूर्त शेष रहने पर तेतीस सागरोपम का आयुष्य ब ध किया तो अबाधाकाल अ तर्मुहूर्त का ही होगा । १० वर्ष मनुष्य उम्र का बाकी रहने पर ३३ सागरोपम का आयुष्य ब ध किया तो १० वर्ष का अबाधाकाल होगा । एक क्रोड पूर्व का तीसरा भाग शेष रहने पर कोई १०००० वर्ष देवायु का ब ध करे तो अबाधाकाल क्रोडपूर्व का तीसरा भाग रहेगा । किसी जीवने ५०००० (पचास हजार) वर्ष की उम्र बाकी रहने पर १० हजार वर्ष के देवायु का ब ध किया तो ५०००० वर्ष का अबाधाकाल रहेगा अर्थात् अगले भव के आयुब ध से उसका अबाधाकाल ही ज्यादा हो जाता है । कभी अत्य त अल्प ही अबाधाकाल होता है । इसलिये शास्त्रकार ने आयुष्य कर्म में उक्त पाठ में भिन्नता रखी है उसमें **'अबाहुणिया कम्मठिई कम्मणिसेगो'** ऐसा नहीं कहकर **'कम्मठिई**

कम्मणिसेगो' कहा है अर्थात् स पूर्ण कर्म स्थिति में कर्मप्रदेशों की निषेक रचना होती है । अत: आयुकर्म में अबाधाकाल को छोडकर निषेक रचना नहीं होकर अबाधाकाल सहित स पूर्ण स्थिति में कर्म प्रदेशों की निषेक रचना होती है ।

वास्तव में तो आयुष्य कर्म में अबाधाकाल कहने की पर परा मात्र बन गई है । शास्त्र में तो आयुष्य कर्म का अबाधाकाल कहा ही नहीं है केवल उत्कृष्ट स्थितिब ध ही कहा है और उस स्थितिब ध में सर्वत्र निषेक रचना होती है । उस आयुष्य कर्म के उदय योग्य स योग नहीं होने से और पूर्व का आयुष्यकर्म क्षय नहीं होने से अगले आयुष्य का विपाकोदय चालु नहीं होता है, प्रदेशोदय तो आयुष्य कर्मब ध के बाद तुर त चालु हो जाता है ।

स्त्रीवेद का ब ध करने वाला तीसरे आदि देवलोक में चला जाता है तो उसका अबाधाकाल नहीं रहने पर भी अनेक सागरोपम तक स्त्रीवेद का विपाकोदय नहीं होकर प्रदेशोदय ही होता है । उसी तरह आयुष्य कर्म का कोई अबाधाकाल ही शास्त्रकार ने कहा नहीं है । अत: स योगाभाव और पुराने आयुकर्म के सद्भाव में अगले आयुष्य का प्रदेशोदय होता है । आयुष्य कर्म का अबाधाकाल मानने की जरूरत ही नहीं है । मूलपाठ देखने से ही यह वास्तविकता समझी जा सकती है । किसी भी प्रत में आयुकर्म का अबाधाकाल कहा ही नहीं है मात्र उत्कृष्ट स्थिति ब ध कहकर **'कम्मठिई कम्मणिसेगो'** कह दिया है । इसलिये आगे के भव का आयुष्य कर्म ब धने के तुर त बाद उसका प्रदेशोदय चालु होता है विपाकोदय मृत्यु होने पर ही अगले भव का प्रार भ होता है, तभी कर्म का वेदन कहलाता है– **'उदओ विवाग वेयणो'**–विपाक से कर्मवेदन ही उदय की गिनती में गिना जाता है ।

अन्य सातकर्मों के जो भी नये ब ध होते हक्त उनके अबाधाकाल के समय के बीतने के बाद ही प्रदेशोदय चालु होता है । विपाकोदय प्रस ग स योग होने पर ही होता है। यथा– अशाता वेदनीय कर्म का किसी ने ३० क्रोडाक्रोड सागरोपम का ब ध किया काला तर से स यम का आराधक होकर और मरकर अनुत्तर विमान में देव बना तो ३००० वर्ष

तक प्रदेशोदय भी नहीं होगा उसके बाद उस देव के प्रदेशोदय अशाता वेदनीय का होता रहेगा कि तु अशाता का विपाक उदय ३३ सागर की उम्र पूर्ण करने के बाद मनुष्य बनने के बाद ही होगा । अनुत्तर देवों के अशाता का प्रस ग स योग नहीं होने से विपाकोदय पूरे भव तक नहीं होता है । प्रदेशोदय से वे कर्म पुद्गल क्षीण हो जाते हक्त । उस ३३ सागर के प्रदेशोदय को अबाधाकाल नहीं कहा जाता।

निबंध–११९

तमस्काय एक पानी परिणाम

तमस्काय पानी का परिणाम है पानी स्वरूप है । लोक में पानी के विभिन्न परिणाम हक्त । यथा– (१) अनेक प्रकार के बादल रूप में परिणत । जिसमें कई बादल मूसलधार बरसते, कई रिमझिम बरसते, कई बारीक फुहारें रूप में उडने जैसे बरसते । (२) धूँअर, कोहरा रूप पानी । (३) गडे, हिमपात रूप पानी, बर्फ की दिवाल, चट्टान रूप पर्वतीय पानी । (४) ओस–झा कल । (५) लवण शिखा रूप पानी । (६) पाताल कलशों में भरा पानी । (७) आकाश से बरसने वाला पानी । (८) पर्वत में से निर तर निकलने वाला झरने का पानी । (९) महोतपोप तीर झरने का गर्म जल ।(१०) घनोदधि और घनोदधि वलय रूप पानी तथा (११) यह तमस्काय रूप पानी । इस प्रकार के जल-परिणामों से यह स्पष्ट होता है कि पानी मात्र समतल ही नहीं रहता है; ऊँचे-नीचे भी, उपर उठा हुआ भी रह सकता है और आकाश में चल भी सकता है । इसी सिलसिले में यह तमस्काय रूप पानी धूँअर फुहारे जैसा उपर उठा हुआ है ।

ज बूद्वीप से अस ख्यात द्वीपसमुद्र जाने के बाद अस ख्यातवाँ अरुणोदय समुद्र चूडी के आकार का है । उसकी बाह्य जगती–वेदिका से सर्व दिशाओं में ४२००० योजन अ दर आने पर यहाँ से स ख्याता योजन जाडी अस ख्य योजन के परिम डलाकार की एक अप्कायमय धूँअर जैसी जलभित्ति समुद्रीजल की उपरी सतह से एक समान प्रदेश वाली श्रेणी रूप अर्थात् चौतरफ समान विस्तार वाली परिम डलाकार गोलाई में उपर उठी हुई है । जो १७२१ योजन ऊँचाई

तक एक सरीखी चौडाई वाली भित्ति जैसी है उसके बाद बाहर की तरफ **ऊलटे रखे घडे** के आकार जैसे तिरछे विस्तृत होती है और घडे की ठीकरी स्थानीय जलभिति भी जाडाई में स ख्यात से बढते हुए अस ख्य योजन की जाडाई वाली है । जो पाँचवें देवलोक तक फैली हुई है । पाँचवें देवलोक के तीसरे रिष्ट पाथडे तक व्याप्त है। स पूर्ण तमस्काय उलटे रखे मिट्टी के घडे के आकार में है कि तु पाँचवें देवलोक के पास कुक्कुड प जर के **ऊपरी** भाग के जैसा आकार कहा है । अर्थात् उपर घडे जैसी गोलाई नहीं है कि तु समतल है । यह सदा एक सरीखी इसी आकार में अनादि काल से लोक स्वभाव से रही हुई है । अपने यहाँ दिखने वाली धुँअर से भी इसमें प्रगाढ अ धकार होता है ।

इस तमस्काय के १३ नाम में से अधिक नाम अ धकार की मुख्यता वाले हक्त । तेरहवाँ नाम **अरुणोदक समुद्र** यह पानी रूप नाम है अर्थात् यह तमस्काय कोई अलग चीज नहीं कि तु अरुणोदक समुद्र का ही एक विचित्र अ श है ।

वैमानिक ज्योतिषी देवों को जम्बूद्वीप में आने के लिये इस तमस्काय को पार करना पडता है । तब वे देव अ धकार से भयभीत स भ्रा त होकर शीघ्र निकलते हक्त । कोई देव इसमें बादल गर्जन विद्युत भी कर सकते हक्त । वह देवकृत विद्युत अचित्त समझना । क्यों कि बादर अग्निकाय तो ढाईद्वीप में ही होती है । देवों का अपना शरीर एव वस्त्रादि का प्रकाश भी इसके अ धकार से हतप्रभ होता है । ९०० योजन की ऊँचाई तक के क्षेत्र में वहाँ जो ज्योतिषी विमान हक्त वे भी इस तमस्काय के बाहर ही है भीतर नहीं है, किनारे पर है, उनकी प्रभा भी तमस्काय में थोडी जाकर अ धकार से निष्प्रभ हो जाती है ।

इस तमस्काय में बादर पृथ्वी और अग्नि नहीं होती है । इसमें अप्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय एव त्रसकाय के जीव इसमें होतेत्त्ह (त्रस जीव तिरछालोक की अपेक्षा समझना) । स सार के सभी जीव तमस्काय में उत्पन्न हो चुके हक्त । तमस्काय के नाम इस प्रकार है- १. तम २. तमस्काय ३. अ धकार ४. महाअ धकार ५. लोकअ धकार ६.

लोकतमिश्र ७. देवअ धकार ८. देव तमिश्र ९. देव अरण्य १०. देव व्यूह ११. देव परिघ १२. देव प्रतिक्षोभ १३. अरुणोद समुद्र ।

निबंध-१२०

मारणांतिक समुद्घात एक अनुप्रेक्षण

वर्तमान भव के अ तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर कोई-कोई जीव मारणा तिक समुद्धात करते हक्त । इस अ तर्मुहूर्त के पहले जीव ने कभी भी आगामी भव का आयुष्य बा ध लिया होता है तभी मारणा तिक समुद्घात से, अपने निज शरीर को छोडे बिना कुछ आत्मप्रदेशों को आगामी जन्मस्थान तक फैलाता है एव आयुष्य कर्म की उदीरणा कर पुनः शरीरस्थ होकर फिर आयुष्य को पूर्ण करके (मरने रूप में) समुद्धात करके अर्थात् मरकर(क्यों कि दूसरी बार समुद्धात का प्रयोजन नहीं रहता है) उत्पत्ति स्थान में जाता है और वहाँ आहार, उसका परिणमन और शरीर निर्माण आदि करता है ।

वर्तमान भव का आयु रहता है तब आगामी जन्मस्थान पर गये हुए आत्मप्रदेश वहाँ आहारादि ग्रहण परिणमन नहीं करते हक्त । क्यों कि यहीं वर्तमान भव के शरीर में आहारादि चालु होते हक्त ।

कई जीव मारणा तिक समुद्घात नहीं करते हक्त वे प्रथम बार में ही आयुष्य पूर्ण होने पर मरकर (आगम शब्दो में मरण समुद्धात करके) आगामी जन्मस्थान में पहुँच कर आहार-परिणमन आदि करते हक्त ।

शास्त्रपाठ में सीधे मर कर जाने और उत्पन्न होकर आहार करने के कथन में भी समुद्धात शब्द का प्रयोग किया है । ऐसे ही केवली के मोक्ष होने समय में भी मरण समुद्घात शब्दप्रयोग देखने को मिलता है अतः इन शब्दों के आग्रह में नहीं जाते हुए सही आशय समझना चाहिये कि- (१) कोई जीव आयु समाप्त कर सीधे ही **मरण प्राप्त कर** आगामी स्थान में पहुँचकर आहार-परिणमन आदि करते हक्त । (२) कितनेक जीव मृत्यु के अ तर्मुहूर्त पहले मारणा तिक समुद्घात करके, आगामी जन्मस्थान तक आत्मप्रदेश फैलाकर, आयुष्यकर्म की उदीरणा कर, पुनः शरीरस्थ होकर, फिर आयुष्य समाप्त होने पर

मरण प्राप्त करके आगामी स्थान में उत्पन्न होकर आहार, परिणमन आदि करते हक्त । पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर जीव छहों दिशाओं में लोका त तक उत्पन्न होते है । त्रस जीव छहों दिशाओं में त्रसनाडी में ही अपने-अपने उत्पत्ति योग्य स्थलों तक उत्पन्न होते हक्त ।

मृत्यु प्राप्त कर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने वाले सभी जीव मार्ग में अवगाहना का स कोच विस्तार नहीं करके एक सरीखी विस्तृत श्रेणी आत्मप्रदेशों की अवगाहना से ही जन्म स्थान तक पहुँचते क्त। इसे ही मूलपाठ **''एगपएसिय सेढिं मोत्तूण'' एगपएसिय**- एक सरीखी । पूर्व पाँचवें उद्देशक में भी **एगपएसियाए सेढीए**- एक सरीखी चोडाई वाली भित्तिरूप में तमस्काय समुद्री जल सपाटी से उपर उठी हुई है जो १७२१ योजन तक ऊँची एक सरीखी चौडाई (जाडाई) वाली है । फिर उसके बाद थोडे-थोडे विस्तार में और जाडाई में क्रमिक वृद्धि होती है ।

निबंध-१२१

धान्यादि के सचित्त और ऊगने का स्वभाव

वनस्पति के १० विभाग मूल से लेकर बीज तक होते हक्त । उनमें से ९ विभाग तो सूखने पर अचित्त हो जाते हक्त कि तु दसवाँ **बीज विभाग** है वह सूखने पर भी वर्षों तक सचित्त रह सकता है। इसकी उम्र जघन्य अ तर्मुहूर्त उत्कृष्ट सात वर्ष की होती है । प्रस्तुत सातवें उद्देशक में बताया है कि धान्य आदि समस्त बीज यदि सुरक्षित कोठी वगेरे में रख दिये जाय, उन पर कोई भी प्रकार का शस्त्र नहीं लगे तो इनके सचित्त रहने की उत्कृष्ट स्थिति बनती है । यहाँ तथा स्थाना ग सूत्र में इन धान्यादि बीजों के स्थिति की अपेक्षा तीन विभाजन किये गये हक्त (१) गेहूँ चावल आदि धान्य उत्कृष्ट ३ वर्ष सचित्त रह सकते हक्त । (२) मूँग चणा उडद आदि द्विदल उत्कृष्ट पाँच वर्ष सचित्त रह सकते है और (३) शेष सभी प्रकार के बीज अलसी, सरसों, राई, मेथी आदि उत्कृष्ट सात वर्ष तक सचित्त योनि रूप में, सजीव रूप में रह सकते हक्त । उसके बाद इन पदार्थों की सचित्त योनि नष्ट हो जाती है । सचित्तता की अपेक्षा वह बीज नहीं रहता है ।

प्रज्ञापना सूत्र में उगने वाले पदार्थ सचित्त, अचित्त मिश्र तीनों प्रकार की योनि वाले कहे गये हक्त । तदनुसार ये अचित्त बने हुए धान्यादि का शरीर ब धन स घातन विशिष्ट हो, सुरक्षित रखे गये हों तो १०-२० प्रतिशत बीजों में अचित्त होने के बाद भी ऊगने की क्षमता रहती है वे अचित्त योनिक बीज कहलाते हक्त । यहाँ दोनों शास्त्रों में सचित्तता की अपेक्षा ही स पूर्ण विशेषणमय कथन है । कि तु प्रज्ञापना सूत्रानुसार अचित्त योनिक उगने वाली वनस्पतियों का भी अस्तित्व स भव है एव बीज विज्ञान केंद्र से जानकारी करने से भी यह स्पष्ट होता है कि कुछ अच्छे परिपक्व बीज ५-१० वर्ष तक भी उगते हक्त । सुरक्षित रखे सभी बीज लम्बे समय तक नहीं उगते । प्रतिवर्ष ५-१० प्रतिशत कम होते होते ८-१० वर्ष तक तो उगने वाले बीजों की स ख्या नहींवत् हो जाती है । इसका कारण यह है कि उन बीजों के पुद्गलमय ब धन स घातन भी धीरे-धीरे ५-१० वर्ष में क्षीण हो जाते क्त। एव उत्पादन क्षमता-अ कुरित होने की योग्यता नष्ट हो जाती है ।

प्रस्तुत में ज्ञातव्य यह है कि उगने की क्षमता किसी की कितनी भी रहे कि तु सचित्त योनिभूतता प्रस्तुत सूत्र कथन अनुसार तीन-पाँच एव सात वर्ष की उत्कृष्ट समझनी चाहिये ।

निबंध-१२२

देवों का नरक में जाना और परमाधामी

वाणव्य तर देवता नीचे प्रथम नरक तक जा सकते हक्त । नवनिकाय के भवनपति देव दूसरी नरक तक जा सकते हक्त । असुरकुमार देव तीसरी नरक तक जा सकते हक्त और वैमानिक देव सातवीं नरक तक जा सकते हक्त । उपर प्रथम द्वितीय देवलोक तक असुरकुमार और वैमानिक देव जा सकते हक्त आगे के देवलोकों में केवल वैमानिक देव ही जाते है, असुरकुमार देव नहीं जाते ।

व्य तर देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की होती है । नवनिकाय देवों की उत्कृष्ट देशोन दो पल्योपम की स्थिति होती है। असुरकुमारों की उत्कृष्ट एक सागरोपम साधिक की स्थिति होती है ।

वैमानिक में गमनागमन करने वाले देवों की उत्कृष्ट २२ सागरोपम की स्थिति होती है ।

देवों की वैक्रिय शक्ति, ऋद्धि उनकी स्थिति के अनुसार हीनाधिक होती है। अत: दस हजार वर्ष आदि स्थिति वाले व्य तर देवों की क्षमता कम होती है और क्रमश: एक पल्योपम की स्थिति वाले व्य तर देवों की क्षमता अधिक होती है। उसी तरह भवनपति असुरकुमारों में भी दसहजार वर्ष से पल्योपम एव एक सागरोपम तक की स्थिति होती है । वैमानिक में एक पल्योपम से दो सागरोपम यावत् २२ सागरोपम तक की स्थिति बारहवें देवलोक तक होती है तदनुसार ही इन देवों में गमनागमन क्षमता एव ऋद्धि की भिन्नता होती है ।

प्रस्तुत में असुरकुमारों, नवनिकायों एव वैमानिकों की जो उपर नीचे जाने की क्षमता दर्शाई गई है वह उत्कृष्ट स्थिति, ऋद्धि की अपेक्षा से कही गई है । उसे उस जाति के अल्पर्धिक-महर्द्धिक सभी देवों के लिये स्थिति का विचार किये बिना मान लेना उचित्त नहीं होता है ।

असुरकुमारों का नीचे तीसरी नरक तक जाना कहा है तो उसे उत्कृष्ट एक सागरोपम की स्थिति वालों की अपेक्षा समझना चाहिये पर तु दस हजार वर्ष या एक पल्योपम अथवा ५-१० पल्योपम वालों को भी तीसरी नरक तक जाना मान लेना योग्य नहीं होता है । वैमानिक देवों का सातवीं नरक तक जाना कहा है तो सभी वैमानिकों को एक समान नहीं समझकर उनकी भिन्नता समझी जाती है अर्थात् पहले दूसरे देवलोक के देव सातवीं नरक तक नहीं जाते हक्त वे तीसरी नरक तक जाते हक्त, आगे क्रमश: बढते-बढते उपर-उपर के देव अगली-अगली नरक में जाते हक्त ।

नवनिकाय के देव दूसरी नरक तक जाते हक्त तो वहाँ भी उत्कृष्ट देशोन दो पल्योपम की अपेक्षा समझना । सभी स्थिति वाले नवनिकाय देव जावे ऐसा नहीं समझना । क्यों कि एक पल्योपम की स्थिति वाले व्य तर पहली नरक तक ही जाते हक्त । देवों की गति, ऋद्धि आदि स्थिति सापेक्ष ही होती है अत: एक पल्योपम से अधिक

स्थिति वाले नवनिकाय के देवों को ही दूसरी नरक में जाना समझना और एक पल्योपम तक की स्थिति वालों को प्रथम नरक तक ही जाना समझना चाहिये । उपरोक्त वर्णन से यह तात्पर्य समझना चाहिये कि एक पल्योपम तक की स्थिति वाले देव प्रथम नरक तक, अनेक पल्योपम वाले देव दूसरी नरक तक और एक-दो सागरोपम की स्थिति वाले देव तीसरी नरक तक जा सकते है । यों वैमानिक में भी स्थिति के अनुपात में चोथी, पाँचवीं, छट्ठी आदि नरक तक जाना समझना चाहिये ।

इससे यह भी समझ सकते हक्त कि एक पल्योपम की स्थिति वाले परमाधामी के लिये तीसरी नरक तक जाने का कहने की पर परा को पकडे रखना कोई जरूरी नहीं है । वास्तव में वे अपनी स्थिति रिद्धि क्षमता अनुसार प्रथम नरक तक ही जा सकते हक्त ।

निबंध-१२३

प्राप्त शुद्धाहार शुद्धाशुद्ध हो जाता

गोचरी में ग्रहण किये हुए निर्दोष खाद्यपदार्थ या पेयपदार्थ को श्रमण-१. अच्छे मनोज्ञ पदार्थ से खुश-खुश होवे; उस आहार की, दाता की, बनाने वाले की प्रश सा, अनुमोदना करे; उन पुद्गलों को आसक्ति भाव से, मूर्च्छित होकर, गृद्धिपना करके खावे तो वह उस निर्दोष प्राप्त आहार को **इ गाल नामक दोष** युक्त कर लेता है। २. इसी तरह अमनोज्ञ पदार्थ के स योग में मन में दु:खी होवे; अप्रीति भाव करे; शिर, हाथ शब्द आदि से नाखुशी दिखावे; क्रोधमय नाराजी खेद खिन्नता दिखावे; इस प्रकार बिना मन, दु:खी मन से आहार करे तो वह उस निर्दोष प्राप्त आहार को **धूम दोष** युक्त बना लेता है । ३. प्राप्त आहार में स्वाद वृद्धि के हेतु से नमक, मिर्ची, शक्कर आदि स योज्य पदार्थ मिलाकर भोजन को स्वादिष्ट बनाकर, पुद्गलों में आन दानुभूति करते हुए खावें तो वह अपने निर्दोष आहार को **स योजना दोष** वाला बनाकर खाता है।

जो श्रमण इस प्रकार नहीं करके गोचरी में प्राप्त आहार को अनासक्ति से हर्ष-शोक किये बिना खाता है, विरक्ति भाव कायम

रख कर खाता है, पुद्गलान दी नहीं बनता है, खिन्न भी नहीं होकर, शा त समाधि भाव रखकर, स्वाद का लक्ष्य नहीं बनाकर, देहपूर्ति के लिये जरूरी होने से, जो जैसा प्राप्त हुआ है उसे अच्छा खराब कुछ भी नहीं बोलते हुए एव नहीं सोचते हुए आहार करता है, वह श्रमण उक्त तीनों दोष नहीं लगाता है ।

जो श्रमण निर्दोष प्राप्त आहार को **(१)** दो कोष उपरा त आगे ले जाकर खावे पीवे, **(२)** प्रथम प्रहर में आहार प्राप्त कर चतुर्थ प्रहर में उसे खावे-पीवे, **(३)** दिन में प्राप्त आहार को सूर्यास्त बाद तक या रात्रि में खावे, **(४)** शरीर को अनावश्यक ऐसा अधिक मात्रा में बिन जरूरी खावे तो वह श्रमण ये चारों दोष युक्त आहार करने वाला होता है। १. साधु को अन्यत्र आहार ले जाने की क्षेत्रमर्यादा दो कोश की है । २. नवकारसी में लाये पदार्थ तीन प्रहर तक खाने-पीने की ही काल मर्यादा है । ३. रात्रि भोजन का साधु को त्याग आजीवन होता है ।४. ब्रह्मचर्य समाधि एव स्वास्थ्य सुरक्षा के लिये तथा सदा ऊणोदरी तप के लिये श्रमण को अल्प या मर्यादित आहार करना होता है । बिना विवेक के या आसक्ति से अमर्यादित खाना श्रमण जीवन के योग्य नहीं होता है ।

श्रमण का पूर्ण निर्वद्य-निर्दोष आहार- सावद्य प्रवृत्तियों के पूर्ण त्यागी एव शरीर के स स्कार श्रृ गार से रहित श्रमण-निर्ग्रंथ, अचित्त, त्रस जीव रहित, ४२ दोष रहित आहार करे । खुद आर भ करे-करावे नहीं, स कल्प करे नहीं, निम त्रित-क्रीत-उद्दिष्ट-आहार ग्रहण न करे, नवकोटि शुद्ध आहार स यम यात्रा निर्वाह के लिये करे; सुड-सुड, चव-चव आवाज न करते हुए, नीचे न गिराते हुए, अल्पमात्रा में भी स्वाद न लेते हुए आहार करे; मा डला के ५ दोष न लगावे । जल्दी-जल्दी या अत्य त धीरे-धीरे आहार न करे; विवेक युक्त समपरिणामों से आहार करे, तो यह शस्त्रातीत निर्वद्य आहार करना कहा जाता है ।

निबंध-१२४

परमावधिज्ञानी चरमशरीरी होते

प्रस्तुत उद्देशक-७ में पाँच इन्द्रिय के विषयों की अपेक्षा काम

और भोग का वर्णन है । कान और आँख के विषय-शब्द और रूप को काम कहा गया है और नाक जिव्हा और शरीर के विषय ग ध, रस और स्पर्श को भोग कहा गया है । इसलिये कान या आँख वाले जीव कामी कहे गये है और नाक जिव्हा और शरीर वाले जीव भोगी कहे गये हक्त । काम से केवल इच्छा-मन की तृप्ति होती है और भोग से प्राप्त पुद्गलों से शरीर की भी तृप्ति-पुष्टि होती है । काम और भोग की वृत्ति-प्रवृत्ति जीवों को ही होती है, अजीवों के नहीं होती है । किन्तु काम-भोग के पदार्थ अर्थात् इन्द्रिय विषय रूप पदार्थ सजीव-अजीव दोनों प्रकार के हो सकते हक्त ।

२४ द डक में एकेन्द्रिय, बेइ न्द्रिय, तेइन्द्रिय जीव केवल भोगी ही होते हक्त; चौरेन्द्रिय, प चेन्द्रिय कामी-भोगी दोनों होते हक्त ।

अल्पाबहुत्व- (१) लोक में कामीभोगी अल्प होते हक्त और (२) भोगी उससे अन तगुणे होते हक्त । सिद्ध जीवों को भी साथ रखने पर सब से थोडे कामी-भोगी, नो कामी नो भोगी सिद्ध अन तगुणा, भोगी जीव अन त गुणा । स्वेच्छा से एव उपलब्ध भोगों का त्याग करने से महानिर्जरा होती है अथवा तो कर्मों का अ त भी होता है, जिससे जीव देवगति में या मोक्षगति में जाता है ।

छद्मस्थ मनुष्य और आधोवधि ज्ञानी मनुष्य यदि देवलोक में उत्पन्न होते हक्त तो वे **क्षीणभोगी** नहीं होते हक्त क्यों कि वे वहाँ विपुल काम-भोगों का सेवन करते हक्त । यदि आगामी भव मे वे भोगों का परित्याग करे तो महानिर्जरा एव मुक्ति प्राप्त करते हक्त।

परमावधिज्ञानी और केवलज्ञानी उसी भव में मुक्त होते हैक्त अत: वे क्षीणभोगी कहे जाते हक्त । वे कामभोगों का सेवन नहीं करते हक्त । इस शास्त्रपाठ के प्रश्न उत्तर से स्पष्ट होता है कि **परमावधिज्ञानी उसी भवमें मुक्त होते हक्त वे चरम शरीरी होते हक्त।**

असन्नि जीव इच्छा एव ज्ञान के अभाव में इच्छित सुख नहीं भोग सकते और सन्नी जीव आलस और अनुपयोग से इच्छित भोग सुख नहीं भोग सकते यह अकाम निकरण वेदना है । सन्नी जीव साधन के अभाव में अथवा क्षमता के अभाव में इच्छित सुख नहीं भोग

सकते यह उनकी प्रकाम निकरण वेदना कही गई है । यथा- समुद्र पार की वस्तुएँ देखने के तथा देवलोक के सुखों को प्राप्त करने के साधन और क्षमता सन्नी मनुष्य में भी नहीं होती है ।

निबंध-१२५

कोणिक-चेडा युद्ध में मरने वालों की समीक्षा

किसी भी प्राचीन प्रत में ऐसा पाठ मिलता नहीं है, सभी प्रतों में यही स ख्या मूलपाठ में मिलती है । यह स ख्या दो दिन की है अन्य दस दिन युद्ध पहले भी हुआ था जिसमें दो करोड मरे हो तो युद्ध में कितने करोड आये ? युद्ध का मैदान २-४ करोड खडे रहे, छावनी लगावे इतना कितना बडा होगा इत्यादि सभी प्रश्नों का समाधान यह है कि मूलपाठ ऐसा ही है उसमें कोई भेद विकल्प या पाठान्तर नहीं है। अत: आगम श्रद्धा से स्वीकारना ही रहा। **'सहस्साइ की जगह सय-सहस्साइ '** भूल से लिखा गया हो ऐसा मानने में पाठान्तर भी कोई मिलना चाहिये । बिना कुछ आधार मिले मात्र तर्क-वितर्क से मान लेना व्यक्तिगत किसी के अधिकार की बात तो नहीं है तथापि वैकल्पिक अनाग्रहिक रूप से स्वीकारा जा सकता है ।

श का- चक्रवर्ती राजा के ९६ करोड पैदल मनुष्य ज बूद्वीप प्रज्ञप्ति में कहे हैं, जो ६ ख ड की चक्रवर्ती की ऋद्धि रूप है, यहाँ युद्ध में दोनों पक्ष से आये मनुष्यों की स ख्या ९० करोड कही है जो केवल एक ख ड के आर्य क्षेत्र मात्र की स भव है । तो चक्रवर्ती के ९६ करोड पैदल के सामने मात्र दो प्रतिपक्षी राजाओं की ९० करोड की पैदल सेना का कथन क्या विचारणीय नहीं बनता है ?

समाधान- भगवती सूत्र में ९० करोड की स ख्या का पाठ नहीं है उपा ग सूत्र में है ।एक करोड ८० लाख मरने का कथन भी भगवतीसूत्र में जोड करके नहीं कहा गया है ९६ लाख और ८४ लाख ये दो ही स ख्या है । इस पाठ को हजार मान लेने पर मरने वालों की स ख्या १ लाख ८० हजार होगी और पैदल सेना की करोड की स ख्या लाख में मानी जाय तो ९० लाख ही होगी जो चक्रवर्ती की ९६ करोड पैदल ६ ख ड की स ख्या से मेल खा सकेगी । ज बूद्वीपप्रज्ञप्ति में चक्रवर्ती

के घोडे, हाथी की स ख्या लाखों में है तो यहाँ कोणिक आदि के घोडों आदि की स ख्या हजारों में है । उसी तरह चक्रवर्ती के पैदल की स ख्या क्रोडों में है तो इन राजाओं की लाखों में मानना युक्त लगता है । फिर भी मूलपाठ को गलत सिद्ध करने का अपने पास कोई आगम प्रमाण नहीं है, यह बात सत्य है तथापि विचारणीय अवश्य है, यह स्वीकार्य है । तत्त्व केवली गम्य । (तमेव सच्च णिस क ...)

निबंध-१२६

सदोष या निर्दोष आहार देने का फल

(१) सावद्य त्यागी श्रमण निर्ग्रंथ को निर्दोष कल्पनीय आहार गुरुबुद्धि से प्रतिलाभित करने पर एका त निर्जरा होती है उसमें आहार निर्दोष होने से कोई पाप नहीं लगता है ।

(२) सावद्य त्यागी श्रमण निर्ग्रंथ को औषध उपचार या अन्य किसी स कट युक्त परिस्थिति से अथवा कभी अविवेक अज्ञान से, भक्ति के अतिरेक से श्रमण निर्ग्रंथ की शाता भावना से सदोष आहार वहेराने पर बहुतर निर्जरा एव दोषित आहार होने से उसमें होने वाली विराधना या समाचारी भ ग से अल्प पाप भी होता है । यहाँ बहुतर निर्जरा कहने का आशय यह है कि दाता द्रव्य से सूझता होने के कारण द्रव्यशुद्ध है एव स यम साधना में सहायक होने के उसके शुभ भाव है अत: वह भाव से शुद्ध है और दान लेने वाला पात्र भी शुद्ध है क्यों कि श्रमण निर्गंथ तथारूप के हक्त । मात्र वस्तु दोषित होने का यहाँ अल्प पाप कहा है ।

(३) सावद्य के अत्यागी अस यत अविरत किसी भी स न्यासी को गुरुबुद्धि से त्यागी मानकर जो आहार दान करता है वह मिथ्यात्व भाव के सेवन के कारण मोक्ष हेतुक निर्जरा नहीं करता है । (क्यों कि एका त निर्जरा तो त्यागी श्रमण को देने से होती है ।) एका त पापकर्म करता है । इस कथन का हेतु मिथ्यात्व के पोषण से है । मिथ्यात्व भावित व्यक्ति मोक्ष हेतुक सकाम निर्जरा नहीं करता है । इसमें दान लेने वाला अस यत होने से अपात्र है; दाता उसे गुरु त्यागी पात्र समझ कर

खोटी-मिथ्या मान्यता रखता है, अत: दाता भी अशुद्ध है । तब वस्तु सदोष निर्दोष कोई भी हो उसका महत्त्व नहीं रह जाता है ।

इन तीनों प्रकार के दान में पुण्यब ध तो सर्वत्र(तीनों में) होता ही है क्यों कि भावना में उदारता एव अनुक पा होती है, लेने वाले को सुख पहुँचता है, अध्यवसाय दाता के शुभ होते हक्त । तथापि प्रस्तुत सूत्र में तो पाप और निर्जरा की प्रमुखता से ही प्रश्न और उत्तर है। इसीलिये एका त पाप या एका त निर्जरा शब्दप्रयोग किया गया है अर्थात् इन दो में से एक का पूर्ण निषेध दिखाने के लिये प्रथम में एका त निर्जरा और तीसरे में एका त पाप कहा है । पुण्य का यहाँ प्रस ग ही नहीं लिया गया है । अत: पुण्य के निषेध का यहाँ आशय नहीं है, ऐसा समझना चाहिये । पुण्य के प्रस ग में तो शास्त्रकार ने ९ पुण्य बताये ही हक्त उसमें ९ प्रकार का दान स सार के समस्त प्राणियों के लिये जिनशासन में श्रावकों के लिये खुला ही है । उसका निषेध किसी के लिये नहीं है । प्राचीन टीकाकार आचार्य ने भी यहाँ पर स्पष्ट किया है कि-

मोक्खत्थ ज पुण दाण , त पई एसो विहि समक्खाओ ।
अणुकम्पादाण पुण, जिणेहिं ण कयाइ पडिसिद्ध ॥

अर्थ- सूत्रोक्त प्रश्नोत्तरमय विधान मोक्षार्थ दान की अपेक्षा से है पर तु अनुकम्पादान का जिनेश्वरों ने कहीं भी निषेध नहीं किया है।

निबंध-१२७

सूर्य का प्रकाश तेज मंद क्यों ?

सूर्य सदा एक सा चमकता है । सुबह शाम वह हमारे से अत्यत दूर होने से लेश्या(तेज)प्रतिघात के कारण फीका सा दिखता है अर्थात् दूरी ज्यादा होने से उसका प्रकाश म द म दतम पहुँचता है। इसी कारण सूर्य सुबह और शाम फीका एव नजदीक सा लगता है । दोपहर को हमारे भरत क्षेत्र के उपर सीध में आ जाने से लेश्याभिताप से प्रकाश तीव्र तीव्रतम हो जाने से सूर्य जाज्वल्यमान एव दूर ऊँचा दिखता है ।

जिस तरह कोई सर्चलाइट दो किलोमीटर से दिखे तो कैसी

म द दिखती और पास में आने पर कितनी तेज दिखती है । वैसे ही सूर्य का समझना । सर्चलाइट के समान सूर्य की लाइट सदा एक सरीखी ही रहती है, ऊँचाई भी सदा पृथ्वी से ८०० योजन ही रहती है । अपने से उसकी तिरछी दूरी घटती बढती रहती है, क्यों कि वह निर तर, ५२५१ योजन की प्रति मुहूर्त गति से अपने नियोजित मार्ग से आकाश में आगे से आगे बढता रहता है कहीं भी रुकने का काम नहीं है । दूरी के घटने बढने से ही हमें ये परिवर्तन दिखते रहते हक्त ।

सूर्य सदा उपर १०० योजन नीचे १८०० योजन और तिरछे प्रथम म डल में ४७२६३ योजन तपता है अपना प्रकाश फैलाता है । तथा प्रथम म डल में ५२५१ योजन प्रतिमुहूर्त (४८ मिनट) की चाल से परिक्रमा लगाता है । सुबह शाम अर्थात् सूर्योदय सूर्यास्त के समय गर्मी में अपने यहाँ से ४७२६३ योजन दूर होता है, जब सबसे बडा दिन होता है ।

सर्दी में दिन छोटे-छोटे होते जाते हक्त तब यह सुबह शाम की दूरी कम-कम होती जाती है और न्यूनतम ३१८३१ योजन दूरी सबसे छोटे दिन में हो जाती है । तब सूर्य सबसे अ तिम म डल में होता है और ५३०५ योजन प्रति मुहूर्त की चाल से चलता है । इस प्रकार सूर्य सदा वर्तमान क्षेत्र को अर्थात् जिस क्षेत्र से जब गुजर रहा है उसको अपने ताप क्षेत्र के अनुसार प्रकाशित करते चलता है ।

नीचे १८०० योजन सूर्य को तपने का जो कहा गया है वह सलिलावती एव वप्रा विजय की अपेक्षा कहा गया है । ये दोनों विजय १००० योजन समभूमि से नीचे है । सूर्य का ताप उस विजय तक पूरा पहुँचता है, जब वह उसकी सीमा वाले आकाश म डल में चलता है ।

निबंध-१२८

आठ कर्मबंध के कारणों का विस्तार

प्रस्तुत नववें उद्देशक में कार्मण शरीर प्रयोग ब ध के अ तर्गत आठों कर्मों के ब धने स ब धी **विशिष्ट कारण** इस प्रकार कहे हक्त-

(१) ज्ञानावरणीय कर्म– १. प्रत्यनीकता–विरोधभाव । मति आदि पाँच ज्ञान, ज्ञानी एव श्रुतज्ञान के साधन आगमशास्त्र आदि के प्रति विरोध भाव रखने से, विरोध करने से या उनके विरुद्ध आचरण करने से । २. अपलाप– ज्ञान, ज्ञानीपुरुष एव श्रुतज्ञान के साधनों के प्रति श्रद्धाभाव, बहुमान या आदर भाव नहीं रखकर अविवेक, तिरस्कार या निंदा के आचरण करने से । ३. अ तराय– किसी की ज्ञान वृद्धि में या ज्ञान के प्रचार में बाधक बनने से। ४. प्रद्वेष– ज्ञानी के प्रति ईर्ष्या भाव, मत्सरभाव, कषायभाव एव कषाय युक्त व्यवहार करने से । ५. आशातना– मन से वचन से एव काया से विनय भक्ति नहीं करके अविनय आशातना करने से, कटुवचन बोलने से, उन्हें स ताप या कष्ट पहुँचाने से । ६. विस वाद– ज्ञानी के साथ बात–बात में खोटे झगडे, बहस एव अस गत–उटपटा ग विवाद–चर्चा करने से जीव ज्ञानावरणीय कर्मों का विशेष ब ध करता है । **सामान्यत:** अज्ञानमय स स्कार से एकेन्द्रिय आदि सभी जीव ज्ञानावरणीय कर्मों का निर तर ब ध करते रहते हक्त ।

(२) दर्शनावरणीय कर्म– चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शनी के प्रति पूर्वोक्त ६ दूषित व्यवहार करने से एवं निद्रा आदि में अंतराय आदि देने से अर्थात् चक्षुदर्शनी आदि के साथ विरोधभाव आदि उपरोक्त ६ अवगुणमय आचरण करने से दर्शनावरणीय कर्म का ब ध होता है ।

(३) वेदनीय कर्म– इसके दो विभाग हक्त– शातावेदनीय और अशाता वेदनीय । **शातावेदनीयब ध** के १० कारण है– (१–४) प्राण–भूत–जीव–सत्व की अनुक पा करने से । (५) इन्हें दु:ख नहीं पहुँचाने से । (६) शोक उत्पन्न नहीं करने से । (७) इन्हें चि ता नहीं कराने से, आँसु नहीं टपकवाने से, विषाद–खेद नहीं करवाने से । (८) विलाप एव रुदन आदि नहीं करवाने से । (९) मार–पीट नहीं करने से । (१०) परिताप कष्ट नहीं पहुँचाने से । स क्षेप में अन्य जीवों को किसी भी प्रकार से दु:ख नहीं पहुँचाकर सुख पहुँचाने से शाता वेदनीय कर्म का ब ध होता है ।

अशातावेदनीय ब ध के १२ कारण है– (१–६) अन्य को दु:ख

देने से, शोक कराने से, विषाद–खेद कराने से, विलाप कराने से, मारपीट करने से एव परिताप–कष्ट पहुँचाने से । (७–१२) अनेक जीवों को अथवा वार वार दु:ख आदि देने से ।

(४) मोहनीय कर्म– (१–४) तीव्र क्रोध–मान–माया–लोभ का सेवन करने से । (५) दर्शनमोहनीय की तीव्र उदय प्रवृत्ति से । (६) चारित्रमोह की तीव्र उदय प्रवृत्ति से; यों ६ प्रकार से **विशिष्ट** मोहनीय कर्म का ब ध होता है । **सामान्यत:** प्राय: कषाय के उदय मात्र से मोहनीय कर्मब ध होता रहता है ।

(५) आयुष्य कर्म– चार–चार कारणों से चारों गति के आयुष्य का ब ध होता है । स्थानांग–४ में देखे ।

(६) नाम कर्म– काया की, भाषा की, भावों की सरलता से तथा अविस वाद योग वृत्ति से शुभनाम कर्मका ब ध होता है । तीनों की वक्रता और विस वाद योग से अशुभनाम कर्म का ब ध होता है ।

(७) गौत्र कर्म– आठ प्रकार का अभिमान करने से नीच गौत्र का ब ध होता है और आठ प्रकार का मद अभिमान नहीं करने से ऊँच गौत्र का ब ध होता है ।

(८) अ तराय कर्म– दान, लाभ, भोग, उपभोग की प्रवृत्ति में एव वीर्य–शक्ति के पराक्रम करने में; यों इन पाँचों में अ तराय देने से उस–उस प्रकार के दानादिरूप अ तराय कर्म का ब ध होता है ।

एक–एक कर्म प्रकृति के ब ध में अन त परमाणु पुद्गल लगे हुए होते हक्त । प्रत्येक आत्मप्रदेश पर अन त अन त कर्म वर्गणा आवृत्त परिवेष्टित होती है । २४ द डक में आठों कर्म होते हक्त मनुष्य में चरम शरीरी की अपेक्षा आठ या सात या चार कर्म परिवेष्टित होते हक्त ।

कर्मों में कर्म की भजना नियमा– (१) ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अ तराय कर्म में खुद के सिवाय ६ कर्म की नियमा मोहनीय की भजना । (२) मोहनीय कर्म में खुद के सिवाय **सात** कर्म की नियमा । (३) वेदनीय आदि चारों अघाति कर्मों में खुद के सिवाय तीन अघाती कर्मों की नियमा, चार घाती कर्मों की भजना होती है । जिस कर्म

की पृच्छा है वह नहीं गिना जाता है शेष सात की अपेक्षा की जाती है । यह उदय रूप कर्म की अपेक्षा कथन है ।

निबंध-१२९

ऊर्ध्व-अधो-तिर्यक लोक स्वरूप

अन तान त आकाश रूप अलोक है । जिसके मध्य में लोक है । वह लोक नीचे से उपर १४ राजु प्रमाण है । नीचे चारों दिशाओं में अर्थात् पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण सात राजु प्रमाण चौडा एव गोलाकार है । इसी तरह मध्य में एक राजु प्रमाण चौडा और गोलाकार है जो समभूमि रूप तिरछा लोक है । उपर पाँचवाँ देवलोक पाँच राजु प्रमाण ल बा-चौडा गोलाकार है। सिद्धशिला से उपर लोक का चरमा त भाग है जो एक राजु प्रमाण ल बा-चौडा-गोल है ।

सातवीं नरक के नीचे लोक चरमा त सात राजु विस्तार का है वह क्रमशः कम होते हुए प्रथम नरक की उपरी सतह तक नीचे से सात राजु आने पर १ राजु हो जाता है । प्रथम नरक पृथ्वी की उपरी सतह ही हमारी समभूमि रूप तिरछा लोक है । यहाँ से फिर उपर की तरफ लोक की ल बाई-चौडाई क्रमशः बढती है जो एक राजु से बढती-बढती पाँचवें देवलोक तक अर्थात् समभूमि से ३॥ राजु उपर जाने पर पाँच राजु की हो जाती है । वहाँ से उपर की तरफ आगे पुनः अर्थात् पाँचवें देवलोक से आगे ३॥ राजु उपर जाने तक एक राजु का विस्तार होता है । इस तरह नीचे से उपर चौदह राजु प्रमाण लोक, नीचे प्रार भ में सात राजु विस्तार वाला, समभूमि पर एक राजु, फिर पाँचवें देवलोक में पाँच राजु एव उपरी चरमा त में एक राजु विस्तार वाला है ।

इस प्रकार स पूर्ण लोक का आकार उपर-उपर रखे गये तीन सिकोरे जैसा है जिसमें पहला उल्टा, दूसरा सीधा और उस पर तीसरा सिकोरा पुनः उल्टा रखने पर यह लोक आकार बनता है । विशेष यह है कि उपर के दो सिकोरों की ऊँचाई समान हो और नीचे के सिकोरे की ऊँचाई उससे दुगुनी हो तो वह लोक के यथार्थ आकार जैसा बनता है । लोक के मुख्य तीन विभाग इस प्रकार है-

(१) अधोलोक- १४ राजु प्रमाण लोक का नीचे का सात राजु का क्षेत्र अधोलोक है । इसके मुख्य सात प्रति विभाग हक्त वह सात नरक रूप है। जिसमें सातवीं नरक नीचे है फिर उपर-उपर छट्ठी, पाँचवीं आदि है सबसे उपर प्रथम नरक पृथ्वी है ।

विशेष में- नीचे लोका त से सर्व प्रथम अस ख्य योजन प्रमाण आकाश मात्र है । उसके बाद उसके उपर अस ख्य योजन तनुवात है, फिर उसके उपर अस ख्य योजन घनवात है, उसके उपर वीस हजार योजन घनोदधि है और उसके उपर फिर सातवीं नरक पृथ्वीपिंड है । नीचे से यहाँ तक एक राजु ऊँचाई होती है और ल बाई-चौडाई सात से घटते हुए साधिक छ राजु रह जाती है ।

सातवीं नरक के पृथ्वी पिंड के उपर पुनः अस ख्य योजन प्रमाण आकाश, फिर अस ख्य योजन उपर तक तनुवाय, फिर अस ख्य योजन घनवाय है । उसके उपर वीस हजार योजन की घनोदधि है और उसके उपर छट्ठी नरक पृथ्वी पिंड है । नीचे से यहाँ तक देशोन दो राजु ऊँचाई होती है ।

इसी क्रम से पाँचवीं, चौथी, तीसरी, दूसरी, पहली नरक पृथ्वी तक उपर-उपर क्रमशः आकाश, तनुवाय, घनवाय, घनोदधि और फिर पृथ्वी समझना चाहिये । इस प्रकार यह अधोलोक मुख्य सात नरक पृथ्वी रूप विभाग वाला एव सात राजु ऊँचाई वाला है ।

	नीचे	चौडाई
(१) प्रथम नरक पृथ्वी	समभूमि	१ राजु
(२) दूसरी नरक पृथ्वी	१ राजु	१.८॥ राजु
(३) तीसरी नरक पृथ्वी	२ राजु	२.७ राजु
(४) चौथी नरक पृथ्वी	३ राजु	३.५॥ राजु
(५) पाँचवी नरक पृथ्वी	४ राजु	४.४ राजु
(६) छट्ठी नरक पृथ्वी	५ राजु	५.२॥ राजु
(७) सातवी नरक पृथ्वी	६ राजु	६.१ राजु
(८) लोका त	७ राजु	७ राजु

नीचे से लोका त–

सातवी नरक का पृथ्वीपिंड	१ राजु
छट्ठी नरक का पृथ्वीपिंड	२ राजु
पाँचवी नरक का पृथ्वीपिंड	३ राजु
चौथी नरक का पृथ्वीपिंड	४ राजु
तीसरी नरक का पृथ्वीपिंड	५ राजु
दूसरी नरक का पृथ्वीपिंड	६ राजु
पहली नरक का पृथ्वीपिंड	७ राजु

(२) तिरछा लोक– १४ राजु प्रमाण लोक के मध्य में होने से इसे मध्यलोक भी कहा जाता है अर्थात् यहाँ से लोक ७ राजु नीचे हक्त और ७ राजु उपर है । यह तिरछा लोक अस ख्य योजन का अर्थात् एक राजु प्रमाण ल बा-चौडा और गोलाकार है। इसके मध्य में ज बूद्वीप है और ज बूद्वीप के मध्य में मेरु पर्वत है । मेरु पर्वत के मध्य केन्द्रबिंदु से चारों दिशा में तिरछा लोक आधा-आधा राजु प्रमाण है । आमने-सामने की दो दिशाओं का योग एक राजु प्रमाण चौडा होता है। ज बूद्वीप थाली के आकार का गोल एक लाख योजन विस्तार वाला है । उसके चौतरफ फिरता चूडी के आकार का लवण समुद्र है वह दो लाख का विस्तार वाला है । उसके बाद एक द्वीप, एक समुद्र यों अस ख्य द्वीप, अस ख्य समुद्र सभी चूडी के आकार वाले हक्त । पीछे वाले से आगे वाले द्वीप या समुद्र दुगुने-दुगुने विस्तार वाले हक्त । अ त में स्वय भूरमण समुद्र पाव(१/४)राजु विस्तार वाला चूडी आकार का है । इस तरह तिरछे लोक के एक राजु विस्तार में आधा राजु क्षेत्र अकेले स्वय भू रमण समुद्र ने ग्रहण कर रखा है शेष आधा राजु में समस्त अस ख्यद्वीप समुद्र है ।

यह तिरछा लोक जाडाई(ऊँचाई)की अपेक्षा उपर–नीचे १८०० योजन का है समभूमि से ९००योजन नीचे तक और समभूमि से ९०० योजन उपर तक का क्षेत्र तिरछालोक का माना गया है । इस तिरछे लोक के नीचे के ९०० योजन में वाणव्य तर देवों के अस ख्य नगर हक्त और उपर के ९०० योजन में ज्योतिषी देवों के अस ख्य विमान हैं ।

नीचे के ९०० योजन के बाद अधोलोक का प्रार भ होता है और उपर के ९०० योजन के बाद उर्ध्वलोक का प्रार भ होता है ।पाँचों ज्योतिषी उपर ११० योजन क्षेत्र में है । १६ ही व्य तर नीचे ८०० योजन क्षेत्र में है । १० जृ भक व्य तर पर्वतों पर अर्थात् वैताढ्य एव क चनगिरि पर्वतों पर होने का वर्णन मिलता है ।

(३) ऊर्ध्वलोक– समभूमि से ९०० योजन उपर जाने के बाद से ऊर्ध्व लोक प्रार भ होकर १४ राजु प्रमाण लोक की उपरी सतह तक ऊर्ध्व लोक है । करीब डेढ राजु उपर जाने पर देवलोक का प्रार भ होता है । सर्वप्रथम पहला–दूसरा देवलोक है । दोनों देवलोक का पृथ्वी तल एक ही है और वह पूर्ण च द्राकार है, गोल है । दोनों देवलोकों का विभाजित क्षेत्र अर्धचन्द्राकार होता है । दक्षिणी विभाग में प्रथम देवलोक है और उत्तरी विभाग में दूसरा देवलोक है । इसी तरह वहाँ से कुछ(अस ख्य योजन) उपर जाने पर अर्थात् समभूमि से ढाई राजु उपर जाने पर तीसरा–चौथा देवलोक है जो पहले दूसरे देवलोक के समान ही एक ही पृथ्वीपि ड पर अर्ध चन्द्राकार विभाजन वाले हक्त । उसके बाद क्रमश: अस ख्य-अस ख्य योजन उपर-उपर जाने पर पाँचवाँ, छट्ठा, सातवाँ और आठवाँ देवलोक क्रमश: पूर्ण च द्राकार एक दूसरे की सीध में उपर है । उसके बाद कुछ(अस ख्य योजन)उपर नौवाँ–दसवाँ देवलोक एक सतह पर दोनों अर्ध च द्राकार है । फिर कुछ(अस ख्य योजन) उपर जाने पर ११वाँ १२ वाँ देवलोक भी एक सतह पर दोनों अर्ध च द्राकार क्षेत्र वाले हक्त ।

उसके उपर कुछ(अस ख्य योजन) दूर जाने पर पहली दूसरी तीसरी ग्रैवेयक भूमि एक दूसरे के उपर-उपर क्रमश: नजीक-नजीक पूर्ण च द्राकार स्वत त्र है । यह प्रथम ग्रैवेयक त्रिक है। उससे कुछ दूर उपर जाने पर द्वितीय ग्रैवेयक त्रिक इसी प्रकार है जो चौथी पाँचवीं छट्ठी ग्रैवेयक भूमि रूप है और आपस में नजीक- नजीक कम-कम ऊँचाई पर है। इसी प्रकार कुछ दूर(अस ख्य योजन) उपर जाने पर तीसरी ग्रैवेयक त्रिक है जो सातवीं आठवीं नौवीं ग्रैवेयक भूमि रूप एक दूसरी से उपर उपर एव नजीक नजीक है । इस तरह तीन त्रिक में नव ग्रैवेयक की नव पृथ्विया प्रत्येक पूर्ण चन्द्राकार है ।

उसके बाद उपर (अस ख्य योजन) जाने पर अणुत्तर विमान की भूमि आती है, वह भी पूर्ण चन्द्राकार है। उस एक ही भूमि सतह पर चारों दिशाओं में चार अनुत्तर विमान हक्त और बीच में एक सर्वार्थ सिद्ध नामक पाँचवाँ अनुत्तर विमान है । प्रथम देवलोक से लेकर अनुत्तर विमान तक सर्वत्र वैमानिक देवों का निवास है । अनुत्तर विमान से उपर १२ योजन दूरी पर सिद्धशिला है जो आठ योजन मध्य में जाडी है और चारों किनारे माखी की पाँख से भी पतली है । यह सिद्धशिला ४५ लाख योजन ल बी-चौडी गोलाकार है । इसकी उपरी सतह सीधी सपाट ४५ लाख योजन विस्तार वाली है । इसका नीचे का भाग बीच में आठ योजन तक चौतरफ आठ योजन जाडा है फिर क्रमशः घटते हुए ४५ लाख के अ तिम किनारे सर्वत्र माखी की पाँख के समान पतले हक्त । इस सिद्धशिला से एक योजन उपर लोका त है अर्थात् १४ राजु लोक का किनारा है । वही ऊर्ध्वलोक का भी किनारा है । इस प्रकार यह स पूर्ण ऊर्ध्वलोक भी करीब सात राजु प्रमाण ऊँचाई वाला है ।

देवलोक	समभूमि से ऊँचाई	देवलोक की चौडाई
पहला-दूसरा	१॥ राजु	२॥ राजु
तीसरा-चौथा	२॥ राजु	३॥ राजु
पाँचवा	३॥ राजु	५ राजु
छट्ठा	३ राजु	४॥ राजु
सातवाँ	४ राजु	४ राजु
आठवाँ	४। राजु	३॥ राजु
नौवाँ-दसवाँ	४ राजु	३ राजु
ग्यारहवाँ-बारहवाँ	५। राजु	२। राजु
नव ग्रैवेयक	६ राजु	१ राजु
पाँच अनुत्तर विमान	७ राजु(देशोन)	१ राजु(साधिक)

अलोक- लोक के चौतरफ अलोक है उसमें पृथ्वीपि ड आदि या जीव-पुद्गल आदि कुछ भी नहीं है मात्र आकाशमय अलोक क्षेत्र है।

प्रश्न- लोक-अलोक का विस्तार असत् कल्पना से किस प्रकार समझा जा सकता है ?

उत्तर- लोक विस्तार के लिये असत् कल्पना से इस प्रकार समझाया गया है- चार दिशाकुमारी देवियाँ ज बूद्वीप की जगती पर चारों दिशाओं में खडी होकर बलिपिंड को भूमि पर फेंके । उस समय मेरुपर्वत के शिखर पर खडे ६ देवों में से प्रत्येक देव उन चारों बलिपिंडों को भूमि पर गिरने से पहले ग्रहण कर सके, इतनी तीव्र गति वाले हो ऐसे वे देव मेरु से छहों दिशाओं में चलना प्रार भ करे । उसके बाद एक व्यक्ति की १००-१०० वर्ष की सात पीढी खतम हो जाय तब तक वे चले तो भी लोक का अ त नहीं आता है । फिर भी ज्यादा क्षेत्र पार किया है कम क्षेत्र रहा है । गये हुए से नहीं गया क्षेत्र अस ख्यातवाँ भाग है, नहीं गये से गया क्षेत्र अस ख्यगुणा है । इस उपमा से लोक का विस्तार अस ख्य योजन समझना ।

अलोक विस्तार- उपर के दृष्टा त के समान ही इसे भी समझना। विशेष यह है इसमें आठ देवियाँ आठ दिशा से बलिपि ड फेंके । उसे ग्रहण कर सके वैसे १० देव दस दिशा में चलने का कहा गया है। इसमें गये क्षेत्र से नहीं गया क्षेत्र अन तगुणा बाकी रहता है ।

निबंध-१३०

दसवाँ, ग्यारहवाँ पौषध : शंख-पुष्कली

श्रावस्ती नगरी में श ख प्रमुख अनेक श्रावक रहते थे । जो जीवाजीव आदि तत्त्वों के जाणकार थे इत्यादि श्रावक के आगम वर्णित गुणों से स पन्न, १२ व्रतधारी, महीने में ६ प्रतिपूर्ण पौषध करने वाले थे । एक बार भगवान महावीर स्वामी उस नगरी में पधारे । श ख आदि श्रावक मिलकर पैदल ही भगवान की सेवा में पहुँचे । उपदेश सुना । घर लौटते समय श ख श्रावक ने प्रस्ताव रखा कि आज हम खाते-पीते सामुहिक पक्खी पौषध करें । तब पुष्कली आदि अन्य श्रावकों ने उनका कथन स्वीकार किया । सभी अपने अपने घर की दिशाओं में चले । स्थान एव भोजन तैयार करवाने की जिम्मेदारी का निर्णय भी हुआ ही होगा । इसका कथन मूलपाठ में

नहीं है । घर जाते समय श ख श्रावक के विचार बदल गये । उन्होंने उत्पला भार्या से पूछकर उपवास युक्त पौषध स्वय की पौषधशाला में किया, जो उनके घर से स लग्न थी ।

अन्य श्रावकों ने एक स्थान पर (स भवत: पुष्कली की पौषध शाला में) एकत्रित होकर पौषध व्रत धारण किया। भोजन का समय होने तक श ख श्रावक के नहीं आने पर पुष्कली श्रावक पौषध में यतना पूर्वक बुलाने गये । श खजी के घर पहुँचने पर उत्पला श्राविका के बताने से वे पौषधशाला में गये। ईर्यावहि का प्रतिक्रमण करके विनय सहित श खजी से चलने का निवेदन किया । श खजी ने स्पष्टता करी की मैंने उपवास युक्त पौषध कर लिया है अत: आप लोग भले ही खाता-पीता पक्खी पौषध का परिपालन करो । पुष्कलीजी वहाँ से निकलकर अपने स्थान में आये, अन्य श्रावकों को बताया कि श खजी नहीं आयेंगे क्यों कि उन्होंने उपवास युक्त पौषध कर लिया है । तब सभी ने आहार करके दिन रात पौषध से आत्मा को भावित किया । दूसरे दिन पुष्कली आदि सभी श्रावक स्नानादि आवश्यक क्रिया से निवृत्त होकर एक जगह इकट्ठे होकर भगवान के दर्शन करने गये । श खजी पौषध का पारना किये बिना ही अकेले भगवान की सेवा में पहुँच गये थे । पर्षदा इकट्ठी हुई । प्रवचन हुआ । प्रवचन के बाद कितने ही श्रावक श खजी के पास पहुँचकर उलाहना देने लगे, खीजने लगे । अवसर देखकर भगवान ने स्वत: ही श्रावको को स बोधन कर कहा कि- हे आर्यों! तुम श ख श्रमणोपासक की इस तरह हीलना खि सना नहीं करो । श ख श्रावक प्रियधर्मी दृढधर्मी है और वर्धमान परिणामों के कारण ऐसा किया है और श्रेष्ठ धर्मजागरण से पौषध का आराधन किया है अर्थात् कोई भी धोखा देने के परिणाम से ऐसा नहीं किया है । प्रभु के स्पष्टीकरण करने पर श्रावक शा त हुए । प्रभु के साथ प्रश्न-चर्चा हुई । गौतम स्वामी ने जागरणा के विषय में पूछा । श खजी ने चारों कषाय का फल पूछा । कषाय का कटुविपाक(अशुभ फल) सुनकर श्रावकों ने श खजी से क्षमायाचना की । सभी श्रावक अपने-अपने घर गये। गौतम स्वामी ने श खजी का भविष्य पूछा । भगवान ने कहा- श खजी दीक्षा नहीं लेंगे कि तु अनेक वर्षों तक श्रावक व्रतों

का आराधन कर प्रथम देवलोक में उत्पन्न होंगे । फिर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर यावत् स यम-तप का आराधन कर, स पूर्ण कर्मों का क्षय करके मुक्त होंगे । यह स पूर्ण वर्णन यहाँ प्रथम उद्देशक में हक्त ।

प्रश्न- श ख आदि श्रावकों के उक्त वर्णन से पौषध स ब धी क्या फलितार्थ निकलता है?

उत्तर- पुष्कली जी जब श ख जी को बुलाने उनकी पौषधशाला में पहुँचे तब उन्होंने पहले ईरियावहि का कायोत्सर्ग किया, फिर वार्ता की । इससे उनका पौषध में जाना स्पष्ट होता है । फिर पुष्कली जी के लौट आने के बाद सभी श्रावकों ने आहार किया ।

(१) श्रावक के ११ वें व्रत में उपवास बिना भी पौषध किया जा सकता है। (२) ऐसा पौषध भी प्रतिपूर्ण पौषध कहला सकता है (सावद्य त्याग की अपेक्षा)। (३) पौषध पक्चक्खाण के बाद आहार किया जा सकता है । (४) पौषध पच्चक्खाण के बाद आवश्यक होने पर यतना पूर्वक गमनागमन किया जा सकता है । उसके लिये पहले से मर्यादा करने की आवश्यकता नहीं होती है । (५) व्याख्यान सुनने के बाद अपने-अपने घर जाकर आवश्यक निर्देश कर फिर ए क जगह एकत्रित होने में एक प्रहर से अधिक समय भी लग सकता है ।(६) खाते-पीते सामुहिक पौषध की वार्ता न होती तो वे श्रावक उस दिन पक्खी होने के कारण घर जाकर पौषध तो करते ही किन्तु कैसा पौषध करते और कब करते यह निर्णय उस समय तक नहीं लिया गया होगा । अत: घर जाकर कोई खाते-पीते पौषध भी करते, कोई उपवास युक्त भी पौषध करते एव कोई घर जाकर शीघ्र पौषध करते और कोई कुछ देर से भी करते । अत: प्रतिपूर्ण पौषध व्रतधारी उन श्रावकों के भी आठ प्रहर के समय का या चौवीहार त्याग का अर्थात् आहार नहीं करने का भी आग्रह नहीं था ।

इन सब फलितार्थों में भगवती सूत्र, ६ प्रतिपूर्ण पौषध व्रतधारी भगवान के शासन के प्रमुख श्रावक एव भगवान महावीर स्वामी साक्षी रूप एव प्रमाण रूप है । अत: पर पराओं के आग्रह में किसी के द्वारा इन सूत्र फलितार्थों को इन्कार नहीं करना चाहिये ।

प्रश्न– पौषध की विधि के लिये यहाँ क्या फलित होता है ?

उत्तर– पौषध लेने के पहले अपने सोने, बैठने, रहने के स्थान का प्रतिलेखन प्रमार्जन किया जाता है । शारीरिक लघुश का, दीर्घश का आदि निवारण योग्य उच्चार–पासवण भूमि का प्रतिलेखन अर्थात् निरीक्षण–प्रेक्षण किया जाता है । अपने बैठने–सोने और पौषध में उपयोग में लेने के उपकरणों का आसन–शयन का प्रतिलेखन किया जाता है । ऐसा श खजी ने किया था । पौषध में कोई भी आवश्यक गमनागमन किया जाय तो उसका ईर्यावहि प्रतिक्रमण–कायोत्सर्ग किया जाता है । ऐसा पुष्कलीजी ने श खजी की पौषध शाला में पहुँचने पर किया था । उसके बाद ही प्रास गिक बात की थी ।

प्रश्न–श्रावक–श्राविका के परस्पर व दन–नमस्कार किस प्रकार होता है?

उत्तर– पुष्कलीजी जब श ख जी के घर गये तब श ख जी की उत्पला भार्या सात–आठ कदम सामने गई और व दन नमस्कार कर आसन निम त्रित करके फिर आने का कारण पूछा । यहाँ पाठ में हाथ जोडकर मस्तक झुकाने की प्रवृत्ति के लिये 'व दइ–णम सइ' ऐसा प्रयोग है । पुष्कली जी ने श ख जी की पौषधशाला में पहुँचकर ईर्यावहि प्रतिक्रमण करके फिर श ख जी को व दन नमस्कार करके अपनी बात शुरू की । इस प्रकार इस वर्णन से श्रावक–श्राविकाओं का परस्पर हाथ जोड कर मस्तक झुकाने रूप व दन नमस्कार करने का स्पष्ट होता है ।

प्रश्न– त्याग भावनाओं का महत्त्व अधिक होता है यह यहाँ से कैसे फलित होता है ?

उत्तर– सामान्य लौकिक बुद्धि से देखा जाय तो श ख जी ने ही खाते-पीते पौषध का प्रस्ताव रखा था तदनुसार उन्हें भी करना चाहिये था । कि तु उन्होंने त्याग–तप की वृद्धि के परिवर्तित भावों को गौण नहीं किया, उनका समादर किया, उसे ही कार्यान्वित किया । क्यों कि खाते-पीते पौषध की अपेक्षा उपवास युक्त पौषध का महत्त्व त्याग की अपेक्षा विशेष है ही, इसमें कोई भी श का नहीं है । फिर भले श्रावकों का (अव्यवहारिकता के लिये) उपाल भ सुनना पडे उसे म जूर

किया। पुष्कली जी आये तो उन्हें विवेक पूर्वक अपना व्रत कह दिया। पुष्कली जी भी उत्तर सुनकर विवेक के साथ चले गये । त्याग वृद्धि के पीछे हुई अव्यवहारिकता की दृष्टि के मानस से कुछ श्रावकों ने उपाल भ दिया, रोष भी प्रगट किया । कि तु भगवान ने श ख जी की धर्मजागरणा त्याग तप का महत्त्व दर्शाकर श्रावकों को शा त रहने का फरमाया । इससे भी स्पष्ट है कि व्यवहारिकता का महत्त्व भले ही अपनी जगह पर उचित्त है तथापि त्याग–तप, आत्म विकास की वृद्धि जहाँ हो तो व्यवहारिकता को गौण किया जाना आगम दृष्टि से अनुचित नहीं माना गया है ।

प्रश्न– खाते–पीते पौषध करने वाले श्रावकों ने अपने व्रत नियम के छ प्रतिपूर्ण पौषध में इसे नहीं गिन कर अलग किया हो, ऐसा मान सकते हैं ?

उत्तर– आगमों में श्रावकों के ६ पौषध के नियम की तिथियों का भी स्पष्टीकरण है कि– एक महीने की दो अष्टमी, दो चतुर्दशी तथा अमावश, पूनम इन छ दिनों में वे प्रतिपूर्ण पौषध करने वाले थे । इन श्रावकों ने जो पौषध किया था वह पक्खी का दिन था और पक्खी चौदस या अमावस–पूनम को ही होती है । इसलिये पक्खी का दिन उन श्रावकों के ६ पौषध का ही दिन था ।

भगवान ने दूसरे दिन श्रावकों को श ख जी पर आक्रोश करने का मना किया कि तु यह नहीं कहा कि तुमने खाते-पीते पक्खी पौषध किया यह अच्छा नहीं किया । गौतम स्वामी ने भी इस विषय की कोई चर्चा नहीं की । और आगम में उपलब्ध इस घटना में भी उन श्रावकों ने पौषध व्रत गलत किया था या अपनी ६ पौषध की प्रतिज्ञा में आगार का सेवन किया था, ऐसा कुछ कथन नहीं किया गया ।

प्रश्न– उन श्रावकों ने पौषध का पच्चक्खाण खाने के बाद लिया या पहले लिया ?

उत्तर– पुष्कली श्रावक श ख श्रावक को बुलाने गये तब उन्होंने पौषध पच्चक्खाण ले लिये थे । तभी उन्होंने श ख जी की पौषधशाला में पहले ईर्यावहि प्रतिक्रमण किया था, फिर बात की थी। सामान्यरूप

अत्र सूत्रे अनेकान्त-अनेकधर्मात्मकवस्तुनः सिद्धिः कृता । अनेकान्तवादस्य सिद्धिः कृता । अनेकान्तवादस्य सिद्धिः कृता ।

आगाढ अनागाढ कारणे अन्य गच्छे गमनागमन विधि

सूत्र-१३५

१. ग्लान २. बाल ३. वृद्ध ४. तपस्वी ५. शैक्ष ६. क्षुल्लक ७. क्षुल्लिका ८. स्थविर ९. प्रवर्तक १०. गणावच्छेदक ११. आचार्य १२. उपाध्याय १३. स्थविर भगवंत के लिए १४. गणी के लिए १५. गणावच्छेदक के लिए १६. आचार्य उपाध्याय के लिए १७. आचार्य उपाध्याय गणी गणावच्छेदक के लिए १८. आचार्य उपाध्याय गणी गणावच्छेदक स्थविर के लिए १९. आचार्य उपाध्याय गणी गणावच्छेदक स्थविर प्रवर्तक के लिए २०. आचार्य उपाध्याय गणी गणावच्छेदक स्थविर प्रवर्तक गणधर के लिए २१. आचार्य उपाध्याय गणी गणावच्छेदक स्थविर प्रवर्तक गणधर गणावच्छेदक के लिए २२. आचार्य उपाध्याय गणी गणावच्छेदक स्थविर प्रवर्तक गणधर गणावच्छेदक के लिए २३. आचार्य उपाध्याय गणी गणावच्छेदक स्थविर प्रवर्तक गणधर गणावच्छेदक के लिए

(४) **आईक्क दारुहत्थिआ लिक्ख अस्स**– अहिंसा या किसी के भी साथ

लिखकर कोई चीज़ अस्वीकार करना

प्रश्न–६३५

अर्थात क्रोधपूर्वक ।

उत्तर–६३५

इस तरह का तोड़ा । इस तरह का ही हैरत भरी/घबराई हुई स्थिति का । भरी–पूरी/सच में इस तरह का होना या हैरत भरी स्थिति का । (५) अस्सि समये (अस्सि–अह्मि) इस समय का । यह । अब । (६) अस्सि लोए इस लोक में । (७) अस्सि लोए पडिबद्धे इस लोक में आसक्त । (८) अस्सि पवयणे निस्संकिए (शंका–अह्मि) ३०X९३=६६९०+पाँच अंक आधार वाले ३०० को मिलाने पर ३९९० । ३९९०+३०=६९३० । (९) अस्सि समये इस (शंका–अह्मि) ३०X९३=६६९०+पाँच अंक आधार वाले ३०० को मिलाने पर ३९९० । ३९९०+३०=६९३० । (९) अस्सि समये इस (शंका–अह्मि) ३०X९३=६६९०+पाँच अंक आधार वाले ३०० को मिलाने पर ३९९० । ३९९०+३०=६९३० । (९) अस्सि समये इस

लिखकर ही किसी को कोई चीज़ देना

प्रश्न–६३४

क्या कोई ऐसा आगम है जिसमें लिखकर अस्वीकार करने का निषेध किया गया हो ?

उत्तर–६३४

हाँ । ऐसा आगम है– **आईक्क दारुहत्थिआ लिक्ख अस्स** । ‘आईक्क’ का संस्कृत रूप ‘आदृक्ष’ होता है । ‘आदृक्ष’ का अर्थ है– अनादर, अवज्ञा, अस्वीकार, अपमान, तिरस्कार, अवहेलना, अपेक्षा, उपेक्षा, अनिच्छा, अरुचि, अनिष्ट, अप्रिय, अमनोज्ञ, अकांत, अकमनीय, अदर्शनीय, अरमणीय, अनभिलषित, अनभिप्रेत, अनभिमत, अनादृत, अनाकांक्षित, अनपेक्षित, अनवलोकित, अनुपलब्ध, अनुपादेय, अनाश्रित, अनाश्रयणीय, अनाश्रयणीय, अनाश्रयणीय

आवश्यक उस १४ वर्ष आयंबिल हुई' वह तीसरे हुई। उसके बाद ।उसे आवश्यक उस १४ वर्ष आयंबिल हुई' वह तीसरे हुई। उसके बाद ।उसे

व्याख्या :- प्रस्तुत आगम निर्ग्रन्थ आचार-६ नियमक' आगम निर्ग्रन्थ आचार-६ नियमक' आगम

श्रमणोपासिका पद्मावती का संक्षिप्त परिचय

निर्ग्रन्थ-६३८

अवंती जनपद ।

उस समय। तत्कालीन श्रमणोपासक श्रेष्ठ इक्ष्वाकुराज की पत्नी थी। वह अत्यन्त सुन्दर थी। उसका रूप अत्यन्त आकर्षक था। वह जीव-अजीव आदि तत्त्वों की ज्ञाता थी। वह श्रमणोपासिका थी। वह जीव-अजीव आदि तत्त्वों की ज्ञाता थी। वह श्रमणोपासिका थी।

अथवः आगम काल की दृष्टि से भी वह एक महान् श्रमणोपासिका थी। वह अपने धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठावान थी। वह अपने धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठावान थी।

आवश्यक चूर्णि में उल्लेख है कि वह १३०० वर्ष की आयु भोगकर देवलोक में गई। वह १३०० वर्ष की आयु भोगकर देवलोक में गई।

जिस प्रकार पद्मावती का जीवन श्रमणोपासक की उपासना में लीन था, उसी प्रकार वह अपने पति के प्रति भी पूर्ण समर्पित थी। वह अपने पति के प्रति भी पूर्ण समर्पित थी।

ਵੀ ਮਿਲਕ ਵੀ ਮਿਲਕ ਸ ਜਿਵ ਵੀ ਮਿਲਕ ਵੀ ਹੈ ਤਾਕਿਸ ਕਰ ਤਾਕਿਸ ਪਰਾ ਹੈ ਕਿਸ ਵੀ ਮਿਲਕ ਵੀ ਮਿਲਕ ਵੀ ਮਿਲਕ

ऊपर सन्निरूपित है। **३६ ॥ ३६ ॥ ३६ ॥** ३६ ३६ ३६

ज्ञाता सूत्र

(उन्नीसवां एवं अंतिम अध्ययन)

सारांश :- इस में इन्द्रियों के वशीभूत होकर मनुष्य किस प्रकार अपने जीवन को नष्ट कर देता है, इसका सुन्दर उदाहरण है। इस में बताया गया है कि जिनपालित और जिनरक्षित दोनों भाई समुद्र यात्रा करते हुए रत्नद्वीप में पहुँचते हैं। वहाँ पर उन्हें देवी के द्वारा अनेक प्रकार के भोग भोगने के लिए आमंत्रित किया जाता है। जिनपालित और जिनरक्षित दोनों भाई देवी के प्रलोभन में न आकर अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते हैं। वे सकुशल अपने नगर में पहुँच जाते हैं। जिनरक्षित भोगों में आसक्त होकर वहीं रह जाता है और अपने जीवन को नष्ट कर देता है।

विशेष :- इस में यह बताया गया है कि जो साधक इन्द्रियों के विषय भोगों में आसक्त नहीं होते हैं, वे संसार समुद्र को पार कर जाते हैं और जो साधक इन्द्रियों के विषय भोगों में आसक्त हो जाते हैं, वे संसार समुद्र में ही डूब जाते हैं।

ई.सन् २०१२ में प्रथमावृत्ति, वी.नि.सं. २५३८

मुद्रक :
जयपुर

निबंध-१४५

श्रावक के प्रत्याख्यान में करण-योग

भगवती सूत्र शतक-८, उद्देशक-५ में श्रावक के अणुव्रत के लिए ४९ भंग दिये गये हैं अर्थात् श्रावक उन व्रतों को इतने प्रकार के करण योगों से धारण कर सकता है । इसका मतलब यह नहीं है की हर कोई श्रावक किसी भी करणयोग के भंग से व्रत धारण करले। परंतु सूत्र पाठों में (उपासक दशा आदि में) स्पष्ट कहे गये करण योग से सामान्य रूप से श्रावक उन व्रतों के प्रत्याख्यान कर सकता है। विशेष करण योग स्वतंत्र बढाने या घटाने के लिये श्रावक की परिस्थिति एवं विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता होती है ।

भगवती सूत्र शतक-८ उद्दे. ५ में यह भी वर्णन है कि सामायिक में बैठे श्रावक के कोई उपकरण चोर चुरा लेवे या उसकी पत्नी का कोई अपहरण कर लेवे तो सामायिक पूर्ण करने के बाद वह श्रावक उन पदार्थों की एवं अपनी पत्नी की गवेषणा करता हुआ अपनी चीजों की गवेषणा करता हैं क्यो कि ऐसे श्रावक के सामायिक के प्रत्याख्यान अमुक सीमा एवं करण योग के होते हैं। जिसमें वह उन पदार्थों का पूर्ण त्यागी तीन करण तीन योग से नहीं होता है।

इस भगवती सूत्र के वर्णन अनुसार यह स्पष्ट होता है कि सामान्य घर-परिवारी एवं व्यापारी श्रावक सामायिक में तीन करण तीन योग रूप भंग से त्यागी नहीं होता है । किन्तु जो आनंद आदि श्रावकों की तरह निवृत्त साधनावाला हो, पुत्र को गृह संसार भार संभलाकर निवृत्त हो गया हो अर्थात् जीवनभर के लिये परिवार और परिग्रह से पूर्ण निवृत्त साधना में पहुँच जाय; वह इच्छित करण योग से यावत् उत्कृष्ट तीन करण तीन योग से भी कोई प्रत्याख्यान या संथारा कर सकता है । किंतु घर परिवार में रचा पचा विशिष्ट ज्ञानी साधक भी आखिर सामायिक पौषध के समय के पूर्ण होने पर समस्त परिवार परिग्रह का अधिकारी रहता ही है। उसके मालिकी की परंपरा पूर्ण व्यवच्छिन होना सामायिक आदि में भी शास्त्रकार ने नहीं स्वीकारी है। अत: श्रावक के अणुव्रत धारण में करण योग के ४९ भंग होने पर भी हर कोई घर-परिवार से पूर्ण निवृत्ति लिये बिना तीन करण तीन योग से सामायिक या पौषध आदि नहीं कर सकता है ।

आवश्यक सूत्र की १३०० वर्ष से अधिक प्राचीन व्याख्या में छट्ठे आवश्यक के बाद चूलिका में श्रावक के बारह व्रत का मूलपाठ और विवेचन है उसमें उसके तीन करण तीन योग के प्रत्याख्यान की सामायिक आदि के लिए प्रश्न उठाकर निषेध किया है । निवृत्ति और संलेखना के पहले कोई श्रावक तीन करण तीन योग से प्रत्याख्यान नहीं कर सकता है, ऐसा वहाँ स्पष्ट कथन है ।

अत: आगम पाठों के आधार से निर्णय करने में भी विवेक रखना बहुत जरूरी है । जैन आगमों का बहुमुखी अध्ययन एवं शोधपूर्वक चिंतन मनन होना भी परम आवश्यक होता है। इस लिए दो करण तीन योग के सामायिक पौषध के घोष पाठों के अनुसार ही प्रत्याख्यान लेकर पूर्ण वैराग्य भावों से अधिकतम करण योगों की साधना करने पर वैसी ही निर्जरा का फल तो साधक को अवश्य हो ही जाता है । अर्थात् जो जितना ज्यादा विवेक रखेगा उसे उतना ही फल प्राप्त होगा। अत: प्रचलित करण योगों में सामान्य रूप से किसी को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए ।

निबंध-१४६

संथारा-दीक्षा तारीख का रहस्य

आगम निबंधमाला भाग-१ में आगम मनीषी श्री का स्वास्थ्य सुधार और प्रायश्चित्तकरण का स्पष्टीकरण एवं संथारा तारीख कवर पृष्ठ-४ पर पढकर मुंबई (कल्याण)से **आचार्य श्री विजयपूर्णचन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. के शिष्य श्री मुक्तिश्रमण विजयजी म.सा.**की पत्र द्वारा जिज्ञासा आने पर उसका समाधान प्रेषित किया गया, उस जिज्ञासा एवं समाधान का विवरण इस प्रकार है-

जिज्ञासा :- जैनागम नवनीत, आगम निबंधमाला भाग-१ पुस्तक मिली है । परिचय वृत्तमांथी बे बात वांचतां आश्चर्य थयुं। निवृत्ति संलेखना तारीख अने संथारा तारीख । आ तारीख नक्की करवा पाछलनुं रहस्य शुं ? ते जणाववामां वांधो न होय तो जिज्ञासा पूर्ण करशो जी ।

समाधान :- पू. मुनिराज श्री मुक्तिश्रमणविजय, सादर वंदन!

मुझे २८ वर्ष की वय से पता है कि मेरी उम्र ७० वर्ष से उपर उच्चतम ७८ वर्ष है न्यून्तम ७२ वर्ष है । मेरे जीवन में ए कल विहार ही फिक्स है । अत: ४० वर्ष की उम्र एवं १९ वर्ष की दीक्षा पर्याय से अकेला रहना प्रारंभ किया था ।

अभी भी अकेला किराये के मकान में रहता हूँ अपना कार्य कपडे धोना, खाने की व्यवस्था, मकान सफाई आदि स्वयं करता हूँ । मेरी कुंडली में, गणित ७२ वर्ष के आगे नहीं चलती है, ऐसा लिखा है ।

आचार्य पद्मसागरजी म.सा. के ज्योतिष में प्रकांड एक संत ने मुझे आज से २८ वर्ष पहले ५ मिनिट के मुलाकात में कहा था कि ७० वर्ष के आसपास आपकी एक्सीडेन्टली मृत्यु होगी अर्थात् मृत्यु के समय ज्यादा सेवा किसी की नहीं लेनी पडेगी । और अेकलविहार ही आपके लिए जीवनभर प्रशस्त रहेगा, आगम कार्य पूर्ण करने के बीच में ही मैं किसी तांत्रिक प्रयोग में फँसकर अशाता कर्म का भुगतान दो वर्ष में कर चुका हूँ अब मैं स्वस्थ, पेट की वेदना से रहित, हिम्मतयुक्त, अंतर चेतना से जागृत बना । ६८वाँ वर्ष प्रारंभ हो गया तब से संलेखना संथारा का अनुप्रेक्षण अपने श्रुत ज्ञान से करके इधर-उधर बात रखने लगा। कईयों को अच्छा लगा । एक दो निकट के श्रध्धालु को पसंद नहीं आया । समझाने पर भी उनका प्रतिपक्ष कथन चालू रहा । फिर मैं विचार करके एक दिन यहीं राजकोट में २५-३० वर्ष से ज्योतिष कार्यालय चलाने वाले के पास पहुँच गया। उसे मैने अपना परिचय देकर कहा कि मैं परीक्षार्थी तरीके आया हूँ। मुझे आयुष्य देखने का अच्छा अनुभव है ऐसा कहकर उसका हाथ मांगा और देखकर कहा आपकी उम्र ८४ वर्ष आसपास है, वह खुश हो गया ।अब आप मेरा हाथ देखिए मैं ७० वर्ष की उम्र

में समाधि लेने वाला हूँ । उसने हाथ देखकर बता दिया कि आपका जीवन एक अलौकिक महान पुरु ष का जीवन है और उम्र आपकी ७४ वर्ष के करीब है, आप क्रमिक सात्विक जीवन से चलें तो । अन्यथा २-४ वर्ष उम्र कम भी हो सकती है । आपका प्रावधान योग्य है किन्तु मेरी अपनी सज्जनता की सलाह यह है कि मानव जीवन से आप सत्कार्य करते हैं, संत-संतियों को इस उम्र में बिना वेतन के पढाने की सेवा देते हैं, तो मानव जीवन को टूंकाना नहीं चाहिये । इस जीवन से समाज सेवा जितनी हो सके उतनी करनी चाहिये।

मैने पूछा- फिर भी मेरी भावना अपने क्षयोपशमिक ज्ञान के अनुसार ऐसी निश्चित की है इसमें कुछ गलत तो नहीं है ? तो कहा आप तो खुद एक अलौकिक ज्ञानी पुरुष हो आपके निर्णय को गलत कहने जैसा कुछ भी नहीं है । मैं जय जिनेन्द्र, धन्यवाद कह कर उठ गया। उसने कोई फीस भी नहीं मांगी । बाहर अनेक लोग बैठे थे । मैं घर आ गया पुस्तक में इस विचारों को छपाने का निर्णय कर लिया बोम्बे के राजस्थानी एक श्रध्धालु श्रावक को फोन से फिर समझाया उसको नहीं जँचने पर आखीर वह प्रत्यक्ष अहमदाबाद आ कर मिला। घंटा भर चर्चा हुई, तब उसके समज में आ गया । श्रध्धा से मेरी हिम्मत की प्रशस्ति करी और खाता नंबर लिया मुंबई जाकर ११०००/- खाते मे डाल दिया।

आगम ज्ञान से सोपक्रमी आयुष्य, १/३ भाग उम्र बचने पर टूट सकता है । आगम आयुष्य गणित से ७० वर्ष की हमारी उम्र में १४ महीने बढने के और ९ महिने गर्भ के जोडने पर २३ महिने अर्थात् करीब २ वर्ष होते हे अत: ७०+२=७२ वर्ष मेरी कुंडली में लिखा वाला हो जाता हैं ।

उपरोक्त सभी अपेक्षा अनुभवों से और अकेले का जीवन

होने से समय के पहले सावधानी के साथ स्वस्थ हालत में संथारा प्राप्त करना श्रेष्ठ समझ में आता है । फिर भी निश्चित करी अवधि के पूर्व भी बीच में कभी कोई उपक्रम का आभास लगे तो कभी भी सावधान सतर्क रहने का अभ्यास कायम होने से संथारा किया जा सकता है निश्चित तिथी तो अंतिम लेटेष्ट आवश्यकीय तिथि समझना चाहिये ।

मुझे मेरे दीक्षागुरु-दादागुरुने दिवंगत होने के १२ दिन बाद विहार में छोटे से गांव में रात्रि ४ बजे स्वप्न में दर्शन (साधुवेश में) दिये । ५-१० मिनिट वार्ता प्रश्नोतर के साथ मेरे से शारीरिक सेवा भी ली थी और कहा था कि तुम जिन नाम कर्म बांधोगे । उम्र का मेरे द्वारा पूछने पर इसारे से जो दिखाया था उसका मतलब अनुभवियो ने बताया था वह भी ७० वर्ष के उपर ही जाता था । फिर नींद खुल जाने से मैंने स्वाध्याय आदि में समय पूर्ण किया किन्तु सोया नहीं।

मैंने मेरे जीवन में उत्कृष्ट रसायण से सदा श्रुत ज्ञान की अधिकाधिक आराधना विभिन्न तरह से करी है । अभी मुझे यह भी आभास श्रुतज्ञान से होने लगा कि मैं प्रथम देवलोक का एक भव करके महाविदेह की अन्यतर विजय में गुरु कथित जिन रूप से जन्म धारण कर आत्म कल्याण करुँगा ।

इसीलिए मैंने १-२ महिने के संथारे की हिम्मत से निर्णय किया है । जीवन में भी सदा तपस्या का अभ्यास संथारे का मनोरथ नित्य रखने से क्रमिक वार्षिक-मासिक तप करता रहा हूं। रखा ही है । अनेक पर्युषण एक साथ अठाई (८ उपवास) करके सफल किए हैं और २०१४ के पर्युषण मैं भी अठाई करने का निर्णय रखा है। यह सब पत्र द्वारा प्राप्त आपकी जिज्ञासा को संतुष्ठ करने के लिए मैने आपका पत्र आया उसी दिन रात्रि १० से ११ बजे में उत्तर लिखा है । प्रथम बार ही मैने कई आतंरिक

बातें व्यक्त की है। आशा है आपको संतोष एवं समाधान प्राप्त होगा, प्रत्युत्तर की प्रतिक्षा में---

समाधान की पहुँच : तमारो पत्र समयसर मली गयो हतो । जीवन ना प्रत्येक पडाव पर तमें जे सावधानी सावचेतीपूर्वक आगल वधी रह्या छो ते एक आदर्श कही शकाय छे । शरीरनुं भेदज्ञान थया पछी आ सहज शक्य बने छे । तमे पहेलीवार आ रीते विस्तृतमां बधी विगत जणावी तेथी खूब आनंद थयो । मारा मननी उत्कंठा-जिज्ञासा संतोषाई गई । संथारा दीक्षा समये आवी पडनारी मानसिक विडंबनाओथी समाधि क्यांय पण खंडित न बने ते ज खूब महत्वनुं छे। तमारु मनोबल दृढ ज नहि सुदृढ छे, एटले वांधो नहि आवे। आगम विषयक अढलक साहित्य तमारी कलमें लखायुं छे अे आनंदनी वात छे... । तमारी शुभ भावनानी अनुमोदना ।

द: मुक्तिश्रमण विजय